जिनवाणी

मंगल-मूल, धर्म की जननी, शाश्वत सुखदा, कल्याणी ।
द्रोह, मोह, छल, मान-मर्दिनी, फिर प्रगटी यह 'जिनवाणी' ।।

आचार्य श्री हस्ती
व्यक्तित्व एवं कृतित्व
विशेषांक

☐

प्रधान सम्पादक

डॉ. नरेन्द्र भानावत

☐

सम्पादक

डॉ. श्रीमती शान्ता भानावत

☐

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

बापू बाजार, जयपुर—३०२ ००३

जिनवाणी

आचार्य श्री हस्ती व्यक्तित्व एवं कृतित्व विशेषांक

मई-जून-जुलाई, १९९२

वीर निर्वाण सं० २५१८

वैशाख–ज्येष्ठ, २०४९

वर्ष : ४९ • अंक : ५-६-७

संस्थापक :

श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़

प्रकाशक :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

बापू बाजार, दुकान नं. १८२-१८३ के ऊपर

जयपुर–३०२००३ (राजस्थान)

फोन : ५६५९९७

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र :

सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग, तिलक नगर

जयपुर–३०२००४ (राजस्थान)

फोन : ४७४४४

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त

रजिस्ट्रेशन नं० ३६५३/५७

स्तम्भ सदस्यता : २,००० रु०

संरक्षक सदस्यता : १,००० रु०

आजीवन सदस्यता : देश में ३५० रु०

आजीवन सदस्यता : विदेश में १०० डालर

त्रिवर्षीय सदस्यता : ८० रु०

वार्षिक सदस्यता : ३० रु०

इस विशेषांक का मूल्य २०) रु०

मुद्रक :

फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स

जयपुर–३०२००३

नोट : यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों में सम्पादक या मण्डल की सहमति हो।

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

कृतित्व-मूल्यांकन ८१-२४८

तृतीय खण्ड

○ ○ ○

अपनी बात :

सिद्ध पुरुष को श्रद्धांजलि

आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा० भारतीय सन्त-परम्परा के विशिष्ट ज्ञानी-ध्यानी साधक, संयम साधना के कल्पवृक्ष, उत्कृष्ट क्रियाराधक, सांस्कृतिक चेतना के इतिहासकार, संवेदनशील साहित्यकार और महान् प्रज्ञापुरुष थे। एक वर्ष पूर्व प्रथम वैशाख शुक्ला अष्टमी, रविवार को निमाज (पाली-राजस्थान) में ८१ वर्ष की आयु में तीन दिन की तपस्या (तेला) सहित तेरह दिवसीय संथारापूर्वक उनका समाधिमरण हुआ। संथारा कर आचार्य श्री ने मृत्यु को मंगल महोत्सव में परिणत कर दिया।

आचार्य श्री हस्ती श्रमण भगवान महावीर की शासन-परम्परा के ८१वें पट्टधर आचार्य थे। स्थानकवासी परम्परा के महान् क्रियोद्धारक आचार्य श्री रतनचंद जी म० सा० के नाम से प्रसिद्ध रत्नवंश के वे सप्तम आचार्य थे। उनके लिखित गोपनीय दस्तावेज के आधार पर चतुर्विध संघ द्वारा पं० रत्न श्री हीरा मुनिजी अष्टम आचार्य और पं० रत्न श्री मान मुनिजी उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किये गये। सम्प्रदाय विशेष के आचार्य होते हुए भी वे सम्प्रदायातीत थे। १० वर्ष की लघु अवस्था में दीक्षित होकर, २० वर्ष की अवस्था में आचार्य बनकर, ६१ वर्ष तक आचार्य पद का सफलतापूर्वक निर्वाह करने वाले वर्तमान युग के वे एकमात्र आचार्य थे।

आचार्य हस्ती एक व्यक्ति नहीं, एक संस्था नहीं, मात्र आचार्य नहीं वरन् सम्पूर्ण युग थे। युग की विषम, भयावह, रूढ़िबद्ध अन्ध मान्यताओं से ग्रस्त परिस्थितियों को उन्होंने बड़ी बारीकी से देखा, समझा और इस संकल्प के साथ वे दीक्षित हुए कि मैं जीवन को दुःखरहित, समाज को रूढ़िमुक्त और विश्व को समता व शांतिमय बनाने में अपने पुरुषार्थ-पराक्रम को प्रकट करूँगा। और सचमुच आचार्य श्री ने विविध उपसर्ग और परीषह सहन करते हुए जीवनपर्यन्त यही किया।

आचार्य श्री ने अनुभव किया कि लोगों में पूजा, उपासना, धर्म-क्रियाओं/अनुष्ठानों के प्रति रुचि, आकर्षण और उत्साह तो है पर तदनुरूप आचरण और जीवन में रूपान्तरण नहीं परिलक्षित होता। इसका कारण है धर्म-क्रिया को रूढ़ि रूप में पालना, फैशन के रूप में उसे निभाना। धर्म पोशाक नहीं, प्राण बने, वह मतमतान्तरों और सम्प्रदायवाद से नहीं वरन् मानवीय सद्वृत्तियों और जीवन-मूल्यों से जुड़े, अतीत और अनागत का दर्शन न बनकर वर्तमान

सुधार का साधन बने, इस दृष्टि से आचार्य श्री ने सम्यग्ज्ञान—सही जीवन-दृष्टि पर बल दिया और आज से ५० वर्ष पूर्व **"सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल"** की स्थापना का उपदेश दिया। मण्डल द्वारा न केवल जीवन-उत्थानकारी साहित्य प्रकाशित होता है वरन् नियमित रूप से मासिक पत्रिका **"जिनवाणी"** का प्रकाशन किया जाता है जिसके सामायिक, स्वाध्याय, ध्यान, तप, कर्म सिद्धान्त, अपरिग्रह आदि विशेषांक भारतीय दर्शन और संस्कृति के मर्म को उद्घाटित करने में विशेष सफल और उपयोगी रहे हैं।

आचार्य श्री कहा करते थे—मात्र जीवन निर्वाहकारी शिक्षा से जीवन सफल और उन्नत नहीं हो सकता। इसके लिये आवश्यक है—जीवन निर्माणकारी शिक्षा। यह शिक्षण किताबी अध्ययन से प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसके लिए सत्संग और स्वाध्याय आवश्यक है। आचार्य श्री ने स्वाध्याय के तीन अर्थ किये। पहला 'स्वस्य अध्ययनं' अर्थात् अपने आपका अध्ययन। दूसरा 'स्वेन अध्ययनं' अर्थात् अपने द्वारा अपना अध्ययन। तीसरा 'सु', 'आङ्' और 'अध्याय' अर्थात् अच्छे ज्ञान का मर्यादापूर्वक अध्ययन-ग्रहण। इसी संदर्भ में आचार्य श्री ने कहा 'शास्त्र ही मनुष्य का वास्तविक नयन है।' और 'हमें शस्त्रधारी नहीं शास्त्रधारी सैनिकों की आवश्यकता है।' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आचार्य श्री ने राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु आदि प्रदेशों की उग्र और लम्बी पदयात्राएँ कीं और स्थान-स्थान पर सैंकड़ों की संख्या में स्वाध्यायी सैनिक बनाये जो अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म से जुड़े, हजारों की संख्या में प्रतिदिन १५ मिनट स्वाध्याय-ध्यान करने वाले भाई-बहिन, आबाल वृद्ध तैयार किये। स्वाध्याय को अभियान का, मिशन का रूप दिया।

आचार्य श्री प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रबल पक्षधर होते हुए भी आधुनिक भाव-बोध और वैज्ञानिक चिन्तन से सम्पृक्त थे। जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए वे शास्त्रीय अध्ययन के साथ-साथ-साथ समाज-शास्त्रीय और लोकधर्मी परम्पराओं के अध्ययन को आवश्यक मानते थे। उनके द्वारा प्रेरित-संस्थापित सिद्धान्त शिक्षण संस्थानों, स्वाध्याय विद्यापीठों और ज्ञान-भण्डारों में प्राचीन-आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन, मनन, चिन्तन, शोध के लिए सभी वातायन खुले हैं।

स्वाध्याय के साथ आचार्य श्री ने समभाव की साधना सामायिक को जोड़ा। "सामायिक" की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा—'सम' और 'आय' से सामायिक रूप बनता है जिसका अर्थ है समता की आय। 'समय' का अर्थ सम्यक् आचार या आत्म-स्वरूप है। मर्यादानुसार चलना अथवा आत्म-स्वभाव में आना भी सामायिक है। आचार्य श्री ने प्रतिदिन एक घंटा सामायिक करने

के नियम हजारों लोगों को दिलाये। सामायिक केवल तन की न हो, मन की हो, इसके लिए स्वाध्याय और ध्यान को सामायिक के साथ जोड़ा। जगह-जगह सामायिक संघ गठित करने की प्रेरणा दी। नारी-समाज में इससे विशेष जागृति आई और पारम्परिक धार्मिक क्रिया के साथ ज्ञानाराधना जुड़ी।

आचार्य श्री करुणहृदय, पर दुःखकातर और परम दयालु थे। वे प्रवृत्ति रूप सकारात्मक अहिंसा के पक्षधर थे। वे कहा करते थे—यदि ज्ञानी किसी के आँसू न पोंछ सके तो उसके ज्ञान की क्या सार्थकता? यदि कोई धार्मिक किसी दुःखी के दुःख-निवारण में सहयोगी न बन सके तो वह कैसा धर्म? यदि कोई धनिक किसी संकटग्रस्त को सहायता न पहुँचा सके तो वह कैसा धनी? आचार्य श्री आत्म-धन को महत्त्व देते थे, द्रव्य धन को नहीं। वे धार्मिकों को सावचेत करते हुए कहते थे—"सोना, चाँदी, हीरे-जवाहरात के ऊपर तुम सवार रहो, लेकिन तुम्हारे ऊपर धन सवार नहीं हो। यदि धन तुम पर सवार हो गया तो वह तुमको नीचे डुबो देगा।" उन्होंने श्रीमन्तों को सलाह दी कि वे "समाज की आँखों में काजल बनकर रहें, जो खटके नहीं, न कि कंकर बनकर जो खटकता हो"। आचार्य श्री की साधना के तप से प्रदीप्त इस वाणी का बड़ा असर पड़ा। फलस्वरूप देश के विभिन्न क्षेत्रों में जीवदया, वात्सल्य फण्ड, बन्धु कल्याण कोष, चिकित्सालय, छात्रावास, पुस्तकालय, बुक बैंक आदि के माध्यम से कई जन-हितकारी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं।

आचार्य श्री अप्रमत्त साधक थे। वे प्रतिदिन घंटों मौन रहकर अपनी शक्ति का सदुपयोग ध्यान, जप, तप, स्वाध्याय व साहित्य-सर्जना में करते थे। उनकी साहित्य-साधना बहुमुखी थी। एक ओर उन्होंने 'नन्दीसूत्र', 'प्रश्नव्याकरण', 'बृहत्कल्प सूत्र', 'अन्तगड़ दशांग' 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' जैसे प्राकृत आगम ग्रंथों की टीका लिखी, विवेचना की तो दूसरी ओर आत्म-कल्याण, लोकहित, संस्कृति-संरक्षण और समाजोन्नति के लिए व्याख्यान दिये। उनकी यह वाणी 'गजेन्द्र व्याख्यान माला' भाग १ से ७, 'आध्यात्मिक आलोक भाग १ से ४ व 'प्रार्थना प्रवचन' में संकलित है। प्रवचन-साहित्य की यह अमूल्य निधि है। प्राकृत, संस्कृत, न्याय, दर्शन, व्याकरण, काव्य के उद्भट विद्वान् होकर भी आचार्य श्री अपने लेखन में सहज, सरल थे। उनका बल विद्वत्ता पर नहीं विनम्रता पर, पांडित्य पर नहीं आचरण पर रहता था। वे कहा करते थे—जो क्रियावान है वही विद्वान् है—"यस्तु क्रियावान पुरुषः स विद्वान्"। उनकी प्रेरणा से 'अ० भा० जैन विद्वत् परिषद' का गठन हुआ और जयपुर में 'आचार्य विनयचन्द ज्ञान भण्डार' की स्थापना हुई जहाँ हजारों की संख्या में दुर्लभ पांडुलिपियां, कलात्मक चित्र और नक्शे संगृहीत हैं।

आचार्य श्री की साहित्य साधना का गौरव शिखर है 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' भाग १ से ४। यह शुष्क इतिहास न होकर भारतीय विविध साधना-पद्धतियों, धार्मिक आन्दोलनों और सांस्कृतिक मूल्यों का सरस दस्तावेज है। आचार्य श्री का करुण कोमल हृदय कविता के रूप में फूट पड़ा है। उनकी कविता उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियों का साक्षात्कार है। इंद्रिय-आधारित सुख-दुःख से ऊपर उठकर वे अतीन्द्रिय आनंद की अनुभूति में गा उठते हैं—'मैं हूँ उस नगरी का भूप, जहाँ न होती छाया-धूप।'

आचार्य श्री हस्ती पार्थिव रूप से आज हमारे बीच नहीं हैं पर उनका यशःशरीर अमर है। उनका सन्देश हमारा पाथेय बने, उनकी प्रेरणा हमारी स्फुरणा बने। इसी भावना से उनकी प्रथम पुण्य तिथि पर **'आचार्य श्री हस्ती व्यक्तित्व एवं कृतित्व'** प्रकाशन श्रद्धांजलि रूप में उन्हें समर्पित है।

यह प्रकाशन तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड **'व्यक्तित्व-वन्दन'** में आचार्य श्री के संयमशील बहुमुखी व्यक्तित्व पर व द्वितीय खण्ड **'कृतित्व-मूल्यांकन'** में उनके कृतित्व (साहित्य, इतिहास, साधना, धर्म, दर्शन, संस्कृति, दैनिक जीवन आदि क्षेत्रों में उनकी देन) पर विशेष सामग्री संकलित की गई है। श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्, अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल एवं श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, जोधपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में आचार्य श्री हीराचन्द्र जी म० सा० एवं उपाध्याय श्री मानचन्द्र जी म० सा० के सान्निध्य में १६, १७ व १८ अक्टूबर, १९९१ को 'आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा० के व्यक्तित्व एवं कृतित्व' पर जोधपुर में अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस संगोष्ठी में विद्वानों ने जो निवन्ध प्रस्तुत किये थे, यथासंभव उनका समावेश इस ग्रंथ में किया गया है। जो विषय-बिन्दु छूट गये थे, उन पर विद्वानों से नई रचनाएँ मंगवाकर उन्हें प्रकाशित किया गया है। विद्वान् लेखकों के सहयोग के लिए आभार।

तृतीय खण्ड **'आचार्य श्री के प्रेरक पद एवं प्रवचन'** से सम्बन्धित है। यह खण्ड इस प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण खण्ड है। इसमें आचार्य श्री के ३८ पद व १२ प्रवचन संकलित किये गये हैं जो बड़े मार्मिक, आत्म-जागृति बोधक, प्रेरणादायक एवं मार्गदर्शक हैं।

आचार्य श्री का जीवन और साहित्य, उनका व्यक्तित्व और कृतित्व अनन्त और अमाप है। लंगड़े विचार-मन की क्या बिसात कि वह उस सिद्ध पुरुष के आध्यात्मिक गौरव-शिखर को छू सके?

—नरेन्द्र भानावत

प्रथम खण्ड

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. की जीवन-ज्योति

नाम—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.।

उपनाम—श्री गजेन्द्राचार्य, श्री गजमुनि।

जन्म-तिथि—वि. सं. १९६७ पौष शुक्ला चतुर्दशी।

जन्म-स्थान—पीपाड़ सिटी (जोधपुर) राजस्थान।

पिता का नाम—सुश्रावक श्री केवलचन्दजी बोहरा।

माता का नाम—सुश्राविका श्रीमती रूपकंवर।

दीक्षा-तिथि—वि. सं. १९७७ माघ शुक्ला द्वितीया, अजमेर।

दीक्षा-गुरु—आचार्य श्री शोभाचन्द्रजी म. सा.।

आचार्य-पद—वि. सं. १९८७ वैशाख शुक्ला तृतीया, जोधपुर।

विचरण-क्षेत्र—राजस्थान, मध्यप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु।

कुल दीक्षाएँ—८५ (संत ३१ तथा साध्वियाँ ५४)।

स्वर्गवास—वि. सं. २०४८ प्रथम वैशाख शुक्ला अष्टमी, रविवार, रात्रि ८ बजकर २१ मिनट पर निमाज (पाली) में तीन दिन की तपस्या (तेला) सहित तेरह दिवसीय संथारापूर्वक।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. की साहित्य-साधना

(क) **आगमिक साहित्य : टीका, व्याख्या, अनुवाद :**

१. नन्दी सूत्र भाषा टीका साहित, २. प्रश्न व्याकरण सूत्र सटीक, ३. बृहत्कल्प सूत्र संस्कृत टीका सहित, ४. अन्तकृतदशा सूत्र शब्दार्थ सहित, ५. उत्तराध्ययन सूत्र भाग १ से ३ (अर्थ, टिप्पण एवं हिन्दी पद्यानुवाद), ६. दशवैकालिक सूत्र (अर्थ, विवेचन, टिप्पण एवं हिन्दी पद्यानुवाद) ७. तत्त्वार्थ सूत्र (पद्यानुवाद) अप्रकाशित।

(ख) **ऐतिहासिक साहित्य :**

१. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग १ से ४, २. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर, ३. पट्टावली प्रबन्ध संग्रह, ४. जैन आचार्य चरितावली (पद्यबद्ध)।

(ग) **प्रवचन साहित्य :**

१. गजेन्द्र व्याख्यानमाला भाग १ से ७, २. आध्यात्मिक आलोक, भाग १ से ४, ३. आध्यात्मिक साधना, ४. प्रार्थना-प्रवचन, ५. गजेन्द्र मुक्तावली भाग १ व २, ६. विभिन्न चातुर्मासों के प्रवचन (अप्रकाशित), ७. मुक्ति-सोपान (अप्रकाशित)।

(घ) **काव्य :**

१. गजेन्द्र पद मुक्तावली, २. भजन, पद, चरित आदि (अप्रकाशित)

(ङ) **अन्य :**

१. कुलक संग्रह (धार्मिक कहानियाँ), २. आदर्श विभूतियाँ, ३. अमरता

का पुजारी, ४. सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी, ५. जैन स्वाध्याय सुभाषितमाला, भाग १ व २, ६. षडद्रव्य विचार पंचाशिका, ७. नवपद आराधना ।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. की प्रेरणा से संस्थापित प्रमुख संस्थाएँ

१. अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, जोधपुर
२. सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर
३. श्री जैन रत्न विद्यालय एवं छात्रावास, भोपालगढ़
४. श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर
५. अखिल भारतीय सामायिक संघ, जयपुर
६. श्री अमर जैन मेडिकल रिलीफ सोसायटी, जयपुर
७. आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भंडार, जयपुर
८. श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर
९. श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्, जयपुर
१०. श्री जैन रत्न पुस्तकालय, जोधपुर
११. आचार्य श्री शोभाचन्द्र ज्ञान भंडार, जोधपुर
१२. श्री बाल शोभागृह, जोधपुर
१३. श्री वर्धमान कन्या पाठशाला, पीपाड़
१४. श्री वर्धमान जैन मेडिकल रिलीफ सोसायटी, जोधपुर
१५. अ० भा० महावीर जैन श्राविका संघ, जोधपुर
१६. श्री भूधर कुशल धर्मबन्धु कल्याण कोष, जयपुर
१७. श्री कुशल जैन छात्रावास, जोधपुर
१८. श्री सागर जैन विद्यालय, किशनगढ़
१९. श्री महावीर जैन स्वाध्याय विद्यापीठ, जलगाँव
२०. श्री महावीर जैन हॉस्पिटल, जलगाँव
२१. मध्यप्रदेश जैन स्वाध्याय संघ, इन्दौर
२२. महाराष्ट्र जैन स्वाध्याय संघ, जलगाँव
२३. कर्नाटक जैन स्वाध्याय संघ, बेंगलौर
२४. जैन इतिहास समिति, जयपुर
२५. जीव दया अमर बकरा ठाट, भोपालगढ़
२६. अ० भा० जैन रत्न युवक संघ, जोधपुर
२७. साधना विभाग, उदयपुर
२८. श्री वीर जैन प्राथमिक विद्यालय, अलीगढ़-रामपुरा
२९. विभिन्न क्षेत्रों में धार्मिक पाठशालाएँ

• • •

महान् उपकारी आचार्य देव ![*]

☐ आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा.

सिद्धि को लक्ष्य बनाकर साधना मार्ग में चरण बढ़ाने वाले आदर्श साधक आचार्य भगवन्त के साधनामय जीवन को लेकर विद्वानजन अपना-अपना चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं। अहिंसा, सत्य, शील, ध्यान, मौन, संयम-साधना आदि गुणों को अनेकानेक रूप में रखा जा रहा है। विद्वत् संगोष्ठी के माध्यम से आपके समक्ष कई विद्वानों ने चिन्तन-मनन, अध्ययन-अनुसंधान कर अपने-अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किये हैं।

आचार्य भगवन्त की वाणी में ओज, हृदय में पवित्रता तथा साधना में उत्कर्ष था। उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना नयनाभिराम था उससे भी कई गुना अधिक उनका जीवन मनोभिराम था। गुरुदेव की भव्य आकृति में देह भले ही छोटी रही हो पर उनका दीप्तिमान निर्मल श्याम वर्ण, प्रशस्त भाल, उन्नत सिर, तेजपूर्ण शान्त मुख-मुद्रा, प्रेम-पीयूष बरसाते दिव्य नेत्र, 'दया पालो' का इशारा करते कर-कमल। इस प्रभावी व्यक्तित्व से हर आगत मुग्ध हुए बिना नहीं रहता था।

उनके जीवन में सागर सी गम्भीरता, चन्द्र सी शीतलता, सूर्य सी तेजस्विता और पर्वत सी अडोलता का सामंजस्य था। उनकी वाणी की मधुरता, विचारों की महानता और व्यवहार की सरलता छिपाये नहीं छिपती थी। उनकी विशिष्ट संयम-साधना अद्वितीय थी।

विद्वद्जनों ने आचार्य भगवन्त की साहित्य-सेवा के सन्दर्भ में अपना चिन्तन प्रस्तुत किया। वस्तुतः आचार्य भगवन्त की साहित्य-सेवा अनूठी थी। कविता की गंगा, कथा की यमुना और शास्त्र के सूत्रों की सरस्वती का उनके साहित्य में अद्भुत संगम था। आचार्य भगवन् की कृतियों में वाल्मीकि का सौन्दर्य, कालिदास की प्रेषणीयता, भवभूति की करुणा, तुलसीदास का प्रवाह, सूरदास की मधुरता, दिनकर की वीरता, गुप्तजी की सरलता का संगम था। शास्त्रों की टीकाएँ, जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रवचन-संग्रह तथा शिक्षाप्रद कथाओं से लेकर आत्म-जागृति हेतु भजन-स्तवन के अनेकानेक प्रसंग आपने सुने

---

[*] जोधपुर में आयोजित विद्वत संगोष्ठी में १७–१०–९१ को दिये गये प्रवचन से श्री नौरतन मेहता द्वारा संकलित–सम्पादित अंश।

का पुजारी, ४. सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी, ५. जैन स्वाध्याय सुभाषितमाला, भाग १ व २, ६. षड्द्रव्य विचार पंचाशिका, ७. नवपद आराधना ।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. की प्रेरणा से संस्थापित प्रमुख संस्थाएँ

१. अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, जोधपुर
२. सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर
३. श्री जैन रत्न विद्यालय एवं छात्रावास, भोपालगढ़
४. श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर
५. अखिल भारतीय सामायिक संघ, जयपुर
६. श्री अमर जैन मेडिकल रिलीफ सोसायटी, जयपुर
७. आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भंडार, जयपुर
८. श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर
९. श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्, जयपुर
१०. श्री जैन रत्न पुस्तकालय, जोधपुर
११. आचार्य श्री शोभाचन्द्र ज्ञान भंडार, जोधपुर
१२. श्री बाल शोभागृह, जोधपुर
१३. श्री वर्धमान कन्या पाठशाला, पीपाड़
१४. श्री वर्धमान जैन मेडिकल रिलीफ सोसायटी, जोधपुर
१५. अ० भा० महावीर जैन श्राविका संघ, जोधपुर
१६. श्री भूधर कुशल धर्मबन्धु कल्याण कोष, जयपुर
१७. श्री कुशल जैन छात्रावास, जोधपुर
१८. श्री सागर जैन विद्यालय, किशनगढ़
१९. श्री महावीर जैन स्वाध्याय विद्यापीठ, जलगाँव
२०. श्री महावीर जैन हॉस्पिटल, जलगाँव
२१. मध्यप्रदेश जैन स्वाध्याय संघ, इन्दौर
२२. महाराष्ट्र जैन स्वाध्याय संघ, जलगाँव
२३. कर्नाटक जैन स्वाध्याय संघ, बेंगलौर
२४. जैन इतिहास समिति, जयपुर
२५. जीव दया अमर बकरा ठाट, भोपालगढ़
२६. अ० भा० जैन रत्न युवक संघ, जोधपुर
२७. साधना विभाग, उदयपुर
२८. श्री वीर जैन प्राथमिक विद्यालय, अलीगढ़-रामपुरा
२९. विभिन्न क्षेत्रों में धार्मिक पाठशालाएँ

• • •

महान् उपकारी आचार्य देव !*

☐ आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा.

सिद्धि को लक्ष्य बनाकर साधना मार्ग में चरण बढ़ाने वाले आदर्श साधक आचार्य भगवन्त के साधनामय जीवन को लेकर विद्वानजन अपना-अपना चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं। अहिंसा, सत्य, शील, ध्यान, मौन, संयम-साधना आदि गुणों को अनेकानेक रूप में रखा जा रहा है। विद्वत् संगोष्ठी के माध्यम से आपके समक्ष कई विद्वानों ने चिन्तन-मनन, अध्ययन-अनुसंधान कर अपने-अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किये हैं।

आचार्य भगवन्त की वाणी में ओज, हृदय में पवित्रता तथा साधना में उत्कर्ष था। उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना नयनाभिराम था उससे भी कई गुना अधिक उनका जीवन मनोभिराम था। गुरुदेव की भव्य आकृति में देह भले ही छोटी रही हो पर उनका दीप्तिमान निर्मल श्याम वर्ण, प्रशस्त भाल, उन्नत सिर, तेजपूर्ण शान्त मुख-मुद्रा, प्रेम-पीयूष बरसाते दिव्य नेत्र, 'दया पालो' का इशारा करते कर-कमल। इस प्रभावी व्यक्तित्व से हर आगत मुग्ध हुए बिना नहीं रहता था।

उनके जीवन में सागर सी गम्भीरता, चन्द्र सी शीतलता, सूर्य सी तेजस्विता और पर्वत सी अडोलता का सामंजस्य था। उनकी वाणी की मधुरता, विचारों की महानता और व्यवहार की सरलता छिपाये नहीं छिपती थी। उनकी विशिष्ट संयम-साधना अद्वितीय थी।

विद्वद्जनों ने आचार्य भगवन्त की साहित्य-सेवा के सन्दर्भ में अपना चिन्तन प्रस्तुत किया। वस्तुतः आचार्य भगवन्त की साहित्य-सेवा अनूठी थी। कविता की गंगा, कथा की यमुना और शास्त्र के सूत्रों की सरस्वती का उनके साहित्य में अद्भुत संगम था। आचार्य भगवन् की कृतियों में वाल्मीकि का सौन्दर्य, कालिदास की प्रेषणीयता, भवभूति की करुणा, तुलसीदास का प्रवाह, सूरदास की मधुरता, दिनकर की वीरता, गुप्तजी की सरलता का संगम था। शास्त्रों की टीकाएँ, जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रवचन-संग्रह तथा शिक्षाप्रद कथाओं से लेकर आत्म-जागृति हेतु भजन-स्तवन के अनेकानेक प्रसंग आपने सुने

* जोधपुर में आयोजित विद्वत संगोष्ठी में १७-१०-९१ को दिये गये प्रवचन से श्री नौरतन मेहता द्वारा संकलित-सम्पादित अंश।

हैं, देखे हैं। आचार्य भगवन्त की साहित्य-साधना पर जितनी-जितनी खोज की जायगी, उतनी-उतनी मात्रा में आध्यात्मिक नवनीत मिलेगा।

आचार्य भगवन्त की साधना-आराधना के अलौकिक तथ्य आपके समक्ष रखूं या उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर कहूँ ? उनके गुणों का बखान करना असम्भव है। क्या कभी विराट् सागर को अंजलि में भरा जा सकता है ? विशाल पृथ्वी क्या बाल-चरण से नापी जानी सम्भव है ? क्या तारे गिने जा सकते हैं ? गुरु भगवन्त के अनेकानेक गुणों का कीर्तन एक साथ सम्भव हो ही नहीं सकता।

दस वर्ष की लघुवय में संसार का, परिवार का और इन्द्रिय जनित सुखों का पथ छोड़कर आचार्यश्री ने साधना-मार्ग में एक से बढ़कर एक ऐसे कीर्तिमान स्थापित किये, जिनसे आप, हम, सब परिचित हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य की उनकी साधना के कुछ रूप आपके समक्ष रखने की भावना है।

अहिंसा को मन-वचन-कर्म से आत्मसात करने वाले आचार्य देव ने प्राणि-मात्र के प्रति ऐसी समता-एकरूपता कायम की कि अशान्त और क्रोध में आये हुए सर्प को भी उन्होंने जीवनदान दिया। तीर्थङ्कर भगवान महावीर स्वामी भूले हुए नागराज को साधना का भान कराने स्वयं उसकी बांबी पर पहुँचे, उपसर्ग सहन किया और उसके बाद उसे प्रतिबुद्ध किया। आचार्य भगवन्त के जीवन में सहज संयोग प्राप्त होता है सतारा नगरी में। स्थंडिल की आवश्यकता पूर्ति के लिए भगवन् पधार रहे थे। रास्ते में जातिगत द्वेषी लोगों द्वारा सांप को मारा जा रहा था। भगवन् ने कहा—'भाई ! क्यों मार रहे हो ?' उत्तर आया—'ऐसी दया है तो ले जा।' बस फिर क्या था ? भगवन् ने क्रोधित साँप को वाणी के माध्यम से 'ये तुझे मार रहे हैं, मैं वचाना चाहता हूँ, मगर इष्ट हो तो आ जा', साँप रजोहरण पर आ गया। भगवन् ने उसे जंगल में छोड़ दिया।

ऐसी ही घटना वैराठ में हुई। नाग के उपद्रव से परेशान भाई ने घर के सामान को वाहर निकाल कर झोंपड़ी में आग लगा दी। जलती झोंपड़ी में से आचार्य भगवन्त ने साँप को "मैं तुझे वचाना चाहता हूँ" वाणी के माध्यम से कहा—साँप रजोहरण पर उपस्थित हो गया।

आचार्य भगवन् वीजापुर से विहार कर वागलकोट पधार रहे थे। कोरनी ग्राम में नदी के वाहर सहज वनी एक साल में विराजमान थे। वहाँ देखा—गाँव के रूढ़िवादी लोग वाजे-गाजे के साथ वकरे को वलि देने के लिए ला रहे थे। गाँव में रूढ़िवादी लोगों की मान्यता थी कि नदी पर वकरे की वलि से गाँव में शान्ति रहेगी। इस मनगढ़न्त मान्यता के कारण वकरा वलि को चढ़ाया

जाना था, तैयारियाँ चल रही थीं। आचार्य भगवन्त ने सुना तो सहज भाव से साथ में रहने वाले भाइयों से कहलवाया। गाँव वाले आये। भगवन् ने कहा—"दूसरों को मारकर सुख की बात सोचना भ्रमपूर्ण है। तुम मेरे कहने से बकरे को छोड़ दो।" आचार्य भगवन् के प्रभावशाली वचनों को सुनकर कुछ बलि देने के विरुद्ध हो गये, कुछ बलि देना चाहते थे। आखिर एक दूसरे की समझाइश से वह बलि रुक गई।

आचार्य भगवन् उज्जैन पधारे। उस समय विचरण-विहार में अनन्तपुरा ग्राम आया। वहाँ भी वर्षों से देवी के वहाँ बलि होती थी। एक पुजारी के शरीर में देवी उपस्थित होती, पुजारी थर-थर काँपता। गाँव वाले स्मरण करते, आवाज करते—देवी आई........देवी आई। वहाँ बकरे की बलि दे दी जाती। भगवन् पाठशाला में विराजमान थे।

उन्होंने सुना तो पास रहने वाले भाइयों से कहा—गाँव वालों से सम्पर्क करो। उन्हें अहिंसा के स्वरूप को समझाया जायेगा तो हो सकता है उनका मानस बदल जाय। गाँव वाले आचार्य भगवन्त के पास उपस्थित हुए। भगवन् ने कहा—"अहिंसा श्रेष्ठ धर्म है, तुम अहिंसा प्रेमी हो, हिंसा तुम्हें शोभा नहीं देती।" गाँव के लोगों को भगवन् के वचन हितावह तो लगे परन्तु वर्षों की मान्यता छोड़ दें, ऐसा मन नहीं हुआ। गाँव वालों ने कहा—हम पुजारी को पूछेंगे। पुजारी से पूछा गया। पुजारी के शरीर में देवी का प्रवेश हुआ। वह बोला—'अब बलि नहीं होनी चाहिए।' भगवन् के सद् प्रयास से अनन्तपुरा में भी बलि रुकी।

सूरसागर जोधपुर की बात है। २५ दिसम्बर, ८४ को 'प्रतिनिधि' पत्र के सम्पादक आचार्य भगवन्त के चरणों में उपस्थित हुए। उन्होंने सहज जिज्ञासा की—आप सर्वश्रेष्ठ धर्म किसे मानते हैं ? आचार्य भगवन्त ने फरमाया—'साध्य वीतरागता है, साधकतम धर्म अहिंसा। सर्वश्रेष्ठ धर्म अहिंसा है।' पत्रकार बन्धु ने फिर पूछा—'आपकी अहिंसा कहाँ तक पहुँचती है ?' जवाब था—'प्राणी मात्र के प्रति।' तीसरा प्रश्न था—'मनुष्य के लिए क्या चिंतन है ? आप एकेन्द्रिय पृथ्वी-पानी के जीवों की हिंसा नहीं करते लेकिन अनाथ मानव के बच्चे जिन्हें सड़क पर फेंक दिया जाता है, ऐसे बच्चों के लिए आपके धर्म की क्या अपेक्षा होनी चाहिए ?'

आचार्य देव उस समय मौनस्थ रहे। निवृत्ति की बात अलग है, प्रवृत्ति की अलग। साधक निवृत्ति-प्रधान होता है। पत्रकार की बात भगवन्त के चिन्तन में थी। सहसा कुछ देर पश्चात् देवेन्द्रराजजी मेहता का आगमन होता है।

मेहता साहब ने आचार्य भगवन्त को वन्दन किया और श्रीचरणों में बैठ गए। आचार्य भगवन्त ने सहज फरमाया—'आज मुझे एक पत्रकार ने निरुत्तर कर दिया।'

देवेन्द्रराज जी बोले—भगवन् ! किस बात पर ? आचार्य भगवन्त ने जो बात हुई, सामने रख दी। मेहता साहब ने कहा—'भगवन् ! यह काम आपका नहीं, यह तो हमारा काम है, हम इसके लिए प्रयास करेंगे।' भाई देवेन्द्रराजजी ने उस समय संकल्प लिया। आज जोधपुर में 'शोभा बाल मन्दिर' है जहाँ कई बच्चे जिनके आगे-पीछे कोई नहीं, पलते हैं। ऐसे बच्चे जो या तो सड़क पर लावारिस मिलते हैं या वासना के भूखे लोग वासना-पूर्ति के बाद बच्चे छोड़कर चले जाते हैं, ऐसे बच्चों के पालन-पोषण का काम आपके जोधपुर में चल रहा है। कोटा में बहिन प्रसन्न भण्डारी भी इस काम को कर रही हैं। बहिन प्रसन्न भण्डारी ऐसे-ऐसे बच्चों को मातृवत् स्नेह देकर संस्कारित भी करती हैं।

आचार्य भगवन्त ने अहिंसा धर्म की स्वयं साधना की और अहिंसा के प्रति अनेक लोगों को जोड़कर महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

आचार्य भगवन्त की अहिंसा-साधना का जैसा उज्ज्वल रूप था, वैसे ही वे सत्यवचनी थे। आचार्य भगवन्त सत्य की साधना के लिए जितनी आवश्यकता होती, उतना ही बोलते। बोलते समय कम बोलना और उतनी मात्रा में बोलना कि अतिचार का सेवन न हो, इसका सदा ख्याल रखते थे। अशक्त अवस्था में भी अगर किसी को आश्वासन मात्र कह दिया कि तेरी बात का ध्यान रखूंगा तो उन्होंने उसे पूरा करने का प्रयास किया, अपना वचन निभाया। वचन पूरा करने में शरीर की व्याधि का आगार रखा होने पर भी उसका पालन किया। जिस स्थान को फरसने को कहा, वे वहाँ पहुँचे। जीवन में मर्यादित नपे-तुले वचन-रत्न का वागरण करने वाले महापुरुष ने जो कह दिया, उसे हर स्थिति में पूरा किया। जहाँ कहीं भी चातुर्मास खोला, वहीं पधारे।

आचार्य भगवन् महान् उपकारी, करुणासागर, अखण्ड बाल ब्रह्मचारी तेजस्वी महापुरुष थे। उन्होंने निर्दोष अतिचार रहित ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, साथ ही उन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों-हजारों ब्रह्मचारी बनाये। ५५ वर्ष की भगवन् की जन्म तिथि मनाने का प्रसंग आया, भगवन् ने जन्म तिथि मनाने की अनिच्छा व्यक्त की। श्रावक समाज के पुनः-पुनः आग्रह-अनुरोध के बाद भगवन् ने कहा—५५ ब्रह्मचारी बनाने का संकल्प पूरा होता हो तो आपका सोचना ठीक कहा जा सकता है। भगवन् ब्रह्मचारी थे, अखंड बाल ब्रह्मचारी थे, 'तवेसु वा उत्तम बंभचेरं' का आदर्श रूप उनके जीवन में था इसलिए हर वर्ष जन्म-दिवस पर उतनी-उतनी संख्या में ब्रह्मचारी बनते गये।

आचार्य भगवन्त के उपकारों को समाज कभी भुला नहीं सकता। उन्होंने हर अवस्था वाले हर मानव के विकास हेतु हर समय हित शिक्षा दी। भगवन् की देन आने वाली पीढ़ियों को प्रेरणा देती रहेगी। छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को धर्म के संस्कार देकर आस्थावान बनाना, उनके ज्ञानाभ्यास हेतु धार्मिक पाठशालाएँ और शिविरों का आयोजन, युवावर्ग के ज्ञान-वर्धन हेतु स्वाध्याय संघ, वाचनालय, ज्ञान भण्डार, वृद्ध जीवन के सुधार हेतु साधक शिविर, साधना शिविर, ध्यान शिविर, और नौ नियम सहित सामायिक साधना की प्रेरणाएँ फलीभूत हुई हैं। रूढ़ि के निकन्दन में भी भगवन् की प्रभावी प्रेरणा रही। व्यसन-मुक्त समाज निर्माण में आचार्य भगवन् का उल्लेखनीय योगदान रहा है। मैंने अपने जीवन में देखा—एक-एक दिन में अस्सी-अस्सी बीड़ी पीने वाले भाई ने भगवन् के सामने बण्डल तोड़कर फेंक दिया। डेढ़-डेढ़ तोला रोज अमल खाने वाले ने भगवन् के वचनों पर श्रद्धा के कारण अमल छोड़ दी।

कोसाना भगवन् का चातुर्मास था। एक भाई रोज एक-डेढ़ तोला अमल लेता। बिना अमल के उसका उठना-बैठना नहीं होता। वह भगवन् के चरणों में उपस्थित हुआ। भगवन् के चरणों में जो भी आता वे उसे कुछ न कुछ अवश्य देते। आचार्य भगवन् ने उससे पूछा—तो वह बोला—बावजी! बिना अमल के नहीं चलता। आचार्य भगवन् की हित-मित-मधुर भाषा "भाई! तुम्हारा जीवन इससे परेशान हो रहा है, क्यों नहीं तुम अमल को तिलांजलि दे देते?" वह तैयार हो गया। भगवन् अन्तरज्ञानी थे। कहा—'पहले सात दिन सावधानी रखना।' सात दिन पूरे हुए। वह बोला—'बावजी! आपने निहाल कर दिया।'

ऐसे-ऐसे भाई जिनका शराब का रोजाना खर्च ३००/- रुपये था। एक भाई आर्थिक रूप से परेशान हो गया। पहुँच गया भगवन् के चरणों में। 'बावजी! मुझसे छूटती नहीं।' भगवन् ने समझाया—'भाई! शराब खराब है। तेरा तो क्या राजा-महाराजाओं के राज चले गये, पूरी द्वारिका जल गई। तू अब भी सम्भालना चाहे तो सम्भल सकता है।' गुरुदेव की शान्त सहज वाणी का असर उसके मन पर हुआ और बोतल के फंदे से बरबाद होते-होते बच गया।

एक-दो नहीं, सौ-पच्चास नहीं, भगवन् ने सैकड़ों-हजारों लोगों को उपदेश देकर व्यसन-मुक्त समाज-संरचना में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। पूज्य आचार्य श्री शोभाचन्दजी महाराज की शताब्दी मनाने के प्रसंग पर हजारों लोग निर्व्यसनी बने। उसके पीछे भी भगवन् की ही प्रेरणा थी। भगवन् फरमाते थे—"सच्चा श्रावक वही है जो सप्त कुव्यसन का पहले त्याग करे। सप्त कुव्यसन का त्याग

नहीं होगा तो आपका यह धर्माचरण का रूप बाहर में रामनामी दुपट्टे की तरह धर्म को लज्जित करने वाला बन सकता है।" भगवन् सच्चे साधक थे। उनके व्यक्तित्व में साधना की चमक थी। ममता-मोह का निकन्दन कर वे कमलवत् रहे। अपने-पराये का उनके जीवन में भेद नहीं था। भगवन् के दरबार में जो भी आया, खाली नहीं गया। हर आगत से चाहे वह जैन हो—अजैन हो, स्त्री हो, पुरुष हो, बालक-बालिका कोई भी क्यों न हो, आगत से उनका पहला प्रश्न होता—क्या करते हो ? माला जपते हो ? सामायिक होती है ? स्वाध्याय करते हो या नहीं ? प्रेमपूर्वक स्मरण-भजन, सामायिक-स्वाध्याय की भगवन् की प्रेरणा पाकर लाखों भक्तों का जीवन बदला है।

आचार्य भगवन् के साधनामय जीवन के अनेक सूत्र हैं। उन पर घण्टों नहीं, दिनों तक, महिनों तक कहा जा सकता है। आपका यहाँ आना, संगोष्ठी कर लेना ही जीवन-विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। आप आचार्य भगवन्त के व्यक्तित्व और कृतित्व को कहने-सुनने समझने आये हैं तो अपने जीवन में कुछ आचरण का रूप अपनायें, तब ही भगवन्त के बताये मार्ग पर आगे बढ़ने के अधिकारी हो सकेंगे। मात्र कहने से कभी असर नहीं होता, जीवन में आचरण का रूप आये तो असर हो सकेगा।

आप साधना, स्वाध्याय सेवा, निर्व्यसनता किसी एक सूत्र को पकड़ लें तो फूल नहीं फूल की पंखुड़ी अर्पित करके आगे बढ़ेंगे। भगवन् की सद् शिक्षाएँ आचरण में आयें, तभी आपका यहाँ आना, सुनना-सुनाना और संगोष्ठी करना सार्थक होगा।

सन्त - महिमा

समझ नर साधु किनके मिन्त ।। तेर ।।

होत सुखी जहाँ लहे वसेरो, कर डेरा एकन्त ।
जल सूं कमल रहे नित न्यारो, इण पर सन्त महन्त ।। १ ।।

परम प्रेम घर नर नित ध्यावे, गावे गुण गुणवन्त ।
तिलभर नेह धरे नहीं दिल में, सुगण सिरोमणि सन्त ।। २ ।।

भगत जुगत कर जगत रिझावे, पिण नाणे मन भ्रन्त ।
परम पुरुष की प्रीत रंगाणी, जाणी शिवपुर पन्थ ।। ३ ।।

'रतन' जतन कर सद्गुरु सेवो, इणको एहिज तंत ।
टुकभर महर हुवे सद्गुरु की, आपे सुख अनंत ।। ४ ।।

—आचार्य श्री रतनचन्दजी म० सा०

कलाचारी, शिल्पाचारी और धर्माचारी*

□ उपाध्याय श्री मानचन्द्रजी म० सा०

बन्धुओ !

नवपद आराधना के मंगलमय दिवस चल रहे हैं। आज तीसरा दिवस है। नमस्कार महामंत्र में भी 'नमो आयरियाणं' आचार्य पद तीसरा है। आचार्य पद मध्य का पद है। इस पद पर दोहरा कर्तव्य निभाना होता है। दहेली-दीपक न्याय की तरह उन्हें अपने जीवन को आगे बढ़ाने के लिए अरिहंत-सिद्ध का ध्यान रखना है और पीछे उपाध्याय-साधु जीवन का भी ध्यान रखना होता है। आचार्य स्वयं पंचाचार का पालन करते हैं, करवाते हैं।

वर्तमान समय में तीर्थंकर नहीं, गणधर नहीं, केवली नहीं, पूर्वधर नहीं इसलिए चतुर्विध संघ का भार आचार्य पर रहता है। आचार्य को परम पिता कहा है। जन्म देने वाला पिता होता है लेकिन आचार्य कल्याण का मार्ग दिखाता है, इसलिए उन्हें भी परम पिता कहा है। आचार्य के छत्तीस गुण कहे गये हैं। गुणों को लेकर ही पूजा का कारण माना गया। 'गुणापूज्या स्थान न च लिंग न च वयं'। हम गुणपूजक हैं, व्यक्तिपूजक नहीं।

गुणों की महत्ता है अन्यथा आचार्य के नाम से जाति भी है। डाकोत भी अपने आपको आचार्य कहते हैं। नाम मात्र से आचार्य-उपाध्याय तो कई हैं लेकिन वे भाव से पूज्य नहीं होते। आचार्य गुण-सम्पन्न होने चाहिए।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० गुणों के धारक थे। उनके स्वर्गवास हो जाने के बाद उनकी कीर्ति और अधिक बढ़ गई। उनके जीते जी न इतने गुणगान किए जाते और न ही वे महापुरुष गुण-कीर्तन पसन्द ही करते। वे स्वयं गुणानुवाद के लिए रोक लगा देते थे। मदनगंज में आचार्य पद दिवस था। उस समय संतों के बोल चुकने के बाद मेरा नम्बर था लेकिन आचार्य भगवन्त ने उद्बोधन दे दिया। उसके बाद मुझसे कहा—तुम्हें भगवान ऋषभदेव के लिए बोलना है। मेरे बारे में बोलने की जरूरत नहीं। कैसे निस्पृही थे वे महापुरुष ! वे प्रशंसा चाहते ही नहीं थे।

चाह छोड़ धीरज मिले, पग-पग मिले विशेष।

प्रशंसा चाहने या कहने से नहीं मिलती। वह तो गुणों के कारण सहज मिलती है। आचार्य भगवन्त नहीं चाहते थे कि लोग इकट्ठे हों पर उनकी पुण्य प्रकृति के कारण लोगों का हर समय आना-जाना बना ही रहता

---

* जोधपुर में आयोजित विद्वत् संगोष्ठी में १७-१०-९१ को दिये गये प्रवचन से श्री नौरतन मेहता द्वारा संकलित–सम्पादित अंश।

था । अजमेर दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर आचार्य श्री का मन नहीं था पर श्रावकों की इच्छा थी इसलिये वहां दीक्षा स्वर्ण जयन्ती महोत्सव मनाया गया । वे महापुरुष स्वयं की इच्छा नहीं होते हुए भी किसी का मन भी नहीं तोड़ते थे । उन्होंने त्याग-प्रत्याख्यान की बात रख कर श्रावक समाज के सामने त्याग-तप की रूपरेखा रख दी । उनके पुण्य प्रताप से बारह व्रतधारी कई श्रावक बने और व्यसनों का उस समय त्याग काफी लोगों ने किया ।

आचार्य भगवन्त के गुण-कीर्तन प्रति मास किये जाते हैं फिर भी गुणों का अंत नहीं आता । उनके ज्ञान-दर्शन-चारित्र और संयम साधना के साथ उनके साहित्य एवं व्यक्तित्व और कृतित्व पर आज के कई विद्वान् खोज करते हैं ।

हमारे यहां तीन प्रकार के आचार्य कहे गये हैं । एक कलाचार्य, एक शिल्पाचार्य और एक धर्माचार्य । आचार्य भगवन् कलाचारी, शिल्पाचारी और धर्माचारी थे । व्यक्ति को आकर्षित करने की उनकी अद्भुत कला थी । उनके संसर्ग में जो आता उसे आगे बढ़ाते । धीरे-धीरे कैसे उस व्यक्ति को ऊंचाइयों तक पहुँचा देते, इस बात को आप जानते हैं । उनके पास जो कोई आया, लेकर ही गया । कहना चाहिये—वे चुम्बक थे, आकर्षित करने की उनकी कला अपने आप में अनूठी थी । आचार्य भगवन्त पारस थे—लोहे को सोना बनाना जानते थे । इधर-उधर भटकने वाले, दुर्व्यसनों के शिकारी और साधारण से साधारण जिस किसी ने उस महापुरुष के दर्शन किए, उसके जीवन में सद्गुण आए ही ।

गुरुदेव ने चातुर्मास के लिये मुझे दिल्ली भेजा । मैं नाम लेकर चला गया । दिल्ली में कई ऐसे श्रावक थे जिन्होंने आचार्य श्री हस्तीमलजी म० के दर्शन नहीं किये । आचार्य भगवंत का तीस वर्ष पहले दिल्ली में चातुर्मास हुआ था परन्तु पुराने-पुराने श्रावक तो चले गये, बच्चे जवान हो गये । दिल्ली-वासियों ने जब संतों का जीवन देखा तो उनके मन में आया—इनके गुरु कैसे होंगे ? दिल्ली के श्रावक आचार्य भगवंत के दर्शनार्थ आये । आकर कहने लगे—'महाराज ! हमने तो भगवन् देख लिये ।' गुरुदेव हर व्यक्ति के जीवन को ऊंचा उठाने वाले कलाचारी थे ।

उस महापुरुष ने एक शिल्पाचारी के रूप में कइयों का जीवन निर्माण किया । मेरी दीक्षा के बाद बड़ी दीक्षा महामंदिर हुई । गुरुदेव मूथाजी के मंदिर पधारे और कहा—मेरे को अप्रमत्त भाव में रहकर बतलाना ।

हर समय उनकी यही शिक्षा रहती थी। वे हर समय शिक्षा देते ही रहते थे।

वे महापुरुष चाहे जहाँ रहते, हर समय शिक्षा देते ही रहते। जयपुर में रामनिवास बाग से गुजर रहे थे। उस समय शेर गरज रहा था। आचार्य भगवंत ने फरमाया—'क्या बोलता है ?' आचार्य भगवंत से मैंने कहा—'बावजी ! शेर गरज रहा है।' गुरुदेव बोले—'मैं हूँ, मैं हूँ कह कर बता रहा है कि मैं पिंजरे में पड़ा हूँ। इसलिये मेरी शक्ति काम नहीं कर रही है। यह आत्मा भी शरीर रूपी पिंजरे में रही हुई है। आत्मा भी समय-समय पर हुंकारती है—मैं हूँ अर्थात् मैं अनन्त ज्ञान से सम्पन्न हूँ, मैं अनन्त दर्शन से सम्पन्न हूँ आदि आदि।'

एक बार भगवंत सुबोध कॉलेज में खड़े थे। पास में पत्थर गढ़ने वाले व्यक्ति पत्थर गढ़ रहे थे। पत्थर गढ़ते वह कारीगर पानी छांट रहा था। गुरुदेव ने पूछा—'यह क्या कर रहा है ?' मैंने कहा—'काम कर रहा है।' आचार्य भगवन् ने कहा—'पत्थर पर पानी डाल कर नरम बना रहा है, पत्थर कोमल हो जायगा तब गढ़ा जायगा।' आचार्य भगवंत ने फरमाया कि 'शिष्य भी कोमल होगा तो गढ़ा जायगा।' वे हर समय जीवन-निर्माण की बात बताया करते थे। उनकी छोटी-छोटी बातों में कितनी बड़ी शिक्षाएँ होती थीं। वे शिल्पाचार्य की तरह थे।

धर्माचार्य तो वे थे ही। वर्षों तक चतुर्विध संघ को कुशलतापूर्वक संभाला और उसी का परिणाम है कि आज यह फुलवारी अनेक रंगों में दिखाई दे रही है। आज चतुर्विध संघ का जो सुन्दर रूप दिखाई दे रहा है, वह उन्हीं महापुरुषों के पुण्य प्रताप से है।

आचार्य भगवंत का जीवन कैसा था, आपने देखा है, आप जानते भी हैं। उनमें थकावट का कभी काम नहीं। वे कितना पुरुषार्थ करते थे ! वे सामायिक-स्वाध्याय के लिये अधिक बल देते थे। दिल्ली वाले आचार्य भगवंत के श्री चरणों में चातुर्मास की विनती लेकर आये। उनसे कहा—'आप प्रति वर्ष विनती लेकर आते हैं तो क्यों नहीं आप सामायिक-स्वाध्याय का सिलसिला प्रारम्भ कर अपने पैरों पर खड़े होते ?'

आचार्य भगवंत सदा कुछ न कुछ देते ही रहते। जब तक स्वस्थ रहे स्थान-स्थान पर भ्रमण कर ज्ञान दान दिया और अन्त समय में भी कितनी उदारता, विशालता ! वे परम्परा के आचार्य होकर भी कभी बंधे नहीं रहे। वे फरमाते—'जिनको जहाँ श्रद्धा हो वहाँ जाओ पर कुछ न कुछ करो जरूर।'

वे महापुरुष संकीर्णता के घेरे में कभी नहीं आये। एक बार भोपालगढ़ में युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी और आचार्य श्री के पण्डित रत्न श्री लक्ष्मी-चन्दजी महाराज का समागम हुआ। दूसरे दिन आचार्य भगवंत की जन्म तिथि थी। उस पर मधुकरजी म० ने आचार्य भगवंत के गुणानुवाद किये। उनका सब के साथ प्रेम सम्बन्ध था। उन्होंने कहा—इस बार जोधपुर में आपका चातुर्मास हो रहा है, उधर सिंहपोल में दूसरों का चातुर्मास हो रहा है। आचार्य भगवंत ने कहा—'हम दोनों अलग-अलग थोड़े ही हैं।' आचार्य भगवंत ने कितनी शांति से जबाव दिया। चातुर्मास के पूर्व ही कह दिया 'जिसको जहां सुविधा हो लाभ लेवें।' मेरे भक्त मेरे पास ही आएँ, ऐसी उनकी भावना नहीं थी। वे सर्व प्रिय थे।

आचार्य भगवंत की विशालता अनूठी थी। एक राजा ने घोषणा की कि मैं गुरु बनाना चाहता हूँ। धर्म गुरु आएँ। मैं उन्हें मैदान देता हूँ। सात दिन में सीमा बांध सकें, बांध लें, ईंट-चूना-पत्थर दे दिया। कई धर्मगुरु पहुँचे। सब अपनी-अपनी सीमा बांधने लगे। राजा आया, वह सीमा देखने लगा। राजा ने देखा—एक मस्तराम पेड़ के नीचे बैठा था। पूछा—क्या बात है, आप क्यों बैठे हो? मस्तराम बोला—राजन्! मैं क्या सीमा बांधू? मेरी सीमा तो क्षितिज तक है। राजा ने और किसी को नहीं, मस्तराम को गुरु बनाया। जैसे उस मस्तराम की सीमा विशाल थी, आचार्य भगवंत की सीमा भी विशाल थी। वे चाहे श्रमण संघ में रहे, तब भी वही बात, श्रमण संघ में नहीं रहे तब भी वही बात। श्रमण संघ से बाहर निकले उस समय श्रावकों ने कहा—किसके बलबूते पर अलग हो रहे हो? आचार्य भगवंत ने कहा—'मैं आत्मा के बलबूते पर अलग हो रहा हूँ। मैं अपनी आत्म-शांति और समाधि के लिये अलग हो रहा हूँ।' उस समय लोग सोचने लगे—'कौन पूछेगा' पर आपने देखा है—आचार्य भगवंत जहां भी पधारे सब जगह श्रद्धालु भक्तों से स्थानक सदा भरे रहे। चाहे प्रवचन का समय हो चाहे विहार का, श्रावक-श्राविकाओं का निरन्तर दर्शन-वंदन के लिये आवागमन बना ही रहा। स्थानक छोटे पड़ने लग गये। उनका जबरदस्त प्रभाव था कारण कि वे सबके थे, सब उनके थे। ऐसे महान् आचार्य जिन्हें कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य तीनों कहा जा सकता है।

उस महापुरुष के व्यक्तित्व और कृतित्व पर, उनके गुणों पर, उनकी संयम-साधना पर और उनकी देन पर जितना कहा जाय, कम है। आप आचार्य भगवंत के गुण-कीर्तन करके ही न रह जाएँ, उनकी सद् शिक्षाओं को जीवन में उतारेंगे तो आपका जीवन बनेगा।

□ □ □
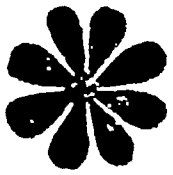
अप्रमत्त साधक की आदर्श दिनचर्या*

□ श्री गौतम मुनि

"अल कुसलस्स पमाएणं" अर्थात् प्रज्ञाशील साधक अपनी साधना में किंचित् मात्र भी प्रमाद नहीं करता। 'आचारांग' की यह सूक्ति आपके लिए, हमारे लिए मात्र अध्ययन का विषय हो सकती है किन्तु उस युग-द्रष्टा, दिव्य मनीषी आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने तो इसे अपने जीवन में आत्मसात कर लिया था।

आप श्री की दिनचर्या सूर्योदय से बहुत पूर्व ही प्रारम्भ हो जाती थी। एक बार सोने के पश्चात् रात्रि में जब कभी आपकी निद्रा खुल जाती थी, आप शय्या त्याग देते थे। उठने के लिए समय का इन्तजार आपने कभी नहीं किया। उठते ही आप ध्यान-योग की साधना करते। ध्यान व जाप के पश्चात् आप प्राणायाम करते थे जो तन व मन दोनों का नियामक है। प्राणायाम के पश्चात् जब सूर्योदय में लगभग एक घण्टा शेष रहता था, आप प्रातःकालीन प्रतिक्रमण करते थे।

प्रतिक्रमण के पश्चात् आप 'भक्तामर स्तोत्र' इत्यादि का लवलीनता के साथ स्मरण करते थे, जब तक कि सूर्योदय न हो जाए। प्रतिलेखनादि कार्यों से निवृत्त होकर सूर्योदय के पश्चात् आप स्थंडिलार्थ पधारते थे। इस हेतु आप दूर, नगर से बाहर तक जाकर प्रातःकालीन भ्रमण के उद्देश्य की पूर्ति भी कर लेते थे। लौटकर आप अल्पाहार हेतु बैठते किन्तु वास्तव में इसे अल्पाहार के स्थान पर पयपान की संज्ञा देना अधिक यथार्थपरक होगा क्योंकि इस दौरान आप प्रायः मात्र पेय पदार्थ ही ग्रहण करते थे, वह भी मात्र जीवन के संचरण हेतु, अन्यथा आपको अपनी नश्वर देह से किंचित् मात्र भी मोह नहीं था। इसके पश्चात् आप मनोयोगपूर्वक साहित्य-साधना में संलग्न हो जाते। आपकी यह साहित्य-सृजन की प्रवृत्ति जीवन के संध्याकाल को छोड़कर सदैव कायम रही, मात्र उन दिनों को छोड़कर जब आप श्री विहार करते थे क्योंकि आप सामान्यतः प्रातःकाल के समय ही विहार करते थे। विहार करने के अलावा अन्य सामान्य दिनों में आप साहित्य-सृजन के पश्चात् प्रवचन-स्थल की ओर प्रस्थान कर देते थे। प्रवचन की आपकी शैली अत्यन्त सारगर्भित एवं हृदयाभिगम होती थी। शान्त, सौम्य मुखमुद्रा सहज ही श्रावकों का मन मोह लेती थी।

प्रवचन के पश्चात् आप आहारादि के लिए बैठा करते किन्तु आंतरिक सत्य, जो सर्वविदित नहीं, यही है कि आप प्रायः एक ही समय आहार करते थे व प्रातःकालीन आहार का त्याग कर देते थे। इस तरह गुप्त तपस्या करके आप इस तथ्य की पुष्टि करते थे कि जैसे-जैसे चेतना बढ़ती जाती है वैसे-वैसे साधक की रुचि आहार के प्रति कम होने लगती है व अन्ततोगत्वा वह मात्र एक नैसर्गिक

---

*विद्वत् संगोष्ठी में दिये गये प्रवचन से कुमारी अनुपमा कर्णावट द्वारा संकलित-संपादित अंश

अनिवार्यता की पूर्ति के रूप में शेष रह जाती है। तत्पश्चात् मध्याह्न १२ से २ बजे तक, दो घंटे आप मौन साधना करते। इस दौरान भी १२ बजे से १ बजे तक आप माला फेरते। माला फेरने का आपका समय वर्षों से यही था व आप सदैव ठीक १२ बजे इस हेतु बैठ जाते थे। यदि कभी प्रवचन आदि कारणवशात् देरी हो जाती थी तो आप आहार हेतु न बैठकर अपने समय की पाबन्दी बनाए रखते थे। इस प्रकार आपका यह अटूट संकल्प एवं अडिग आत्मविश्वास हमारे लिए प्रेरणास्पद था। शेष एक घण्टा आप मात्र मौन रखते। आप मौन को बड़ा महत्त्व देते थे क्योंकि मुनि का तात्पर्य ही मौन होता है। मौन शक्ति का संचायक व मनन का कारक होता है। मनसा, वचसा और कर्मणा का मौन साधक की साधना को पुष्ट करता है। अतः आप नित्य प्रति दो घण्टे के मौन के साथ प्रत्येक गुरुवार को भी मौन रखते थे व माह की वदी दशमी को तो अखण्ड मौन रखा करते, किन्तु इस मौन की एक और विशेषता यह थी कि आप अपने इष्ट प्रभु पार्श्वनाथ की एकान्त निष्काम साधना करते थे। भगवान् पार्श्वनाथ आप श्री के परम इष्ट देव थे। अतः कृष्ण पक्ष की दशमी के दिन आप अखण्ड मौन के साथ एकान्त शांत निर्जन स्थल पर एकासन तप करते हुए प्रातः लगभग ३-४ घण्टे प्रभुस्मरण में लवलीन रहते।

दो बजे तक मौन रखने के पश्चात् आप एक घण्टे तक शास्त्र-वाचना दिया करते। आपकी यह प्रवृत्ति आपकी शास्त्रीय दृष्टि का परिणाम थी। शास्त्र-वाचन द्वारा आप शिष्यों को सारणा, वारणा व धारणा की शिक्षा से संस्कारित एवं आचरण से उन्नत बनाने का प्रयत्न करते। तत्पश्चात् आप जनसाधारण से धर्मोन्मुख चर्चा करते।

जन सामान्य के न होने पर आप पुनः साहित्य-सृजन में रत हो जाते। करीब एक-डेढ़ घण्टे पश्चात् आप स्थंडिल हेतु जाते व निवृत्त होकर आहारादि करते। फिर चौविहार इत्यादि चुकाकर आप कुछ देर स्वास्थ्य की दृष्टि से स्थानक में ही टहलते। इस दौरान कहीं कोई कार्य नजर आने पर आप सहर्ष सेवा की सहज भावना से कार्य करने को तत्पर हो उठते। तत्पश्चात् आप डायरी लिखा करते थे। एक सच्चे साधक की भांति कोई दुराव-छिपाव न रखते हुए आपके क्रिया-कलाप खुली पुस्तक की भाँति होते थे।

तत्पश्चात् आप सायंकालीन प्रतिक्रमण प्रायः खड़े होकर ही करते। अन्त में 'कल्याण मन्दिर' इत्यादि स्तोत्रों का जाप करते। फिर आप आगन्तुकों की जिज्ञासाओं का समाधान करते। सोने से पूर्व आप सदैव 'नन्दीसूत्र' का वाचन करते। आपकी उपर्युक्त दिनचर्या शास्त्रानुकूल थी। जीवनपर्यन्त आपकी प्रवृत्तियाँ अप्रमत्तता से युक्त रहीं। आप सदैव प्रमोद भाव में विचरण करते थे। आपके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि यही होगी कि हम आपके पदचिह्नों पर चलकर अपना व जिनशासन का गौरव बढ़ाएँ और अपने जीवन को सार्थक करें।
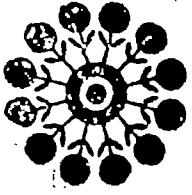
मेरे मन के भगवन् !

☐ श्री मोफतराज मुरणोत

मेरे मन के भगवन् महामहिम पूज्य गुरुदेव श्रीमज्जैनाचार्य श्री हस्तीमल जी म. सा. गत वर्ष (प्रथम वैशाख शुक्ला अष्टमी) १३ दिवसीय तप-संथारे के साथ रवि-पुष्य नक्षत्र में साधना का चरम और परम लक्ष्य प्राप्त कर मृत्युंजयी बने। वह दृश्य लाखों-लाख श्रद्धालुओं के हृदय-पटल पर सदा-सर्वदा विद्यमान रहेगा। भगवन् के स्वार्गारोहण को एक वर्ष होने जा रहा है। उस दिव्य दिवाकर की प्रथम पुण्य तिथि स्थान-स्थान पर त्याग-तप के साथ मनाई जा रही है, जानकर प्रमोद है।

महामहिम आचार्य भगवन् के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर रत्नवंश के अष्टम पट्टधर परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर पूज्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा., परम श्रद्धेय उपाध्याय पं. रत्न श्री मानचन्द्रजी म. सा. आदि ठाणा के सान्निध्य में जोधपुर चातुर्मास में १६ से १८ अक्टूबर, १९९१ तक अ. भा. जैन विद्वत् परिषद् के तत्त्वावधान में आयोजित त्रिदिवसीय विद्वत् संगोष्ठी में देश भर के उच्च कोटि के विद्वानों के विचार-श्रवण का मुझे सौभाग्य मिला। आचार्य भगवन् के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर कहने या लिखने के लिए गहन चिन्तन-मनन-अध्ययन और अनुसंधान चाहिये। वस्तुतः युगद्रष्टा-युग मनीषी के यशस्वी जीवन पर कई ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। हम भगवन् के गुण स्मरण करें, अवश्य करें लेकिन हम केवल गुण-स्मरण कर अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझें। हमें उस युग पुरुष की सद् शिक्षाओं पर आचरण का रूप उजागर करना है। हम भगवन् के आदेश-निर्देश-उपदेश पर अमल करें, तभी हम और हमारा संघ निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर होगा।

भगवन् की प्रथम पुण्य तिथि पर त्याग-तप की प्रभावना के साथ भगवन् की सद् शिक्षाओं पर बढ़ने का संकल्प लें, इसी शुभ भावना के साथ—

—अध्यक्ष, अ. भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ
९१, कल्पवृक्ष, २७ बी. जी. खेर मार्ग, बम्बई-४०० ००६
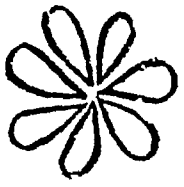
आध्यात्मिकता के गौरव शिखर

☐ डॉ. सम्पतसिंह भाण्डावत

सामायिक और साधना के प्रबल प्रेरक आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. संयम-साधना, शुद्ध सात्विक साधु-मर्यादा, विशिष्ट ज्ञान और ध्यान के शृंग, रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र-आराधना में लीन समाधिस्थ योगी और आध्यात्मिकता के गौरव शिखर थे।

उन्होंने अपने प्रवचनों से समाज की सुप्त आत्मा को जगाया, श्रेष्ठ मूल्यों का नवनीत प्रदान किया, ज्योतिस्तंभ के रूप में प्रकाश का ज्ञान दिया, धर्म की नयी परिभाषा दी और भौतिकता के जाल में फंसे मनुष्य को आध्यात्मिकता का अमृत पिलाया। आचार्य श्री ने ७० वर्षों तक ज्ञान और साधना की स्रोतस्विनी प्रवाहित की। इस शताब्दी में आचार्य श्री की वाणी से जो निर्झरिणी फूटी उसमें असंख्य श्रावकों ने डुबकी लगाकर आत्मानन्द प्राप्त किया। आचार्य श्री के संथारापूर्वक समाधिमरण ने जैन परम्परा में एक कीर्तिमान की स्थापना की है।

आचार्य श्री में सागर की गहराई और पर्वत की ऊँचाई थी, आचार की दृढ़ता और विचारों की उदारता थी, अद्भुत तेज और अपूर्व शान्ति थी, विशुद्ध ज्ञान और निर्मल आचरण था। वे महामनीषी साधकों के प्रेरक थे, साम्प्रदायिक सौहार्द और समता के विश्वासी थे, धैर्य की मूर्ति और भव्यता की प्रतिभूति थे, अहिंसा, करुणा और दया के सागर थे, ज्ञानी और ध्यानी थे, तात्विक और सात्विक थे, अनन्त करुणा, अनन्त मैत्री और अनन्त समता के प्रतीक थे। मेरी दृष्टि में आचार्य श्री के व्यक्तित्व के ये विभिन्न सोपान थे और इन सोपानों के द्वारा आचार्य श्री आध्यात्मिकता के गौरव शिखर पर पहुँच कर मूर्धन्य अध्यात्मयोगी बन गये।

इस अवसर्पिणी काल में आचार्य श्री ने आध्यात्मिकता की दुंदुभि बजाकर भौतिकता में फंसे सुप्त समाज को जगाया, अर्थ के ऊपर धर्म को प्रतिष्ठित किया, अनैतिकता के स्थान पर नैतिकता की प्रतिष्ठा की, साम्प्रदायिकता की सीमाओं को तोड़कर श्रमण संस्कृति के प्रवर्धन और संवर्धन के द्वारा मानवीय धर्म की प्रतिष्ठा की।

आचार्य श्री की प्रथम पुण्यतिथि पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए हम संकल्प लें कि आचार्य श्री द्वारा प्रतिपादित श्रमण संस्कृति के मूल्यों को हम अपने जीवन में उतारकर, भौतिक लिप्तता को त्यागकर, आध्यात्मिकता की ओर प्रयाण करेंगे।

—अध्यक्ष, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल,
रैनबो हाऊस, पावटा, मंडोर रोड, जोधपुर

पूर्ण पुरुषार्थी

☐ श्री टीकमचन्द हीरावत

व्यक्ति एक है, दृश्य भी एक है पर दृष्टियाँ अनेक हैं। व्यक्ति जिस दृष्टि से देखता है उसके अनुसार उस पर प्रभाव पड़ता है। इन्द्रिय दृष्टि सबसे स्थूल दृष्टि है। इन्द्रिय-दृष्टि भोग की रुचि को सबल बनाती है, बुद्धि-दृष्टि भोगों से अरुचि उत्पन्न कराती है और विवेक दृष्टि भोग वासनाओं का अन्त कर जड़-चिद्-ग्रंथि को खोल देती है। जिसके खुलते ही अन्तर्दृष्टि उदय होती है जो अपने ही में अपने को पाकर कृतकृत्य हो जाती है अर्थात् 'पर' और 'स्व' का भेद गल जाता है। आज हम ऐसे ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की चर्चा कर रहे हैं जो मानव से महामानव बन गया।

आचार्य श्री ने बाल्यकाल में ही सुख की दासता एवं दुःख के भय के दोष को समझ लिया था। उसी कारण अल्प आयु में ही दीक्षा लेना, जीवन की क्षणः भंगुरता को समझ लेना और जीवन के परम आनन्द को प्राप्त करना ही आपका लक्ष्य रहा और उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीवन भर प्रयत्न करते रहे और उसे प्राप्त किया। आचार्य श्री ने कभी अपने को देह नहीं माना। देह न मानने पर कोई कामना ही उत्पन्न नहीं होती। कामना न होने पर सुख-दुःख का बन्धन टूट जाता है और चिरशान्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है। शान्ति में जीवन बुद्धि न रहने पर शान्ति में भी रमण रुचिकर नहीं रहता, क्योंकि प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता जीवन की है। शान्ति से अरुचि होते ही शान्ति से अतीत के जीवन की लालसा हो जाती हैं जो उसका वास्तविक जीवन है। आपका जीवन ऐसी ही महान् साधना का जीवन था।

आपका जीवन पूर्णतया पुरुषार्थमय था। कभी पुरुषार्थ में शिथिलता नहीं आने दी, कारण जीवन में कोई अहं नहीं था। यह प्राकृतिक न्याय है कि पुरुषार्थ की पूर्णता में सफलता निहित है। आचार्य श्री ने योग, बोध और प्रेम में ही जीवन देखा। उसी का परिणाम है कि श्रम-रहित होकर सत् का संग किया। सत् का संग अर्थात् अविनाशी का संग, जो है उसका संग। आपने अपने जीवन का सही मूल्याङ्कन किया। कभी भी अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में उन्हें सन्देह नहीं रहा।

उनके व्यक्तित्व में इतना निखार आ गया था कि वे मानव से महामानव बन गये। और जन कल्याण में अपना जीवन समाप्त कर दिया। ऐसे महामानव की गौरव गाथा को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रथम पुण्य तिथि पर उन्हें कोटि-कोटि वन्दन।

—कार्याध्यक्ष, सम्यग्ज्ञान प्रचारक
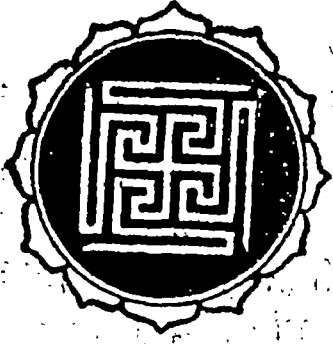
गुणसागर परम पावन गुरुदेव !

☐ श्री ज्ञानेन्द्र बाफणा

मेरी जन्म भूमि भोपालगढ़ में पूज्य गुरुदेव के संवत् २०२१ के वर्षावास की पावन स्मृतियाँ आज मानस-पटल पर जीवंत हो उठी हैं। परम पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में बैठकर प्रश्नचर्चा एवं ज्ञानचर्चा के वे क्षण मेरे जीवन के अनमोल अविस्मरणीय क्षण हैं। उन्होंने स्वाध्याय के प्रति रुचि जागृत की और शास्त्रों की कुञ्जी थोकड़ों की ओर जिज्ञासा बढ़ाई। एक दिन आचार्य अमित गति कृत 'सत्वेषु मैत्री' श्लोक एक ही दिन में याद कर लेने की हमें प्रेरणा की। गुरुदेव उस श्लोक के मूर्तिमान आदर्श थे। उनके जीवन में जहाँ प्राणिमात्र के प्रति मैत्री की गंगा प्रवाहमान थी, वहीं दूसरी ओर प्रत्येक जाने-अनजाने व्यक्ति के गुणों के प्रति सहज प्रमोद भाव था। पूज्य भगवन् जहाँ अपने आलोचक की भी निन्दा सुनने से सर्वथा परहेज करते, वहीं किसी भी व्यक्ति या महापुरुष के गुणों का परिचय पाकर, सुनकर सहज प्रसन्नता का अनुभव करते। दूसरों के गुणों की प्रशंसा सुनते-सुनते प्रमोद भावनाजन्य प्रसन्नता उनके आनन पर प्रकट होने लगती, मानो प्रेम, स्नेह एवं प्रसन्नता का सागर लहरा रहा हो।

दीन-हीन अबोध जनों एवं क्लिष्ट प्राणियों के प्रति उनके हृदय में सहज करुणा का सागर लहराता, प्राणिमात्र के कल्याण की भावना उनके हृदय में रहती, सभी तरह की परिस्थितियों एवं व्यक्तियों के प्रति उन महायोगी के मन में तटस्थ भाव रहता। यही साधना तो 'समाधि वरण' के समय चरम रूप में हम सबके सामने प्रगट हुई थी। जो भी पूज्य भगवन् के सम्पर्क में आया, वह सदैव के लिए श्रद्धावनत हो गया, जिसे भी उन प्रेरणा पुंज की प्रेरणा पाने का सौभाग्य मिला, वह समाज में अपना स्थान बना गया। वस्तुतः भगवन् साधारण को असाधारण एवं भक्त को भगवान बनाने में सक्षम थे। उनके जीवन में विविध गुणों का अद्भुत समन्वय था। वे ज्ञानसागर थे तो उत्कृष्ट क्रिया के धनी भी, ध्यान-साधक थे तो मौनी भी, ओजस्वी वक्ता थे तो प्रखर लेखक भी, इतिहास लेखक ही नहीं इतिहास निर्माता भी। वे स्वयं अपनी क्रिया में पूर्णतः प्राचीन परम्परा के हामी थे, पर उनके भक्तों में आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों का बाहुल्य था। ऐसे अद्भुत एवं विरल योगी के चरणों में कोटिशः वंदन-अभिवंदन।

—उपाध्यक्ष, अ. भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ,
सी-५५, शास्त्री नगर, जोधपुर-३४२ ००३
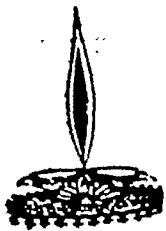
मेरे जीवन-निर्माता पूज्य गुरुवर्य !

□ श्री जगदीशमल कुम्भट

बाल्यावस्था में मेरी बड़ी मातुश्री श्रीमती राजकुंवर जी कुम्भट (वर्तमान में महासती श्री राजमती जी म० सा०) की सतत प्रेरणा से मुझे महामहिम आचार्य भगवन्त पूज्य गुरुवर्य के दर्शनों का सौभाग्य सं० २००७ में पीपाड़ चातुर्मास में मिला। मेरे नाना स्व० श्री मोहनराज जी भण्डारी के साथ मैं पीपाड़ गया। वह मेरे जीवन का स्वर्णिम अवसर था। भगवन् ने पूछा—क्या करते हो ? मैं कुछ जानता ही नहीं था इसलिए क्या जवाब देता ? भगवन् ने अत्यन्त आत्मीयता से कहा—२१ नमस्कार मंत्र गिना करो। मैंने हाँ भरी।

पीपाड़ में भगवन् के दर्शनार्थ जाने का मुझे तीन-चार बार और अवसर मिला। नमस्कार मंत्र से एक माला और फिर सप्त कुव्यसन के त्याग तक के प्रत्याख्यानों से प्रारम्भ संस्कार भगवन् के कृपा-प्रसाद से पल्लवित-पुष्पित होते रहे। आज भगवन् पार्थिव देह से विद्यमान नहीं हैं पर उनकी प्रेरणाप्रद हित शिक्षाएँ मुझे आगे बढ़ने को प्रेरित कर रही हैं।

वस्तुतः भगवन् मेरे लिए ही नहीं, सभी के लिए प्रेरणापुंज रहे। लाखों लाख भक्त भगवन् के कृपा-प्रसाद से जीवन-निर्माण की ओर आगे बढ़े हैं। मेरे सामाजिक क्षेत्र में आने के पीछे भी भगवन् की मुख्य प्रेरणा रही। युवक संघ की गतिविधियों से संघ-सेवा में मेरी सक्रियता बढ़ी। संघ-सेवा में यद्यपि मैं नया हूँ, फिर भी मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि रत्नवंश पूर्वाचार्यों की परम्परा और आचार्य भगवन् के बतलाये प्रशस्त मार्ग पर गतिशील है।

महामहिम आचार्य भगवन् के प्रशस्त मार्ग पर हम आगे बढ़ें तभी हमारा गुणगान करना और पुण्य तिथि मनाना सार्थक होगा।

—महामंत्री, अ० भा० श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ
नवकार, प्लाट-जी, दूसरी 'सी' सड़क, सरदारपुरा, जोधपुर-३४२ ००

गुरु हस्ती चालीसा*

□ श्री गौतम मुनि

महावीर मंगल करो, विद्या दो वरदान ।
चालीसा गुरुदेव का, गाऊँ हृदय धर ध्यान ।।

जय गजेन्द्र जय जय गुरु हस्ती ।
पार करो अब मेरी किस्ती ।।१।।

पौष सुदि चौदस दिन आया ।
बोहरा कुल का भाग्य सवाया ।।२।।

केवल कुल में हुए अवतारी ।
शोभा आपकी है अति भारी ।।३।।

जन्में शहर पीपाड़ में प्यारे ।
माँ रूपा के लाल दुलारे ।।४।।

धन्य शहर अजमेर के मांई ।
गुरु शोभा से दीक्षा पाई ।।५।।

बाल उमर में दीक्षा धारी ।
महिमा चहुँ दिश में विस्तारी ।।६।।

होकर आगम शास्त्र में लीना ।
लघु वय में ही भये प्रवीणा ।।७।।

पलक प्रमाद न था जीवन में ।
प्रतिपल रहते स्व चिंतन में ।।८।।

पाया बोध शास्त्र का गहरा ।
ज्ञान-क्रिया का योग सुनहरा ।।९।।

बीस वर्ष की वय अति छोटी ।
गुरुवर पाई पदवी मोटी ।।१०।।

पूज्य गुरु आचार्य कहाए ।
संत, सती, श्रावक मन भाए ।।११।।

विचर-विचर उपदेश सुनाया ।
फिर से जिनशासन चमकाया ।।१२।।

दर्शन पाने जो भी आया ।
हुआ प्रभावित अति हर्षाया ।।१३।।

धर्म ज्योति ऐसी प्रकटाई ।
लाखों भक्त बने अनुयायी ।।१४।।

आगम शास्त्र के थे अति ज्ञाता ।
जिनशासन में हुए विख्याता ।।१५।।

घर-घर ज्ञान का दीप जलाया ।
जग को धर्म का मर्म बताया ।।१६।।

वाणी में था जादू नामी ।
बने अनेकों सुपथ गामी ।।१७।।

धर्म ज्ञान की गंगा बहाई ।
पतित जनों की नाव तिराई ।।१८।।

सामायिक स्वाध्याय सिखाया ।
जन-जन को सन्मार्ग बताया ।।१९।।

चरण आपके जहाँ पड़ जाते ।
धर्म ध्यान का ठाठ लगाते ।।२०।।

*आचार्य श्री की मासिक पुण्य तिथि पर प्रवचन-सभा जोधपुर में मुनिश्री द्वारा प्रस्तुत कविता ।

महिमा आपकी सबसे महती ।
भीड़ सदा भक्तों की रहती ॥२१॥

रचे ग्रन्थ इतिहास पुराने ।
एक-एक से बने सुहाने ॥२२॥

जैन-जगत के दिव्य दिवाकर ।
रत्न वंश के गुण रत्नाकर ॥२३॥

धर्म-क्रांति का बिगुल बजाया ।
सोए हुए लोगों को जगाया ॥२४॥

सच्चे साधक थे महाज्ञानी ।
अनुपम योगी आतम ध्यानी ॥२५॥

भक्तों के भगवान थे प्यारे ।
जन-जन के थे एक सहारे ॥२६॥

परम दयालु करुणाधारी ।
मरता नाग बचाया भारी ॥२७॥

सूर्य समान हुए तेजस्वी ।
जग में चमके बने यशस्वी ॥२८॥

हुआ न होगा ऐसा योगी ।
लाखों में थे संत सुयोगी ॥२९॥

जिसने तेरा लिया सहारा ।
टल गया उसका संकट सारा ॥३०॥

जय गुरु हस्ती महा उपकारी ।
पल-पल याद करें नर-नारी ॥३१॥

वर्ष इकहतर संयम पाला ।
जिनशासन का किया उजाला ॥३२॥

जीवन अपना अन्तिम जाना ।
हर्षित हो संथारा ठाना ॥३३॥

आतम-शक्ति अनुपम बतलाई ।
अमिट कहानी एक बनाई ॥३४॥

आठम सुद वैसाख की जानो ।
रवि पुष्य का योग बखानो ॥३५॥

गाँव निमाज में स्वर्ग सिधाया ।
तेरह दिन संथारा आया ॥३६॥

जब तक नभ में चाँद सितारे ।
गुण गायेंगे सभी तुम्हारे ॥३७॥

जय गुरु हस्ती बोलो भाई ।
नाम जपत सब विघ्न नसाई ॥३८॥

जय गुरु हस्ती दीन दयाला ।
जपते आपके नाम की माला ॥३९॥

आओ गुरुवर फिर से आओ ।
पथ भूलों को राह दिखाओ ॥४०॥

जो नर यह चालीसा गावे ।
सुख, शांति, मंगल वह पावे ॥४१॥

'मुनि गौतम' गुरुदेव का, धरे हृदय में ध्यान ।
'हस्ती चालीसा' कही, देना मुझको ज्ञान ॥

जो यह चालीसा पढ़े, लगन सहित चित्त लाय ।
गुरु हस्ती मेहर करे, ता को सुख उपजाय ॥

□ □ □

गजेन्द्र सप्तक

□ श्री रिखबराज कर्णाव

हस्ती तेरा नाम है, केवलजी के लाल ।
आठ दशक पहले हुए, रूपा माँ के बाल ।।
रूपा माँ के बाल, पिता ने साया छीना ।
फिर भी ऊँचा भाल, धीरज माता को दीना ।।
यह संसार असार, नहीं है कोई बस्ती ।
लेवें संयम धार, कहा माता से हस्ती ।। १ ।।

एक दशक की आयु में, शोभा गुरु को पाया ।
दीक्षा ली अजमेर में, सबका मन हर्षाया ।।
सब का मन हर्षाया, देख नन्हा सा बालक ।
बोल उठे सब लोग, बनेगा यह संचालक ।।
है तेजस्वी बाल यह, इसमें मीन न मेख ।
जन-जन की यह वाणी, ऐसा लाखों में एक ।। २ ।।

बुद्धि देख बाल मुनि की, संत पड़े अचरज में ।
शोभा गुरु की दिव्य दृष्टि, परख रही पल-पल में ।।
परख रही पल-पल में, दिया ज्ञानामृत जम कर ।
पाँच वर्ष के काल में, भरा कोष अर्जित कर ।।
पाकर के विश्वास, गुरु शोभा दीना लेख ।
घोषित भावी पूज, श्री संघ ने बुद्धि देख ।। ३ ।।

बीस वर्ष के होते ही, चमके भानु समान ।
भाषा आगम शास्त्र का, भरा अनोखा ज्ञान ।।
भरा अनोखा ज्ञान, चतुर्विध संघ ने ठाया ।
आचार्य पद देकर, जोधाणे आनन्द छाया ।।
पाया चहुँ दिशि यश, दिग्गज संतों सी श्रदा ।
दिया ज्ञान का रस, देश-भ्रमण करके सदा ।। ४ ।।

अनेक ग्रन्थ आगम लिखे, लिखा जैन इतिहास ।
ज्ञान क्रिया थी अति प्रबल, आचार्यों में खास ।।
आचार्यों में खास, फैलाया स्वाध्याय संघ ।
फैली सुगन्ध सुवास, प्रेम समन्वय के रंग ।।
व्यसन निवारण काज, नगर ग्रामों में जूझे ।
अहो गरीब नवाज, दीन हरिजन भी पूजे ।। ५ ।।

इक्यासी की आयु में, पहुँचे गाँव मंझार ।
निमाज गाँव तीरथ बना, ठा संथारा सार ।।
ठा संथारा सार, आये लाखों नर-नारी ।
धन-धन आकर हुए, दर्शन बने सुखकारी ।।
गंगवाल भवन का फैला, चहुँ दिशि नाम ।
हुई बड़ी सराहना, भंडारीजी का काम ।। ६ ।।

शुक्ल पक्ष वैसाख की, तिथि अष्टमी जानो ।
गजब संथारा दीपा, यह कल्याणक मानो ।।
यह कल्याणक मानो, खबर हवा में फैली ।
डेढ़ लाख लोगों की, अंतिम झांकी रैली ।।
परम पुरुष गजेन्द्र को, वन्दन हो वारम्वार ।
संसार सागर तरे, जो लेवे शिक्षा धार ।। ७ ।।

'ऋषभायतन', रोड I सी, सरदारपुरा, जोधपुर–३४२ ००३

दिव्य पुंज वह 'जिनवाणी' का

☐ सीता पारीक 'आराधना'

अनचाहे आँखों में आया, उस दिन महा अंधेरा था,
सूरज था अम्बर के पथ पर, भू पर नहीं सवेरा था ।
दिव्य ज्योति धरती से उठकर, दूर सभी से चली गई,
महाकाल ने मानो सबके, मन को आकर घेरा था ।।
जहाँ-जहाँ भी चरण पड़े, वे पथ सारे ही रोते थे,
रोता-रोता कहता हर पथ, हस्ती गुरु तो मेरा था ।
जन-मन की श्रद्धा के केन्द्र, हस्तीमल महाराज बने,
इतिहासों के पन्नों पर, बन आया वही उजेरा था ।।
मिट्टी उस निमाज नगर की, क्षण-क्षण महक रही है,
महा सन्त का अन्तिम-क्षण में, हुआ वहीं पग फेरा था ।
स्मृति शेष रही हस्ती की, बस्ती-बस्ती बोल रही,
दिव्य पुंज वह 'जिनवाणी' का, क्या मेरा क्या तेरा था ।।
संयम ले जप तप के संग, करी साधना जीवन भर ।
इसलिए 'आराधना' जग, उनका बना चितेरा था ।।

—केकड़ी रोड, बिजय नगर, अजमेर (राज.) ३०५ ६२४

दो कविताएँ

[१]

जब एक तारा जगमगाता

☐ खटका राजस्थानी

प्रथम वैशाख सुदी अष्टमी,
रविवार, पुण्य नक्षत्र ।
जब एक तारा जगमगाता,
टूट करके गिर गया था ।
तमस कुछ गहरा हुआ,
लगा समय भी ठहरा हुआ ।
सांझ आँसू ढालती थी,
सिसकियों को पालती थी ।
गगन पल-पल रो रहा था,
चाँद बोझिल हो रहा था ।
हर अश्रुपूरित नैन था,
हर हृदय भी बेचैन था ।
हुई आत्मा वह लीन थी,
देख दुनिया यह गमगीन थी ।
हस्ती मस्ती में थे सोये,
और सब थे खोये-खोये ।
मंद सारे साज थे,
सब जा रहे निमाज थे ।
जिन रत्न अद्‌भुत खो गया,
औचक यह क्या हो गया ?
प्रथम पुण्य तिथि पर मेरी,
लीजिए गुरु-वन्दना,
कीजिए इस विश्व की,
दूर सारी क्रन्दना ।

—कवि-कुटीर,
विजय नगर—३०५ ६२४

[२]

पूजित हुए तप-कर्म

☐ श्री प्रेमचन्द रांका 'चकमक'

युगों-युगों से पूजित,
होते आए संत सदा है ।
तप-त्याग का कीर्तिस्तंभ,
बने, वही संत यहाँ महा है ।
किया सदा पर उपकार,
धरा सच धन्य हो गई ।
पाकर आचार्य प्रवर के चरण,
सदा के लिए उरण हो गई ।
थे चलते-फिरते तरु,
दया की धाम बन गए ।
आगमज्ञाता शास्त्रज्ञ,
सच में अवतार बन गए ।
जो भी गया गुरु-शरण,
उसके कष्टों का किया वरण ।
आप गुणों की थे खान,
जग वन्दनीय हुए चरण ।
जब तक रहेगा नाम,
सितारे औ चन्द्र रहेगा ।
परहित की गाथा तो,
हर डगर हर ग्राम कहेगा ।
आपकी गाथा गाएं-लिखें,
रोशनाई इतनी कहाँ है ?
पूजित हुए तप-कर्म किया,
गूंजा जग में नाम आप महा हैं ।
जिस ठौर आपके पड़े,
चरण, रज बनी पूजित है ।
चढ़ाली जिसने निज मस्तक,
पूंजी जैसे की अर्जित है ।
'चकमक' झुकाता निज शीश,
कोटि-कोटि बार आपके ।
बंधन कटते जपने से नाम,
कटते भवों के कर्म आप के ।

—गुलाबपुरा (भीलवाड़ा) राज.

श्रद्धांजलि-पत्र

आज वे नहीं होकर भी हैं और रहेंगे

प्रो० कल्याणमल लोढ़ा

२ए, देशप्रिय पार्क ईस्ट
कलकत्ता-७०००२६

६.२.६२

प्रिय बन्धु,

अभी-अभी 'आचार्य गुरु हस्ती महिमा' स्तुति [संकलनकर्ता : श्री जवाहरलाल बाघमार] लघु स्तवन पुस्तिका मिली। ज्योंही इसे खोला, मेरी दृष्टि इस वाक्य पर पड़ी 'जिनके विमल प्रताप से हुआ हिताहित ज्ञान' और फिर स्मरण आया कि अरे ! पूज्य आचार्य श्री के निर्वाण दिवस को प्राय: एक वर्ष हो गया, केवल दो मास ही बाकी हैं। समय प्रतिक्षण भाग रहा है, उसकी द्रुतगति हमें पीछे, बहुत पीछे ढकेल रही है। 'शिव महिम्न स्तोत्र' में कहा गया है 'नास्ति तत्त्वं गुरो परम्'—गुरु से श्रेष्ठतर कोई तत्त्व नहीं है। वही परम तत्त्व है—वही हिताहित का ज्ञान कराने वाला। हमारे आचार्य श्री ने भी हमें कहा था सही, पर हम उसे कहाँ तक जीवन में उतार पाए, रख पाए ?

एक प्रसंग याद आ रहा है। महात्मा गांधी को सियाराम शरण गुप्त अपनी कृति 'बापू' की वे पंक्तियाँ सुनाने लगे 'तेरे तीर्थ सलिल से प्रभु यह मेरी गगरी भरी भरी।' इसे सुनकर महादेव देसाई हँस पड़े। पूछने पर सटीक उत्तर दिया 'तीर्थ जल से गगरी तो भरी तो सही, पर उसमें जल रहा कितना ? कहीं ऐसा तो नहीं कि गगरी के किसी अज्ञात छिद्र से भरा हुआ तीर्थ जल बराबर बाहर निकल रहा हो' पते की बात है। सोचता हूँ—हमने भी पूज्य आचार्य गुरुदेव के श्री चरणों में बैठकर 'सामायिक स्वाध्याय महान' का संदेश सुना, अपने जीवन के लक्ष्य का संधान पाया, हिताहित का ज्ञान, मांगलिक उज्ज्वल चारित्र की महिमा—बहुत कुछ, पर वह कितना, कहाँ और कैसे जीवन में विद्यमान रहा ! 'ऋग्वेद' कहता है 'आरैक् पन्थां यातवे सूयभि, अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयु:।'

अभी वसन्त का समय है—प्रकृति अपना दिव्य और स्वर्गिक शृंगार कर रही है, इधर प्राची में अरुणोदय हो रहा है। चाहते हैं कि हम आगे ही आगे बढ़ते रहें, गतिमय रहें, अभय। अन्तरतम में परम ज्योति की आशा फैले। गुरुदेव ने भी कहा है 'मेरे अन्तर भया प्रकाश।'—इस सबके परिप्रेक्ष्य में सोचता हूँ क्या हम उस गति की, उस प्रकाश की, धारणा-ध्यान की, यम-नियम की, सामायिक-स्वाध्याय की अल्प मनस्विता प्राप्त कर पाए? उसकी कुछ भी उपलब्धि हुई? प्रश्न मेरा है, उत्तर आपका! क्या देवलोक से आचार्य श्री हमें देखकर कहीं विस्मित तो नहीं हो रहे हैं, कहीं उपहास तो नहीं कर रहे हैं कि हमारी कथनी और करनी में, आचार और विचार में, अधिकार-कर्तव्य में, साधन-साध्य में कैसी विसंगति-विषमता व्याप्त हो गयी? क्यों, कैसे और कहाँ? आचार्य श्री के महा प्रयाण के पुण्य दिवस पर आज मन इन विकल्पों से न जाने क्यों भयाकुल हो रहा है? बाहर और भीतर के इस अलंघ्य अन्तराल को कौन मिटा सकेगा?

अपने में सब कुछ भर कैसे, व्यक्ति विकास करेगा,
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, सबका नाश करेगा।
—जयशंकर प्रसाद

क्षमा करें! आपने लिखा था आचार्य श्री पर कुछ लिखने को, पर यह भी तो 'भक्ति युक्त आचार्य गुरु श्री हस्ती का धरूं हृदय में ध्यान' से ही तो लिख रहा हूँ। मैंने उनके 'ध्यान' को देखा है—उस अगाध अंतर्धारणा को, योग की चिदाकाश धारणा को, अन्तर्मौन को, जिसमें आत्म साक्षात्कार स्पष्ट होता है। यही तो योग निद्रा है—जिसमें आन्तरिक व्यक्तित्व अध्यात्म की चरम सीमा पर आत्मबोध करता है। योग निद्रा में ही तो शारीरिक केन्द्रों की स्थिति अन्तर्मुखी हो जाती है। यही तो व्यक्तित्व की गहराई में होने वाला नाद-योग है। मैंने आचार्य श्री में इसी नादानुसंधान को उनके अन्तिम समय में और जीवन में देखा है। विलियम जेम्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'धार्मिक अनुभवों के विविध आयाम' में लिखा है "आध्यात्मिक तेजस्विता में उल्लास व आनन्द की बाढ़ आ जाती है। लगता है यह विश्व जड़ पदार्थ नहीं है, बल्कि हर चीज में एक जीवन्त सत्ता है। इस विश्व-व्यवस्था में हर वस्तु एक-दूसरे के हितार्थ कार्य करती है। सम्पूर्ण विश्व का मूल सिद्धान्त प्रेम तथा परोपकार पर, करुणा और दया पर आधृत है। यह आध्यात्मिक प्रगति और अनुभव भाषा के परे हैं। लगता है कि मनुष्य समग्र सृष्टि का एक आवश्यक, आत्मीय और महत्त्वपूर्ण अंग है—अविभाज्य।" कई बार मैंने आचार्य श्री के ध्यान में, मौन में, योग-साधना में यही देखा है और उसे समझने की चेष्टा की है, पर कहाँ "अन्तवन्त हम हन्त कहाँ से वह अनन्तता लावें।"

पूज्यपाद ने ही तो हमें बताया था "स्वाध्याय ध्यान सम्पत्तया परमात्मा प्रकाशते"—यही तो परमात्मा की प्राप्ति का साधन है—'स्वाध्यायाद् ध्यानम्-ध्यस्तां ध्यानात् स्वाध्याय भाभनेत्।' 'दशवैकालिक' के चार उद्देश्यों को न जाने कितनी बार उनके श्री मुख से सुना है—पढ़ा है—स्वाध्याय से ज्ञान प्राप्ति होती है, चित्त एकाग्र होता है, समाधि व शांति में स्थापना होती है—दूसरों को भी इसमें ले जाते हैं। पर क्या हम स्वाध्याय से यह सब कर पाए हैं ? 'जिन-वाणी' पत्रिका में उनके किसी प्रवचन में पढ़ा था—

'जं इच्छसि अप्पणतो, जं च णं इच्छसि अप्पणतो,
तं इच्छ परस्स वि, एत्तिएगं जिण सासणं।

जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए भी चाहो, जो अपने लिए नहीं चाहते, वह दूसरों के लिए भी नहीं—यही जिन शासन है। है तो, पर हम करते हैं ठीक इसके विपरीत, चाहते हैं अपने लिए कुछ और दूसरों के लिए कुछ और ! कैसा वैपरत्य आ गया है ?

कुछ दिनों पूर्व नालडियार, (आचार्य पदुमनार-रचित-प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित) सुभाषित संग्रह मिला। उसमें षट उपदेश थे। अच्छे लगे—महत्त्वपूर्ण।

अवेहि धर्म भव काल भीत:, परेरितं मा श्रुणं घोर वाक्यम्।
त्वं वंचनां मुंच कुमार्ग गन्त्रा मा याहि, वाक्यं महतां श्रुणु त्वम् ।।१७२।।

जानो तुम धर्म का पथ, रहो काल से भीत, कटु वाक्य से बचो, निष्कपट रहो, खल व्यक्तियों को तजो और सज्जन-संतों के उपदेश से जीवन का विकास करो। हर धर्म, हर आचार्य, हर संत यही बताते हैं। हमारे आचार्य श्री ने तो बार-बार यही बताया, यही सिखाया, 'सब से करते मेल चलो'—पर न जाने क्यों हम केवल सुनते ही रहे। इसे गुनने का अवकाश ही नहीं मिला। कैसी विडम्बना है यह ?

❀ ❀ ❀

आकाशवाणी के केन्द्र से महादेवी का यह गीत प्रसारित हो रहा है :—

तन्द्रिल निशीथ में ले आए, गायक तुम अपनी अमर बीन।
प्राणों में भरने स्वर नवीन !

तममय तुषारमय कोने में, छेड़ा जब तुमने राग एक।
प्राणों-प्राणों के मंदिर में, जल उठे बुझे दीपक अनेक ।।

सही है, नितान्त अक्षरश: सत्य। जीवन की तमिस्रा में—तंद्रिल अवस्था में वह महान् गायक अपनी अमर बीन बजा गया, भर गया हमारे तमपूर्ण तुषारमय जीवन में नवीन राग और जल उठे प्राणों में बुझे हुए दीपक। दीप्तिमय हो गया परिवेश, और पर्यावरण। पर उस अमर बीन-रागिनी की समाप्ति पर—क्या वही 'तममय तुषारमय जीवन का कोना कोना—पुन: जड़ नहीं हो गया है? यदि हुआ है तो क्यों, किसलिए? आज भी वह दिव्य राग देवलोक से गुंजरित हो रही है। पर क्या हमारे कर्ण उसे सुन पा रहे हैं? क्या वह अनहद नाद आज आहत तो नहीं है हमारे मिथ्याचार से, कृत्रिम अहं से, दूषित आचार-विचार से? हम भूल गये हैं महावीर को, भूल गये हैं जिन शासन की महान् परम्परा को, कहाँ याद है गौतम, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, नानक, गांधी, अथवा एक शायर के शब्दों में—'किसे याद है इस बस्ती का वीरां होना।'

❀ ❀ ❀

आकाशवाणी का गीत, गायन समाप्त हो गया और मेरी विचार-शृंखला भी मुड़ गयी। हाँ, तो आचार्य श्री की प्रथम पुण्य तिथि निकट आ रही है। वे बता गये थे 'कर्म-निबद्धो जीव: परिभ्रमन् यातनां भुक्ते' (सुबोध रत्नाकर) कर्म-पाश में वंधे हुए हम दुख भोग रहे हैं। किस साहस से मनाएँ उनकी पुण्य तिथि! क्या इस पर्व पर यह आवश्यक नहीं है कि हम 'पहावन्तं नि गिराहामि सुच्च रस्सि समाहियं'। इस मन रूप अश्व को ज्ञान की लगाम आवश्यक है, जिससे यह इधर-उधर न हो। यही तो उनका सामायिक-संदेश भी था। कृष्ण मूर्ति कहा करते थे 'मनोतीत बनो—मन को अमन करो।' जो मन में छिपा है, उसे पकड़ो, तब शुद्ध भावना जाग्रत होगी, वहीं मनुष्य 'द्वि भुज: परमेश्वर बनेगा। वहीं 'सेवंतो विण सेवइ' भोगते हुए भी नहीं भोगेगा, नहीं भोगते हुए भी भोगेगा। (आचार्य कुंदकुंद)। परमाचार्य हस्ती भी तो यही बताते थे 'सावद्य योग विरति: सामायिकम् - वीतराग भाव की साधना के लिए सावद्य त्याग रूप का आराधन सामायिक है। यही जीवन का उपयोग भी है—'जीवो उवयोग लक्खणो।'

जब मैंने समाधि मरण काल में आचार्य श्री के दर्शन किये थे—गुरुदेव की परिक्रमा की थी—तिक्खुतो का पाठ किया था, मुझे लगा कि जीवन एक विन्दु पर आकर कितना निर्मूल्य हो जाता है—जब जीवन निर्मूल्य होता है तब मृत्यु का भी क्या महत्त्व रहेगा—वह भी निर्मूल्य होगी। मृत्यु का उतना ही मूल्य और महत्त्व है, जितना जीवन से हम उसमें डालते हैं। जीवन को बचाने की कामना ही मृत्यु से बचने की कामना होती है। यही सत्य का ध्रुव केन्द्र है—जिससे अमृत का द्वार खुलता है—जिजीविषा, सिसृक्षा, विजीगिषा—माया,

मोह, मान, ममत्व सभी स्वतः समाप्त होते हैं। फ्राइड ने मनुष्य की दो आकांक्षाओं को ही तो मूल गिना था—इरोस—जीवेषण और थानाटास—मरणेच्छा। समाधि मरण इन दोनों से परे है—न तो जीवन की इच्छा है और न मरण की। उस दिन पूर्वाह्न में आचार्य श्री की शांत मुद्रा को देख कर लगा था कि कैसी अलभ्य शांति है—यह। ईसा मसीह ने कहा था, जो अपने को बचायेगा, वह मिट जाएगा। जो मिट जाएगा, वह बच जाएगा। यहाँ जीवन अकूल हो जाएगा। सीमाएँ मिट जाएँगी। समता का अमृत तत्त्व प्राणों में प्रवहमान होगा।

आज विज्ञान ने जिस सृष्टि-ऊर्जा का अनुसंधान-अन्वेषण किया है—वही मानवीय जीवन में परमोच्च है। प्रकृति के पेड़-पौधों से लेकर चराचर जगत् में ऊर्जा सतत प्रवहमान है। रूस के किरलिमान ने अपनी फोटोग्राफी की हाई फ्रिकवेंसी विकसित की। मनुष्य के हाथ के चित्र के साथ उसके परिपार्श्व में फैली हुई किरणें भी चित्र में आती हैं—आसपास के विद्युत जाल (मेगनेटिक फील्ड) का भी चित्र आता है। विक्षिप्त, निराश, निषेधात्मक विचारों और कुप्रवृत्तियों से भरे मनुष्य का चित्र भी अराजक, दूषित और रुग्ण होता है। इसके विपरीत शुभ भावनाओं और सदाचार का चित्र लयबद्ध, सुन्दर और सानुपातिक होगा। वैज्ञानिकों का कहना है कि जीव और अजीव में केवल एक ही भेद है आभा-मंडल का। जो जीवित है उसके पास आभा-मंडल है। उसकी क्षीणता मृत्यु के समय होती रहती है पर महान् मनुष्यों का आभा-मंडल यों ही निःशेष नहीं होता। सत्पुरुषों का आभा-मंडल व्यापक होता है। आचार्य श्री के अन्तिम समय में यह आभा-मंडल जैसे स्पष्ट रूप से भासित हो रहा था—आलोक किरणें प्रसारित हो रही थीं। यह चमत्कार नहीं, वैज्ञानिक सत्य है। भाव-जगत् के रहस्य और मंगल व लोकोत्तम सूत्र स्वतः स्पष्ट थे।

जो जीवन में महान् रहा—आदर्श का मूर्त रूप श्रमण संस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक—वही महाप्रयाण के समय भी वैसा। आत्म-सिद्ध। यही तो मनुष्य जीवन की विशेषता है 'विदत् स्व ज्योतिर्मन वे ज्योतिरार्थम्' मनुष्य को यही दिव्य ज्योति मिली है। सचमुच आचार्य श्री ज्योतिष्पुंज थे। भारतीय मान्यता है कि जब दुर्लभ देवात्माएँ पृथ्वी पर आती हैं और जब ये प्रयाण करती हैं, तब पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त एक विचित्र दिव्यता व्याप्त हो जाती है। भारतीय मनीषियों ने इसका विभिन्न-रूपेण वर्णन किया है—आचार्य श्री के जन्म और प्रयाण के समय यदि मलयानिल रहा हो, यदि आकाश ने वृष्टि की हो, पृथ्वी ऋषिगंध से पूर्ण हुई हो, यदि मेघमालाओं ने छाया दी हो, और दी थी, तो यही स्वीकार करना पड़ेगा कि एक दिन उनकी देवात्मा ही पृथ्वी पर अवतरित हुई थी और उसी ने महाप्रयाण भी किया। उनका जीवन जिन सत्संकल्पों और आदर्शों से परिपूर्ण रहा, जिसमें कोमलता, करुणा का अजस्र प्रवाह बहता रहा—

साधना के उच्चतम सोपान आते रहे—गुणों और लेश्याओं का तेज स्वतः खुलता रहा और लोक जीवन को नैतिक मर्यादाओं से हमें निष्णारत करने की अनवरत अभीप्सा रही—वही तो सच्चा गुरु और आचार्य था।

आज वे नहीं होकर भी हैं और रहेंगे। पर, पर वही प्रश्न पुनः-पुनः मस्तिष्क में उभर रहा है, जिससे मैंने यह श्रद्धांजलि प्रारम्भ की थी। अब उसी से इसका समापन भी करूं। उस तीर्थ जल में निरन्तर अवगाहन करके भी क्या हम अपने कषाय और कालुष्य को एक लघु सीमा तक भी दूर कर पाए? क्या हम उस महान् आचार्य के शिष्यत्व पर आज सही गर्व कर सकते हैं? क्या हम सभी सौमित्र-रेख से तो नहीं बंधे हैं। हैं तो आज आवश्यक है हमारे लिए भी अन्तर्यात्रा। कबीर ने बहुत पहले ही कहा था—'कर का मनका छांड़िके, मन का मनका फेर' यह मन का मनका ही तो मन को निर्बन्ध करेगा। वही संघ की शक्ति होगी—वही सच्ची श्रद्धांजलि भी। वही श्रावक धर्म की यथार्थता और अर्थवत्ता भी। 'तीर्थनां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचि'—सार्थक है वेद व्यास की यह उक्ति। आकाशवाणी से प्रसारित महादेवी के गीत की अन्तिम पंक्ति दोहरा दूं। आचार्य देव के अनुग्रह से 'दिव से लाए फिर विश्व जाग चिर जीवन का वरदान छीन' और 'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु'। यह हो तभी उनका मरण पर्व हमारा भी पुण्य पर्व होगा, अन्यथा............???

डॉ. नरेन्द्र भानावत
सम्पादक, 'जिनवाणी'
जयपुर।

आपका
कल्याणमल लोढ़ा

अमृत - कण

- मरण-सुधार जीवन-सुधार है और जीवन-सुधार ही मरण-सुधार है।
- जब अजेय यम का आक्रमण होता है और शरीर को त्याग कर जाने की तैयारी होती है तब जवाहरात के पहाड़ भी आड़े नहीं आते। मौत को हीरा-मोतियों की घूस देकर, प्राणों की रक्षा नहीं की जा सकती।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

युगाचार्य तपस्वी संत

☐ मधुश्री काबरा

पूज्य हस्तीमल जी महाराज़ साहब की इहलोक लीला समाप्त हो गई और वे मोक्षधाम सिधार गये—एक तपस्वी संत का सान्निध्य ही नहीं एक युग समाप्त हो गया। यहाँ युग एक व्यक्ति के कार्यकाल से देखा जाएगा। एक तपस्वी संत की तरह उनका पदार्पण हुआ और अपने जीवनकाल में समाज को, धर्म को इतना कुछ दे दिया कि उसकी तुलना किसी एक लेख या पुस्तक से संभव नहीं हो पाती। ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। दूसरी बात धर्म की परम्परागत सेवा करना, रूढ़िग्रस्त स्थितियों में बंधे रहकर उसी दायरे को सीमा मानकर चलते रहना, यह भी एक सेवा है, परन्तु जो उसमें नया परिवर्तन लाए, नई दिशा दे—समय के बहाव की परवाह न करते हुए धर्म की सही परिभाषा की बात कहे, जिसके लिए प्रियता-अप्रियता का कोई महत्त्व नहीं होता, उनके लिए तो केवल एक ही बात, एक ही कर्तव्य—वह है सिद्धांतों का प्रतिपादन, सिद्धांतों के प्रति निष्ठा, उसी को कर्तव्य मानकर चलते रहना—भले ही समय लगे, लोकप्रियता, लोकचाहना की पराकाष्ठा या चरमसीमा की परवाह न करे, केवल ठोस निष्ठावंत लोगों के अल्प समुदाय को महत्त्व देकर अपने मिशन को आगे बढ़ाते जाना—"युग" को नया बोध देना, नई दिशा देना—यही युगपुरुष की पहचान है। युग बदलने वाला व्यक्ति ही युगपुरुष कहलाता है—ऐसे व्यक्ति दुर्लभ होते हैं, बहुत पुण्यपारमी से ही उनका अवतरण होता है।

पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म तो होता ही रहेगा, एक वह जो केवल अपने लिए जीता है, दूसरा अपने परिवार की हद तक सोचता है, तीसरा समाज के लिए तो चौथा देश और दुनिया का हित सोचता है। ऐसे लोग ही पुरुषोत्तम कहलाते हैं, जो अपने अलावा समग्र मानव जाति का कल्याण करते हैं। आज के समय में देखते हैं कि लोग धर्म की पूजा-पाठ बड़ी तन्मयता से करते हैं और कोई वास-उपवास भी शक्ति के बाहर कर लेते हैं। धर्म की स्थूलता या बाह्याचार की क्रियाएँ उनके मानसिक सुख-समाधान के लिए जरूर स्तुत्य हैं, परन्तु उसका उद्देश्य क्या है? धर्म और समाज को उससे क्या लाभ हुआ, यह बताने की क्षमता उनमें नहीं होती। इसलिए उनकी वह धर्म सेवा केवल एक अनुकरण

होता है। दूसरा वह है, जो उसके तत्त्व को समझ कर करता है, तीसरा वह होता है, जो समझता है और दूसरों को भी प्रेरित करता है। सेवा या त्याग वही सार्थक है, जो समझपूर्वक है, जिसका अर्थ स्वयं के अलावा दूसरे भी समझ सकें। आशय यह नहीं कि उसका ढिंढोरा पीटा जाए या प्रसिद्धि प्राप्त की जाए—प्रसिद्धि या निज स्वार्थ की कामना छोड़कर विशुद्ध परोपकारी भाव से सेवा और त्याग किया जाए, तभी उसकी सार्थकता है।

पूज्य महाराज साहब पीपाड़ की एक 'हस्ती' के रूप में प्रसिद्ध हुए, हर कोई उनकी सेवा, साधना, ज्ञान व मार्गदर्शन की प्रशंसा करता था। मेरी निजी मुश्किली रही कि मैं समझ पकड़ने के साथ ही पीपाड़ छोड़कर बम्बई में बस गया, अतः आचार्य श्री के दर्शनों का लाभ चाहते हुए भी नहीं ले पाया। मुझे जैन परम्परा का भी बहुत आभास नहीं था, इसलिए एक-दो बार पत्र लिखे तो उनकी तरफ से किसी श्रावक महोदय ने ही जवाब दिया। मुझे जो मार्गदर्शन चाहिए था वह उन्होंने एक सन्देश के साथ लिख दिया और पत्र की समाप्ति में एक वाक्य "आचार्य श्री ने निरन्तर 'स्वाध्याय' करने का सन्देश दिया है।"

मैं तब उनके इस स्वाध्याय सन्देश को समझ नहीं पाया, मगर इस तपस्वी संत की इतनी कीर्ति है तो उनके दर्शन जरूर करने चाहिए, मगर हरदफा कोई न कोई निजी दुविधा बाधक बन जाती थी। उनके चातुर्मास ही निश्चित मुकाम पर होते थे बाकी समग्र विहार पर रहते और वहाँ पहुँचना सम्भव नहीं बन पाया—इसलिए उनके प्रति निरन्तर मन का आकर्षण बढ़ता ही गया।

कहीं भी साधु महात्मा से मिलने का सौभाग्य मिलता तो उसे लेने का कोशिशपूर्वक प्रयत्न करता, कभी-कभी धर्मचर्चा या किसी दैनिक जीवन संबंधित, समाज संबंधित प्रश्न पर भी चर्चा करता, उनसे मतमतांतर भी बनता, लेकिन उनके प्रति श्रद्धाभाव में कभी कोई कमी नहीं आती। जैन साधु संतों के बारे में आज भी मेरी यह धारणा है कि दूसरे साधुओं की तुलना में उनका जीवन व अनुशासन अधिक कड़ा और त्यागमय है। दूसरे सम्प्रदायों के साधु महात्माओं के लिए अधिक सुख-सुविधाएँ व वैभव आदि को निज आँखों से देख चुका हूँ—उनकी तुलना में मुझे जैन साधुओं का जीवन अधिक त्यागमय लगा है। हालांकि देखने वाले तो उनमें भी शिथिलता देखने लगे हैं, परन्तु जिस समाज व दुनिया में जहाँ इतनी भौतिक सुख-सुविधा का बोलबाला हो चुका है, वहाँ इन जैन साधु समाज के लिए जो भी नियम-बंधन अनुशासन के रूप में लागू हैं वे निश्चित ही उनके त्याग के प्रतीक हैं। दूसरी बात जहाँ इतना बड़ा समूह है, इतनी बड़ी संख्या साधुसंतों की है, उसमें इस भौतिकता से प्रभावित कुछ कमजोर मन के लोग भी निकल सकते हैं। मैं उसे गौण ही मानता हूँ, हालांकि उन पर भी अनुशासन

का अंकुश जरूर रहना चाहिए। तो उनके त्याग-तपस्या की जहां प्रशंसा करता हूँ, वहाँ मेरी खोजी आँखें उनके मार्गदर्शन पर भी लगी रहती हैं। मैंने पाया कि अधिकांश विद्वान् संत केवल लीक पर चलने वाले होते हैं, वे उस बंधी हुई परम्परा से बाहर निकलने का प्रयास नहीं कर पाते या फिर उनमें साहस या वैसा चिन्तन नहीं होता होगा। दूसरी बात जो मैंने मार्क की वह यह भी है कि उन साधु महात्माओं का जीवन त्यागमय तपस्यापूर्ण जरूर है, परन्तु उनके इर्दगिर्द वैभवी लोगों का प्रभावी जमघट भी देखा—उनकी प्रवृत्तियों में, उनके चातुर्मास में वैभव का प्रभाव भी देखा, धन का बोलवाला देखा। जिसका परिणाम समाज के आयोजनों में, धार्मिक आयोजनों में, श्रावकों की तपश्चर्या में, सभी जगह "धन" को एक प्रचलित रिवाज के रूप में देखा जा सकता है—इस तरह धन के प्रभाव को धर्म में, समाज में आम स्वीकृति मिल चुकी है। दूसरे शब्दों में कहीं-कहीं धन का प्रभुत्व धर्म से भी अधिक या धर्म पर धन का प्रभुत्व छा गया है, ऐसा कहने में भी मुझे कोई दोष नहीं दे सकता। मैंने यह भी देखा है कि समाज में धन का प्रभुत्व इस हद तक बढ़ा है जिसके कारण जो गैरजरूरी लेनदेन, गलत रिवाज आदि खुशी के मौकों पर खासकर विवाह-सगाई के अवसर पर काफी बढ़ गया है, उसका भी औचित्य है या नहीं, यह एक अलग प्रश्न है। परन्तु उससे भी आगे धर्म-साधना, व्रत-उपवास जो धर्म की भावना से आत्मशुद्धि के लिए किये जाते हैं, उन तपश्चर्या के कार्यक्रमों में भी वही लेनदेन के रिवाज आम बनते जा रहे हैं। आयोजन चाहे दीक्षा का हो, चातुर्मास का हो, या वास-उपवास का हो सभी जगह 'धन' का यह प्रभुत्व, धन का यह चलन उद्देश्यों का भटकाव सा लगने लगता है। उस पर मैंने कभी किसी को आवाज उठाते नहीं देखा।

प्रथम बार जब आचार्य प्रवर पूज्य हस्तीमल जी महाराज साहब के दर्शनों का सौभाग्य मिला तो वहाँ उनके प्रवचनों में मार्गदर्शन में इस बात का स्पष्ट निर्देश मिला—

वास-उपवास, धर्म, साधना आदि आत्मशुद्धि के लिए हैं, लौकिक रिवाज नहीं, इनमें इस तरह का वैभवी प्रदर्शन हर्गिज नहीं होना चाहिए। लोग उन्हें तपश्चर्या के रूप में ही करें और यह देखें कि इन रिवाजों से किसी को कष्ट नहीं पहुँचे। धर्मसाधना जब रिवाज का रूप ले लेगी तो हर कोई साधना के पहले रिवाज को सोचेगा—इसे करने से मुझे कितना खर्च करना होगा, किस रिश्तेदार को क्या-क्या देना होगा—रिश्तेदार भी सोचने लगते हैं कि अमुक से अमुक रिश्ता है, उसे रिश्ते के अनुरूप 'व्यवहार' करना होगा और वह व्यवहार भी एक रिवाज बन जाता है। अतः तपश्चर्या, धर्म साधना आदि गौण हो जाती हैं, दुय्यम हो जाती है और 'रिवाज' प्रथम क्रम बन जाता है—दूसरी बात धर्म

का धन से या रिवाज से कोई वास्ता नहीं है। धर्म तो भावना से जुड़ा है, कई गरीब केवल इसलिए धर्म साधना से वंचित रह जाते हैं कि उनके पास 'रिवाज' पूर्ति की व्यवस्था नहीं होती या उस हेतु बजट नहीं होता। इस तरह हम धर्म को 'रिवाज' से बांधकर, एक प्रकार की कुसेवा ही करते हैं। अतः धर्म साधना से 'रिवाज' को मत जोड़ो—यह बात महाराज साहब ने काफी भारपूर्वक कही, जो मुझे अन्यत्र सुनने को नहीं मिली।

दूसरी बात वे उस श्रावक को, भाविक को यह भी पूछते थे कि व्यवसाय के सिवाय भी कोई काम करते हो? उनका मतलब होता सेवा से। वे उन्हें इस हेतु प्रेरणा भी देते—देखो! मनुष्य तो अपनी जरूरत किसी न किसी रूप में पूरी कर लेगा। मनुष्य अगर भूखा है, कष्ट में है तो अपनी वाणी द्वारा शोर-शराबे या प्रचार द्वारा भी अपने लिए अपनी गुहार समाज या सरकार तक पहुँचा देगा—परन्तु ऐसे जीव जो सृष्टि की, मनुष्य की सेवा करते हैं, उनके कष्ट तो वे मूकभाव से सहते रहते हैं, अतः उनकी सेवा के लिए कोई न कोई उद्यम/प्रयास करो।

मुझे याद है—मैं भी एक बार महाराज साहब के दर्शनों के लिए गया था तो किसी ने प्रशंसायुक्त शब्दों में वर्णन किया, 'बाबजी, हमने स्कूल बनाई है, हॉस्पिटल बनाया है', उसे लगा कि कोई शाबाशी मिलेगी—आचार्यश्री ने केवल इतना ही कहा—अच्छा किया है, मगर पशु-पक्षी के लिए भी तो कोई सेवा करो—इतना भीषण दुष्काल पड़ा है, जहाँ आदमी की फिकर में तो सभी लगे हैं, आदमी का वोट होता है, इसलिए उसकी परवाह होगी, मगर उनका क्या जो मूक हैं, जिनका वोट भी नहीं है। गाय, कबूतर आदि के लिए भी कोई सेवा शुरू करो। उनकी इस प्रेरणा को लेकर कइयों ने अपने-अपने ढंग से गऊशालाएँ, पक्षीविहार आदि का निर्माण किया, कराया। मतलब कि महाराज साहब ने केवल धर्म-साधना को ही मार्गदर्शन का विषय नहीं माना बल्कि ऐसी दूसरी उपेक्षित सेवाओं को भी अपना लक्ष्य बनाया।

तीसरी महत्त्वपूर्ण देन आचार्य श्री की थी 'स्वाध्याय'। मुझे अनेक महात्माओं के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला, उनकी विद्वता ने भी प्रभावित किया, परन्तु उनका मार्गदर्शन या दिशाबोध या तो अपने पंथ-सम्प्रदाय की सेवा का होता या उसी के संपूरक किसी इमारत, मन्दिर, आश्रम या प्रवृत्ति के लिए होता। थोड़ी गहराई से देखें तो यह सब धर्म की स्थूलता का ही आकार है। परन्तु धर्म के सूक्ष्मभाव का दर्शन तो स्वाध्याय में ही निहित है। उन्होंने केवल स्वाध्याय का आग्रह किया। अगर कोई मेरे इस कथन को विवादास्पद नहीं माने तो यह कहते हुए भी संकोच नहीं होगा कि केवल 'स्वाध्याय' को ही

जीवन-दर्शन मानने का एकमात्र सन्देश पू० महाराज साहब ने ही दिया, ऐसा मैंने अनुभव किया। इमारतों में, संस्थाओं में, मन्दिरों में, प्रतीकात्मक धर्म हो सकता है, परन्तु धर्म का वास्तविक मर्म, उसका सूक्ष्म दर्शन तो स्वाध्याय से ही सम्भव है और महाराज साहब ने हर किसी को केवल एक ही संदेश दिया 'स्वाध्याय' करो। जो स्वाध्याय करेगा वह धर्म को भी समझेगा—धर्म को समझकर ही जीवन में उतारा जा सकता है, धर्म का जीवन में उतरना ही मोक्ष है। बात छोटी लगती है, 'स्वाध्याय' शब्द भी छोटा व सहज बुद्धिगम्य है, लेकिन उसके भावार्थ की कितनी गहन पैठ है। यही महत्त्व की बात समझनी आवश्यक है। आज व्यवहार में अलग-अलग पंथ बनते जा रहे हैं, अलग-अलग संप्रदायें भी खड़ी हो रही हैं, परन्तु उनमें अलगता क्या है? मोटे तौर पर बात तो सभी की वही है। ऊपरी व्यवहार में थोड़ा बहुत अन्तर मिल जाएगा, किसी पूजा-अर्चना की विधि में थोड़ा फरक हो जाएगा, किसी के तिलक-छापे में थोड़ी विविधता देखी जा सकेगी, परन्तु धर्म की मूल बात में फर्क क्या है? वह कोई समझ नहीं सकेगा।

महाराज साहब की सबसे बड़ी देन यही रही कि 'स्वाध्याय' जिसके लिये कहीं कोई दो मत नहीं हो सकते, उसमें कोई पंथ-परिवर्तन या सम्प्रदाय-भेद नहीं आ सकता—इसलिए कि वह धर्म का सही मर्म है, वही धर्म की पहचान मुमुक्षु को करा सकता है। बिना पहचान के, बिना समझ के, धर्म को कैसे ग्राह्य कर सकेगा—आत्मसात कर पाएगा। धर्म किसी केपसूल में भरकर पेट में नहीं उतारा जा सकता, धर्म किसी तावीज में बांधकर शरीर से नहीं जोड़ा जा सकता, धर्म किसी तिलक-छापा की आकृति से अंकित नहीं किया जा सकता, धर्म तो अध्ययन-मनन की वस्तु है, जो स्वाध्याय से ही आत्मसात हो पाएगा।

बड़े-बड़े ग्रंथों से कठिन से कठिन श्लोकों से धर्म को आम आदमी तक पहुँचाना कठिन है। धर्म को 'सरल व बुद्धिगम्य' जिस प्रकार किया जाय जिससे कि हर साधारण से साधारण बुद्धिमान भी उसे ग्राह्य कर सके। धर्म संस्थान उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितने कि धर्म को बुद्धिगम्य करना—लोगों तक पहुँचाना, वही आज की आवश्यकता है। धर्म ही भटकी हुई मानवता को सही दिशा दे पाएगा, इसलिए धर्म को सुगम बनाना ही धर्म की सही सेवा है और वह सेवा 'स्वाध्याय' द्वारा सहज ही सम्भव है।

अब उनकी इन तीनों ही बातों को समराइज अगर किया जाए तो बहुत ही सरल शब्दों में—धर्म और साधना को 'रिवाज' नहीं बनाएँ—उन्हें खरचीली या महँगी नहीं बनायें ताकि वह हर किसी के लिए सुलभ रहे। साधना को सुगम व सरल बनाएँ।

दूसरी बात धर्म की, समाज की, मानव की सेवा तो करें ही परन्तु जो मूक हैं, दया के पात्र हैं. उनकी पीड़ा को भी समझें और उन पशु-पक्षी की सेवा हेतु भी हमारी प्रवृत्तियाँ बनें—उन्हें अपनी सेवा का माध्यम बनाएँ। हर किसी को अपने से ऊपर उठकर दूसरों के लिए भी कुछ न कुछ करना चाहिए।

तीसरी बात है, स्वाध्याय की—हम धर्म को स्वाध्याय से ही समझ सकेंगे। धर्म को समझने के लिए स्वाध्याय जरूरी है, इसलिए स्वाध्याय को ही धर्म बनाएँ—कर्तव्य बनाएँ। महाराज साहब के जीवन की अनेक ऐसी बातें जो मार्गदर्शक हैं, मगर मैं उन तक पहुँच नहीं पाया हूँ या जो मेरी समझ तक नहीं आ पाई हैं। परन्तु जिन्हें समझ पाया हूँ, उसी पर मनन करने का प्रयास कर रहा हूँ। ऐसी विभूति जिसने अपने त्याग-तपश्चर्या से समाज को, धर्म को इतना कुछ दिया है, जिसका हिसाब हम इस जन्म में शायद ही लगा पाएँगे। केवल एक ही शब्द है कि हम उनके हमेशा ऋणी रहेंगे।

—सम्पादक 'समाज-प्रवाह'

गणेश मार्ग, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, मुलुंड (पश्चिम) बम्बई-४०० ०८०

अहिंसक यज्ञ

☐ मुनि श्री सुजानमल जी म. सा.

अवधू ऐसा यज्ञ रचाओ, तासे पार भवोदधि पाओ रे। अवधू ।।टेर।।

अनीत वेदिका विद्यत करने, तृष्णांवु छिनकाओ।
ईंधन कर्म देहका रसकर, तप अग्नि प्रजलाओ रे। अवधू. ।।१।।

डाभ-तृणा घर दुमन जोगका, इन्द्रिय-विषय पशु ठाओ।
दुर्भत-स्नेह रूप घृत सींची, चटवो लोभ जराओ रे। अवधू. ।।२।।

हिंसा दोष आहुति देकर, स्वाहा शब्द सुनाओ।
शांति-पाठ नवकार-वेद धुन, दीपक ज्ञान जगाओ से। अवधू. ।।३।।

श्रीफल कुंकुम पान सुपारी, नाना गुण दरसाओ।
सामग्री सहु मेलि यथारथ, अहिंसा जग्ग जमाओ रे। अवधू. ।।४।।

हिंसा जग अघफल दुःख दाता, करमानो बंध लखाओ।
'सुजाण' जीव जतन जग्ग करतां, होवे हर्ष वधाओ रे। अवधू. ।।५।।
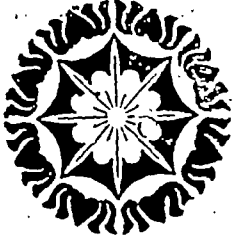
आत्मा - महात्मा - परमात्मा

□ श्री कस्तूरचन्द बाफणा

चाँदनी चवदस के जन्म का विशेष महत्त्व होता है । इसी महत्त्व को सार्थक किया ८२ वर्ष पूर्व मरुधरा के पीपाड़ शहर में माता रूपादेवी की कोख से श्री केवलचन्दजी बोहरा के घर पौष सुदी १४ को जन्म लेकर एक आत्मा ने और वही आत्मा आगे जाकर परम पूज्य हस्तीमलजी म० सा० के नाम से विश्व-विख्यात हुई ।

आचार्य श्री के आदि से लेकर अन्तिम समय तक के जीवन पर दृष्टिपात करें तो मानना पड़ेगा कि वे एक महान् आत्मा थीं । उनका सम्पूर्ण जीवन महानता को लिए हुए आश्चर्यों का पिटारा था ।

दस साल की अल्पायु में दीक्षा जैसा महान् व्रत अंगीकार करना कम आश्चर्य की बात नहीं । शेर की तरह संयम अंगीकार कर शेर की तरह पालन किया । इस युग के वे एवन्ता कुमार थे । लघु वय में ही महात्मा बन गए ।

सोलह साल की अल्पायु में अपने गुरु परम पूज्य शोभाचन्दजी म० सा० द्वारा उन्हें उत्तराधिकारी चुनना कम आश्चर्य की बात नहीं । इतनी कम उम्र में आचार्य पद प्राप्तकर्ता सैकड़ों नहीं बल्कि हजारों वर्षों के इतिहास में यह पहला उदाहरण है । गुरु ने ऐसे योग्य शिष्य का चयन किया, जिसने रत्न वंश के नाम को रोशन किया ।

करीब ७० साल तक संयम की कठोर साधना में निरन्तर बढ़ते रहे । २१ अप्रेल, ९१ को राजस्थान के निमाज गांव में स्वर्गवास हुआ । ७० साल तक स्व तथा पर कल्याण किया । शरीर की वृद्धावस्था में भी आत्मिक शक्ति का वर्द्धन किया । तन भले ही दुर्बल होने लगा पर मन सबल था । समय-समय पर शिष्य-मण्डली को यह भोलावण देते रहते कि ख्याल रखना—'मैं खाली हाथ न चला जाऊँ ।' अरे वह आत्मा खाली हाथ कैसे जाती जिसने जीवन के क्षण-क्षण को सदुपयोग कर आत्म-शक्ति के खजाने को सुरक्षित कर दिया था ।

जिसने अच्छी तरह जीना सीखा उसने अच्छी तरह मरना भी सीख लिया था। किसी भी शिष्य व अनुयायी का दिल न दुखाते हुए प्रारम्भ की अपनी अन्तिम साधना। उपवास किया, बेला किया, तेला किया, फिर पारणा न करके अत्यन्त प्रमोद भाव से संथारा लेकर अपने आंतरिक आत्म-भावों की उत्कृष्टता का उदाहरण रखा दुनिया के सामने। जिस साधक ने विश्व को धर्म का सन्मार्ग बताया, उस साधक ने संथारा लेकर समता का उत्कृष्ट यथार्थ रूप भी बताया। जीवन के अंतिम दिनों में उत्कृष्ट समता धारी, १३ दिनों के संथारा काल में किसी प्रकार की उफ व आह तक नहीं की। अपने स्वरूप-रमण में मस्त बने रहे। सब कुछ होते हुए भी निर्मोही बन गए। निज की मस्ती में झूमने लगे। क्या आकर्षण था साधना का। जैन-अजैन सभी आकर्षित हो रहे थे दर्शन करने को। इस महान् विभूति का दर्शन करते-करते आंखें थकती नहीं थीं।

जीवन के अंतिम काल में जब वे अत्यन्त समता के साथ आंतरिक साधना में लीन थे, उस समय भी इस साधक की साधना ने हिंसक प्रवृत्ति के लोगों को भी अहिंसा की ओर आकर्षित किया। मुस्लिम भाइयों के मन में अपने आप इच्छा जागी कि एक महान् आत्मा हमारे गांव में आकर अंतिम साधना में लीन है। जब तक यह आत्मा विद्यमान रहेगी तब तक हम हिंसा के काम नहीं करेंगे। सैकड़ों जीवों को अभयदान मिल गया इस महान् आत्मा के निमित्त से। अपने वर्षों पहले बनाए भजन "मैं हूँ उस नगरी का भूप, जहां नहीं होती छाया धूप" का अक्षरशः मूर्त रूप दिया गुरुवर ने। जीने और मरने की जो सुन्दर योजना इस आत्मा ने की, यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं। मर कर भी मृत्युंजयी बन गए २१ अप्रेल १९९१ को।

ज्ञानी—आचार्य श्री इस युग के महान् ज्ञानी पुरुष थे। लोगों के मनोगत भावों को जानने की अद्भुत क्षमता थी उनमें। एक बार आचार्य श्री भोपालगढ़ पधारे। ५–१० दिन रुकने के बाद उनकी इच्छा कोसाणा की तरफ विहार की हुई। तब मुझे कहा कि तुम कोसाणा वालों को संकेत कर देना। मैंने सोचा—कोसाणा वालों को सन्देश देने से कोसाणावासी यहां आयेंगे और आचार्य श्री यहां से जल्दी विहार कर जायेंगे। अतः कुछ दिन बाद सन्देश दूंगा और श्री ब्रजमोहनजी को भी बोल दिया कि कोसाणा सन्देश मत देना ताकि आचार्य श्री के ज्यादा विराजने का लाभ भोपालगढ़ श्री संघ को मिल सकेगा। दूसरे दिन दर्शन करने गया तब आचार्य श्री एक दम कहने लगे "भावना के वश कोसाणा समाचार नहीं। घर का अफसर होता है तब ऊपर की फाइल नीचे और नीचे की फाइल ऊपर।" मैं गद्गद्

हो गया उनका यह वाक्य सुनकर। आश्चर्यान्वित था कि मेरे मनोभावों को वे कैसे जान गए।

मुझे १०-१५ दिन बुखार चढ़ा, काफी कमजोर हो गया, सीने में दर्द होने लगा, तबियत बताने मैं जोधपुर गया। आचार्य श्री का वहीं चातुर्मास था। दर्शन करने "रेनबो हाऊस" गया। मेरे शरीर की स्थिति देखकर आचार्य श्री बोले—क्या बात है ? मैंने कहा—बुखार चढ़ रहा है, और सीने में दर्द है। अतः डॉक्टर को तबियत बताने आया हूँ। आपके दर्शन कर अब डॉक्टर के पास जाऊँगा। सहसा मुखारविंद से निकला—"कुछ नहीं है, मौसम का प्रभाव है" फिर मैं डॉक्टर के पास गया। आधे घण्टे की छानबीन के बाद डॉक्टर ने कहा—मौसम के कारण ही है, और कुछ नहीं। मैं आश्चर्य-चकित था गुरुदेव के इस निदान पर। एक्सरे की मशीन की भांति किसी भी अन्तरंग बात को जानने की उनमें अद्भुत शक्ति थी।

ध्यानी—समयबद्ध कार्यक्रम था उनका। चाहे कोई कितना भी बड़ा आदमी क्यों न आ जाता पर अपनी साधना के कार्यक्रम में हेरफेर नहीं करते। सुबह, दोपहर, शाम ध्यान व माला जाप के कार्यक्रम को कभी खण्डित नहीं होने दिया। माला फेरने वाले दाहिने हाथ की अँगुलियों की आकृति हर समय ऐसी रहने लगी जैसी माला फेरने के समय रहती थी। कितना विश्वास था प्रभु-स्मरण में !

मौनी—मौन साधना के प्रबल पक्षधर थे गुरुदेव। प्रतिदिन सुबह, दोपहर, शाम का समय निर्धारित था मौन के लिये। विशिष्ट तिथियों पर पूरे दिन-भर मौन रहकर स्वाध्याय में निमग्न रहते थे। यही कारण है कि उन्हें वचन-सिद्धि प्राप्त थी, वे अल्पभाषी थे।

ज्ञान-क्रिया का संगम—आचार्य श्री ने जब से पंच महाव्रत स्वीकार किए शास्त्रीय आज्ञा का उन्होंने वाचन ही नहीं किया बल्कि "तवेसु उत्तम बंभचेर", "समयं गोयम मा पमाए" हृदयंगम कर लिया। महान् तप अखण्ड ब्रह्मचर्य की जीवन भर साधना की व एक-एक क्षण का अप्रमत्त होकर सदुपयोग किया। तन, मन, वचन व पांचों इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण था उनका। संयम की अनूठी मस्ती थी उनमें। संयम के पालन करने व करवाने में कठोर थे पर दिल के दयालु थे। शिथिलाचार उन्हें कतई पसन्द न था। सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित होने पर भी साम्प्रदायिकता से बिल्कुल परे थे।

असीम आत्म-शक्ति के धारी—अपनी निरन्तर साधना में उन्होंने अपने छोटे से शरीर में असीम आत्म-शक्ति का संचय कर लिया था। बड़े से बड़े

दैविक प्रकोप को भी निवारण करने की उनमें शक्ति थी। वे विघ्न-हरण, मंगल करण थे। उनका ओज व आकर्षण इतना तेज था कि आगंतुक व्यक्ति स्वतः श्रद्धा से नत मस्तक हो जाता था। इतने बड़े जैन समाज में हर आदमी उनकी संयम-साधना व तप-त्याग से प्रभावित था। दिव्य गुणों के आगर थे, गम्भीरता के सागर थे गुरुदेव! स्वर्गवास के बाद भी गुरुदेव के नाम-स्मरण से इतनी शक्ति मिलती है कि चिन्ता व समस्या कपूर की तरह उड़ जाती है। वे अद्भुत अतिशय सम्पन्न थे।

जीवन के अन्तिम दिनों जब निमाज में संथारे की अंतिम व महान् साधना में लीन थे, प्रतिदिन दूर-दराज से हजारों लोगों का आवागमन था पर किसी प्रकार की कोई दुर्घटना नहीं होना यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं। उस समय निमाज का दृश्य देखने लायक था। पावापुरी बन गया था निमाज। पावापुरी क्यों न बनता जिनके रग-रग में धर्म देव का निवास था। धर्म के प्रति उनका जीवन समर्पित था।

सं० १९६७, पौष सुदी १४ को अवतरित हुई — आत्मा
सं० १९७७, माघ सुदी २ को बने — महात्मा
सं० २०४७, प्रथम बैसाख सुदी ८ को बन गए — परमात्मा

—भोपालगढ़ (जोधपुर) राज०

अमृत-करण

- अन्तर में यदि सत्य, सदाचार और सुनीति का तेज नहीं है तो बाहरी चमक-दमक सब बेकार साबित होगी।

- ज्ञानादि पूर्ण विशुद्ध गुणों का प्रकटीकरण ही परमात्मा है।

- आत्मा के लिए परमात्मा सजातीय है और जड़ पदार्थ विजातीय हैं। सजातीय द्रव्य के साथ रगड़ होने पर ज्योति प्रकट होती है और विजातीय के साथ रगड़ होने से ज्योति घटती है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

शक्तिपुंज आचार्य श्री

□ श्रीमती मंजुला आर० खिवसरा

स्वस्थ जीवन की दो धारा हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक धारा के अन्तर्गत रहने वाले जीवन को हम व्यावहारिक जीवन कह सकते हैं। लोकोत्तर जीवन जीने वाले के लिए आध्यात्मिक जीवन धारा का प्रयोग किया जा सकता है।

संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी, जीवन को सर्वांगीण सफल बना ले, असम्भव है। विरले ही व्यक्ति अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने में सफल होते हैं। व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में यही बात है। प्रत्येक व्यक्ति में जीवन को सफल व निष्फल बनाने की तीन शक्तियां उपलब्ध होती हैं। इन्हीं तीन शक्तियों से व्यक्ति अपने जीवन का सुखद निर्माण कर सकता है और दुखद भी। विद्या, धन और शक्ति—ये तीन अमूल्य निधियां हैं, जो हर व्यक्ति को अल्प या अधिक मात्रा में अवश्य मिलती हैं। पवित्र और महान् आत्माएँ इन तीनों शक्तियों का सदुपयोग करके जीवन को यशस्वी बना लेती हैं। दुष्ट आत्माएँ इन्हीं तीन शक्तियों से अपने जीवन को अधम, निकृष्ट बना लेती हैं। वे लोग जिनके पास विद्या है और प्रकृति निम्न स्तर की है, तो विद्या का उपयोग दूसरों को कष्ट पहुँचाने में करेंगे। धन का आमोद-प्रमोद, एशो-आराम और शक्ति का दूसरों के जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करने में, पर इन्हीं शक्तियों का सज्जन-जन सदुपयोग करते हैं। विद्या से निर्माण, धन से परोपकार और शक्ति से स्व-पर रक्षण। ऐसे शक्ति-पुंज जिनको हम योद्धा, भट्ट, मल्ल के नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं।

आज हम और आप जिनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सन्दर्भ में चर्चा कर रहे हैं, वे हैं हमारे आचार्य हस्तीमल। हस्ति, याने हाथी, स्वयं मल्ल या योद्धा का कार्य करता है। वह एक बलवान प्राणी होता है, शक्ति का पुंज होता है। इसी तरह हर काल में कोई न कोई विशिष्ट शक्ति-पुंज हुए हैं। काल के चार विभाग हैं—सतयुग, द्वापर, त्रेता एवं कलियुग।

१. सतयुग में जो मल्ल (शक्ति-पुंज) हुए वे हैं—ऋषभदेव के समय में बाहुबली।

२. द्वापर में पुरुषोत्तम राम के समय हनुमान ।

३. त्रेता में श्रीकृष्णजी के समय में भीम महाबली ।

४. कलियुग में श्री हस्तीमलजी म० सा० ।

इन सभी ने अपनी मिली हुई शक्ति का स्व-पर के लिए सदुपयोग किया है । बाहुबली चाहते तो अपने भाई भरत को अपनी शक्ति से नष्ट करके सत्ता हथिया लेते, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं करके अपनी शक्ति का उपयोग कर जीवनोत्थान व सर्वोत्कृष्ट सुखद स्थान को प्राप्त कर लिया । यही बात हनुमान के जीवन से ले सकते हैं। उन्होंने अपनी शक्ति का सदुपयोग किया और अन्यायी व्यक्ति का पक्ष न लेकर सदाचारी और नीति सम्पन्न का सहयोग करके, अपने जीवन को आदर्श बनाया व अक्षय सुखों में लीन हो गये । इसी तरह भीम के जीवन से हमें जानने को मिलता है कि अन्याय और अत्याचार को मिटा के अपना जीवन सर्मपित कर, वे अविचल पद पर आसीन हो गये ।

अब कलियुग के समय में हुए महामना पू० आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी म० सा० । जिनका जन्म वि० सं० १९६७ पौष सुदी चौदस को पीपाड़ शहर में हुआ । १० वर्ष की अल्पावस्था में अपनी माता सुश्राविका रूपादेवीजी के साथ वि० सं० १९७७ माघ सुदी दूज के दिन, अजमेर में संयम-पथ पर आरूढ़ हुए । आपके दीक्षा-गुरु पूज्य शोभाचन्दजी म० सा० हुए । सर्व हिताय-सर्व सुखाय, वीतराग मार्ग पर आरूढ़ होते हुए वि० सं० १९८७ वैशाख सुदी तीज, अक्षय तृतीया के दिन जोधपुर सिंहपोल में पंच-परमेष्ठी के तृतीय पद आचार्य पर आपश्री को चतुर्विध संघ ने सुशोभित किया ।

आपश्री ने अपना सम्पूर्ण जीवन स्व-पर कल्याण में ही सर्मपित किया । इसी के कारण आपश्री के सम्पर्क में आने वाला कोई भी व्यक्ति खाली नहीं लौटता था । सामायिक-स्वाध्याय, ध्यान, मौन, नैतिक उत्थान, कुव्यसन-त्याग इत्यादि जीवन जीने की कला आप से प्राप्त होती थी । आपश्री स्वयं भी ध्यान-मौन के साधक, अप्रमत्त जीवन-यापन करने वाले, आकर्षक व्यक्तित्व के धनी, असीम आत्म-शक्ति के पुंज, युग-द्रष्टा, इतिहास-मार्तण्ड, सामायिक-स्वाध्याय प्रणेता एवं चतुर्विध संघ पर सफल अनुशासक सिद्ध हुए ।

आज हम ज्ञान-चर्चा के माध्यम से मिल रहे हैं। एक दूसरे के विचारों का आदान-प्रदान कर रहे हैं । इस विद्वत् परिषद की स्थापना के पीछे भी आचार्य श्री की ही प्रेरणा रही हुई है। इसी कारण से श्रीमंतों एवं विद्वत्जनों

का एक साथ मिलना व सम्पर्क बना रहता है। इस विद्वत् परिषद की शुरूआत हमारे देश के मध्यभाग मध्यप्रदेश एवं मध्यप्रदेश के हृदय मां अहिल्या की नगरी इन्दौर में ही आचार्य श्री के सन् १९७८ के चातुर्मास के समय हुई। आचार्य श्री के पदार्पण से यह रत्नत्रय की सुन्दर आराधना-साधना हुई एवं म० प्र० जैन स्वाध्याय संघ, महावीर जैन स्वाध्याय शाला, श्री गजेन्द्र जैन स्वाध्याय ध्यान पीठ इत्यादि की स्थापना हुई। ये सभी अभी जिन-सेवा में समर्पित हैं।

आचार्य श्री का जीवन आदर्श जीवन था। उनका कहना था कि मतभेद तो हो सकते हैं विचारों के, किन्तु मनभेद नहीं होना चाहिए। इसी कारण से किसी दार्शनिक ने कहा है—"व्यक्ति अमर नहीं रहता, परन्तु उसके विचार कभी नहीं मरते। वे वर्तमान युग को प्रेरणा देते हैं, भावी युग को आशा का मधुर सन्देश देते हैं।" महापुरुषों की ज्योति का आलोक भरा रहता है, न जाने कब एवं किस समय, किस व्यक्ति को उसकी वाणी से प्रेरणा मिल जाए....जिनका जीवन जयवंत रहा है, उनके जीवन का अंत भी जयपूर्वक हुआ, समाधिपूर्वक हुआ। ऐसे जयवंत आचार्य श्री के पावन पद-पंकजों में उतमांग शीश झुकाते हुए हम श्रद्धा से वंदन-अभिनन्दन करते हैं।

—१७५, महात्मा गांधी मार्ग, देपालपुर (इन्दौर) ४५३११५

अमृत-कण

★ अज्ञान और मोह के दूर होने पर भीतर में आत्म-बल का तेज जगमगाने लगता है।

★ यदि आत्मा को बलवान बनाना है तो त्याग को और अच्छाई को आचरण में लाना होगा।

—आचार्य श्री हस्ती

दीर्घप्रज्ञ आचार्य श्री

☐ श्री श्रीचन्द सुराना 'सरस'

भगवान महावीर के विशेषणों में एक बहुत ही सार्थक विशेषरण है—दीह पन्ने-दीर्घ प्रज्ञ। महाप्रज्ञ और सूक्ष्म प्रज्ञ विशेषरण जहाँ किसी वस्तु तत्त्व को गम्भीरता से समझने की शक्ति का सूचन करते हैं, वहाँ दीर्घ प्रज्ञ विशेषण-भविष्य की, बहुत दूर की सोच के संकेत हैं। महामति चाराक्य ने कहा है—'दीर्घौबुद्धिमतो बाहू' बुद्धिमान की भुजाएँ बहुत लम्बी होती हैं। वह अपने स्थान पर बैठा हुआ बहुत लम्बी दूर तक भविष्य में आने वाली बाधाओं को भाँप लेता है, और पानी आने से पहले ही पाल बाँध देता है।

दीर्घ प्रज्ञ, अर्थात् दीर्घद्रष्टा, जिसे हम भविष्य-द्रष्टा भी कह सकते हैं, यह मानवीय चेतना का एक ऐसा विशिष्ट गुण है जो बहुत कम व्यक्तियों में विकसित हो पाता है। जिसमें विकसित हुआ, उन्होंने अपनी दीर्घ-दृष्टि से व्यक्ति को, देश को, राष्ट्र को, मानव जाति को, आने वाले विघ्नों व आपदाओं से बचाया है। उन आपत्तियों के प्रतीकार/प्रतिरोध का उपाय भी बताया, साथ ही विकास के दीर्घ परिणामी सूत्र भी दिये।

स्व. आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज के व्यक्तित्व में जहाँ अनेक विशिष्ट गुण थे, वहाँ उनके व्यक्तित्व को सफल नेतृत्व में परिणत करने वाला—दीर्घ द्रष्टा गुण भी देखने को मिला। उनकी दीर्घ दृष्टि ने निश्चय ही जिन शासन की गरिमा में चार चाँद लगाये हैं।

अनेक वार जव-जव आचार्य श्री से वार्त्तालाप का प्रसंग आया, विचार चर्चा हुई, हर प्रसंग पर उनके चिन्तन में, उनकी योजनाओं में दीर्घ दृष्टि की गहरी झलक मिलती थी। मैं विविध प्रसंगों की चर्चा नहीं करके, 'जैन धर्म के मौलिक इतिहास' का निर्माण और सामायिक-स्वाध्याय अभियान की चर्चा करूंगा, जो आचार्य श्री के अमर कीर्ति स्तम्भ वनकर आने वाली पीढ़ी को दिशा-वोध देते रहेंगे।

'जैन धर्म के मौलिक इतिहास' के चार भागों का निर्माण उनकी दीर्घ प्रज्ञता का एक सूक्ष्म प्रमाण है। अतीत की परतों को उघाड़कर सत्य का अनु-संधान करना—इतिहासविद् का कार्य है। परन्तु इस प्रकार के इतिहास-लेखन/सृजन का संकल्प आने वाली पीढ़ियों को अपनी मौलिक विरासत सौंपने की दीर्घ दृष्टि के विना सम्भव नहीं था। द्वितीय भाग का प्रकाशन होने के वाद एक

दिन चर्चा के प्रसंग में मैंने आचार्य श्री से पूछा—जैन इतिहास लिखने के पीछे आपश्री का क्या दृष्टिकोण है ?

आचार्य श्री ने बड़ा सटीक उत्तर दिया—"इतिहास तृतीय चक्षु है। दो चक्षु सामने हैं। ये सामने (आगे) का देखते हैं, किन्तु इतिहास चक्षु–अतीत को भी देखता है और अनागत को भी........अतीत का ज्ञान नहीं होगा तो भविष्य को उज्ज्वल बनाने का संकल्प कैसे जगेगा ? जैन समाज ने अपने गौरवमय अतीत (इतिहास) की गाथाएँ तो गाई हैं, परन्तु इस दीर्घ अन्तराल में जो कुछ घटित हुआ, वह उसके गौरव को क्षति पहुँचाने वाला ही अधिक हुआ। जब तक इतिहास का कृष्ण-पक्ष और शुक्ल पक्ष—तुलनात्मक रूप में सामने नहीं आयेगा तब तक भविष्य का शुक्ल पक्ष कैसे देखा जायेगा ? मैंने व मेरे अनेक सहयोगियों ने श्रम करके तटस्थ भाव से इतिहास का दर्पण तैयार किया है, इसमें जहाँ-जहाँ जब-जब जैनत्व गरिमा-मंडित हुआ है, उसका वर्णन भी किया है और जब-जब जहाँ-जहाँ जैनत्व को, श्रमणत्व को क्षति हुई है, उन सब पक्षों पर स्पष्ट चिन्तन किया गया है ताकि आने वाली पीढ़ी उन आरोह-अवरोह से, बचकर अपनी गरिमा को अधिक निखार सके, स्वयं को बलवान बना सके। इसलिए मैं कहता हूँ—इतिहास का तृतीय नेत्र खुलना जरूरी है........।

आचार्य श्री ने अत्यन्त दीर्घकालीन गहन श्रम व अनुसन्धान करके 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' के चार भाग तैयार किये हैं। यह उनकी दीर्घ दृष्टि का, भविष्य दृष्टि का एक ज्वलन्त प्रमाण है। इतिहासकार की तटस्थ परख और अनुसंधान की गहरी निष्ठा—आचार्य श्री की अद्वितीय थी। आने वाली शताब्दियों में जैन समाज उनके महतोमहीयान (योगदान) से निश्चित ही लाभान्वित होगा।

आचार्य श्री की दीर्घदृष्टि और चिन्तन की समग्रता का दूसरा उदाहरण है—

"स्वाध्याय एवं सामायिक प्रवृत्ति का पुनरुज्जीवन !"

कहा गया है—नधर्मो धार्मिकेंबिना'—धार्मिकों के बिना धर्म जीवित नहीं रह सकता। आज संसार के सभी धर्म-सम्प्रदायों की लगभग यह स्थिति है कि उनमें से धार्मिकता रूप—आचार-बल समाप्त होता जा रहा है और धर्म को आडम्बर एवं प्रदर्शनों में उछाला जा रहा है। जीवन में धर्म-बल की कमी हो रही है और धर्म का कोलाहल बढ़ता जा रहा है। इस स्थिति में कोई सम्प्रदाय अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता।

धर्मानुयायियों के जीवन में धार्मिक संस्कार जीवन्त हो, इसके लिए दो ही बातें अनिवार्य हैं—धर्म का समुचित ज्ञान और उसका आचरण। ज्ञान-शून्य आचरण में न तेजस्विता होती है, न स्थायित्व और आचरण हीन ज्ञान तो पंगु है। धर्म का बोध, धर्म क्रियाओं के पीछे रहे भाव, उद्देश्य और जीवन में उनके उपयोग/प्रयोग का ज्ञान, स्वाध्याय या अध्ययन से होता है। धर्म-ज्ञान के लिए स्वाध्याय अनिवार्य है और धर्म के आचरण से समता, शान्ति की अनुभूति के लिए सामायिक–सबसे मुख्य साधना है। आचार्य श्री ने भगवान महावीर के ज्ञान-क्रिया के अमर सिद्धान्त को युग की भाषा और युगीन सन्दर्भों में स्वाध्याय-सामायिक का स्वरूप दिया है। स्वाध्याय-ज्ञान की आराधना है तो सामायिक चारित्र की साधना है। आचार्य श्री ने स्वाध्याय-सामायिक को जैनत्व का पर्याय बना दिया, हजारों लोगों को केवल प्रेरणा ही नहीं दी, किन्तु इस अभियान में जोड़कर—एक ऐसा प्रबुद्ध स्वाध्यायी समताव्रती वर्ग खड़ा कर दिया है जो कहीं भी जाकर जैनत्व को प्रतिष्ठित कर सकता है। आज हजारों स्वाध्यायी और नियमित सामायिक करने वाले, वृद्ध, प्रौढ़, युवक, किशोर और बालक तैयार हुए हैं, जिनको देखकर यह विश्वास होने लगा है कि एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो रही है।

नदी के बहते प्रवाह की भांति धर्म के ये संस्कार नई पीढ़ी में भी प्रवाहित होते रहेंगे और धर्म अपना साकार रूप ग्रहण करता रहेगा। मैं तो यह पूर्ण आस्था के साथ कहता हूँ—आचार्य श्री ने सामायिक-स्वाध्याय का अभियान चलाकर हजारों वर्ष तक जैन संस्कारों को जीवित रखने का एक महनीय कार्य किया है। सामायिक-स्वाध्याय आज जैन की पहचान बनती जा रही है और आने वाले समय में यही जैन धर्म को जीवित रखेंगे।

जब-जब हम सामायिक-स्वाध्याय पर चर्चा करेंगे, होनहार पीढ़ी को स्वाध्यायी और सामायिक व्रती के रूप में देखेंगे, श्रद्धेय आचार्य श्री के अविस्मरणीय योगदान का स्मरण होता रहेगा।

—ए-७, अवागढ़ हाउस, एम. जी. रोड,
अजन्ता सिनेमा के सामने, आगरा-२८२००२

जिस प्रकार धागे में पिरोई हुई सुई गिर जाने पर भी गुम नहीं होती है, उसी प्रकार ज्ञान-रूप धागे से युक्त आत्मा संसार में कहीं भटकती नहीं, अर्थात् विनाश को प्राप्त नहीं होती।

—भगवान महावीर

समापन नहीं, उद्घाटन

□ श्री चंचल गिड़िया

कभी-कभी बीता हुआ काल—अतीत प्राणवान बन जाता है यदि उसे वर्तमान में साक्षात् करके कोई प्रेरणा प्राप्त करे तो........अतीत की याने ७०-७२ वर्ष पूर्व का एक घटित घटना-प्रसंग । है एक छोटा सा नन्हा शिशु जिसमें बाल सुलभ चंचलता और संस्कारपरक जागरूकता थी........एक महापुरुष ने धर्मगंगा प्रवाहित की जो किसी के एक कान से प्रविष्ट होकर दूसरे कान से निकल गयी, किसी के कान में प्रविष्ट हो मुख से बाहर निकली, किसी बिरले के कान में यह वीरवाणी की धर्म-गंगा प्रविष्ट होकर हृदय में स्थापित हो गयी अर्थात् प्रथम श्रेणी के श्रोताओं ने समय खोया, द्वितीय श्रेणी के श्रोताओं ने सुनकर सर्वत्र प्रशंसा की और तृतीय श्रेणी का जो बिरला श्रोता था, उसने न समय खोया न प्रशंसा का गीत गाया किन्तु अपने जीवन को जोया (देखा) । वह विरला श्रोता था एक बालक जिसने अपनी शक्ति को जाना, प्रवचन-श्रवण से वह श्रमण बनने को, आत्म-जागरण में बाधक सुख-सुविधाओं को, विभिन्न संयोगों को त्याग करके आत्म-स्वरूप को परमात्म स्वरूप बनाने को वह लालायित हो उठा ।

सन् १९२० में स्वतंत्रता के प्रबल हिमायती लोकमान्य तिलक के रूप में एक भारत का रवि-रत्न अस्ताचल की ओर चला गया, उसी वर्ष आत्म-स्वतंत्रता के एक दिवाने बालक का रत्न वंश में मुनि हस्ती के रूप में उदय हुआ । राष्ट्र-नेता तो चला गया किन्तु भावी धर्मनेता का अवतरण हुआ । यह उदय चर्चा-विचर्चा का विषय बना कि १० वर्ष का बालक क्या समझता है संयम में ?

मुनि हस्ती का प्रव्रज्या प्रवेश-प्रसंग प्रशंसनीय था—अद्भुत था । एक लघुवय बालक का माँ की गोद से माँ की गोद में आना कम आश्चर्यजनक नहीं था बल्कि यह प्रसंग भोगासक्त प्राणियों के लिये चुनौती था । माँ रूपा देवी ने पुत्र का मोह छोड़ा और पुत्र ने संसार का मोह छोड़ा । माता की गोद का मोह छोड़कर अष्ट प्रवचन माता की गोद में प्रमोद कर लिया । धर्मदेवी माँ रूपा ने स्वयं संयम स्वीकार करने का संकल्प करके पुत्र के लिये स्वरूप-रमण का पथ प्रशस्त किया । माँ-बेटे दोनों ने आत्म-अर्चना के महापथ पर समर्पण किया । जिन भक्ति प्रारम्भ कर दी । भक्ति से विरक्ति का, विराग का उदात्त जागरण

हुआ। राग-द्वेष से मुक्त हो वीतरागी बनने के लिये बालक लालायित हो उठा—याने रागी से विरागी और विरागी से वीतरागी........।

आचार्य श्री शोभाचन्द्रजी की मुनिमण्डली में यह बालक मुनि अपनी श्रीशोभा बिखेर रहा था किन्तु आचार्य श्री इन्हें श्रमणरत्न बनाकर रत्नवंश की, श्रीसंघ की शोभा बढ़ाना चाहते थे—तदनुरूप इनका निर्माण प्रारम्भ हुआ। इन छोटे मुनि ने ज्ञानाराधना में अपनी प्रखर मेधावी शक्ति का कमाल दिखाकर पूज्य गुरुदेव की भावनाओं को सार्थक किया।

हस्ती मुनि की संयम में सजगता, प्रवचन में प्रखरता, तप-आराधना में तत्परता, ज्ञानाराधना में तन्मयता से साधना में जो निखार उत्पन्न हुआ, उससे संघ धन्य-धन्य हो उठा।

सन् १९३० में आगमज्ञाता, आशुप्रज्ञ मुनि प्रवर को रत्नवंश-अधिनायक बनाया गया। इस गुरुतर दायित्व को लघुवय वाला मुनि अपने कंधे पर लेवे, यह विगत लम्बे इतिहास में प्रथम घटना थी। यह दायित्व देकर आचार्य श्री शोभाचन्द्रजी महाराज ने अपने शिष्य की योग्यता का, प्रतिभा का और क्षमता का परिचय दिया। नूतन आचार्य, जिन्होंने बाल्यावस्था में संयम अंगीकार करके मातृपक्ष और पितृपक्ष दोनों को गौरवान्वित किया तथा कुशल वंश का, अपने उपकारी पूज्यवर का गौरव बढ़ाया उत्तम आचरण से।

पूज्य श्री पंचम आरे में जैन धर्म के शृंगार थे। उनका व्यक्तित्व वैराग्य के उत्तुंग शिखर पर प्रतिष्ठित था। उन्होंने जैन संस्कृति को एवं आत्म-ज्योति को महिमा-मण्डित बनाये रखने के लिये सावधान-सावचेत हो यावत् जीवन उत्कृष्ट चारित्र का पालन किया। पूज्य श्री धर्म के लिये जिये और धर्म के लिये ही मिटे अर्थात् उनका जीवन-मरण दोनों ही धर्ममय थे।

पूज्य श्री ने बाल्यावस्था से ही अन्तर्मुखी बनकर दर्शन-विशुद्धि को बढ़ाया। आगम-अनुप्रेक्षा करके ज्ञान-बल को बढ़ाया। जैसा भीतर में जाना, जैसा आगम-ज्ञान से समझा, उसे जीवन में उतार कर चारित्र-बल को बढ़ाया। फलतः उनके अन्तस्तल में ज्ञान-दर्शन-चारित्र का सागर लहराने लगा और उसी अनन्त सागर में कायोत्सर्ग रूपी तपोबल के साथ पूज्य श्री ने अपने आपको विलीन किया। धन्य है ऐसे महाबली श्री मज्जैनाचार्य को।

पूज्य श्री हस्ती एक ऐसी बेजोड़ प्रतिभा थे कि आज उनकी प्रतिभा हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भी उस प्रतिभा के प्रति पूर्ववत् प्रणति भाव का आज भी जनजीवन में साक्षात्कार होता है। पूज्य श्री का मरणधर्मा देहपिण्ड भले ही

संसार से उठ गया हो और आज हमारे मध्य न हो, फिर भी उनकी अमर स्मृतियाँ और अमूल्य कृतियाँ जीवन्त हैं अर्थात् सामायिक-स्वाध्याय की दिव्य प्रेरणायें भव्यों के आचरण में प्राणवान हैं। पूज्य श्री का ज्ञान प्रकाशित कीर्ति-दीप 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' के रूप में अद्वितीय स्मृति-चिह्न है। इस स्मृति-चिह्न में उनके प्रज्ञा की प्रखरता प्रतिबिम्बित होती है।

अहो ! कितनी भव्य थी महामनीषी आचार्य भगवन की प्रतिभा। उस भगवत्ता को जानना-समझना किसी भी संकीर्ण घेरे में कतई सम्भव नहीं। सभी संकीर्ण क्षुद्र घेरों से मुक्त होकर ही मुक्तिगामी की श्रेष्ठता को हृदय-पटल पर अंकित किया जा सकता है। हम भी अपनी भाव-भाषा से उस भगवत्ता को जानने का प्रयास करें।

विनाशी और अविनाशी का संयोग.......फिर भी दोनों अलग........दोनों की संवेदना........दोनों की अनुभूति अलग। पोषण करते थे विनाशी का अविनाशी की चर्चा के लिये—अविनाशी की अर्चा के लिये.......रक्षा करते थे विनाशी (शरीर) की, विनाशी (कर्मजन्य पुद्गलों) से मुक्त होने के लिये........लेते थे सहारा विनाशी का अविनाशी को पूर्णता.......स्वभाव की पूर्णता.......चैतन्य की अखण्डता पाने के लिये.......अविनाशी के साथ विनाशी का संयोग, अयोग की साधना के लिये।

कितने सावधान.......सावचेत.......जागरूक, विनाशी ने बगावत करना प्रारम्भ किया.......रोग का आतंक है, नाव कमजोर हो रही है........नाविक तृतीय मनोरथ साकार करने को लालायित है। उधर एक श्रावक को वचन दिया हुआ है—अन्तरमन तृतीय मनोरथ की प्रतिज्ञा को साकार करने को तथा श्रावक को दिये हुए वचन को साकार करने को कटिबद्ध है किन्तु.......विनाशी की बगावत.......कोई परवाह नहीं.......जो साथ छोड़ना चाहता है उससे कौनसा रिश्ता........जिस मकान की नियति गिरना है उसमें कौनसी ममता ? बस जो है उसमें से अमूल्य की रक्षा करना, असार में से सार निकालना, ससीम से परे असीम का पोषण करना ही प्रतिबुद्धता है।

जो ध्रुव है—जो अचल है—जो अडोल है—जो अकम्प है ऐसे चैतन्य देव को जागृति के परम शिखर पर प्रतिष्ठित किया। जड़ और चैतन्य के परम विज्ञाता गुरु हस्ती ने संयमी मस्ती दिखला दी और निमाज की बस्ती धन्य-धन्य हो उठी। असार में जो सार रूप बचा था उसे तपाग्नि में झोंक दिया। शरीर में से सार निकालने के लिये प्रारम्भ कर दी अष्टम भक्त की आराधना। शुद्धि की प्रक्रिया के साथ संलेखना संथारा.......जो बाहर दिखायी दे

सर्वथा अनदेखा कर दिया, जो बाहर सुनायी दे रहा है, उसे सर्वथा अनसुना क दिया, मात्र एकत्व भावना का चिन्तन, एकीभाव में तल्लीन, स्वयं को सुनन स्वयं को देखना, स्वयं को जानना.......अन्तर्मुखी अवस्था.......परभाव से सर्वथा मुक्त—भारमुक्त अवस्था......."अप्पा अप्पम्मि रओ" की परम दशा.......स्व की स्व के लिये जीने की परम समाधिवन्त साधना.......आत्मोपासना.......वीतराग आराधना—

☐ 'मैं आत्मा हूँ' इस अन्तर्मुखी स्वर को बुलंद करके ज्ञानावरणीय कर्म को शिथिल किया।

☐ मैं अविनाशी हूँ.......अपने निज स्वरूप को देखा, स्वभाव से विभाव दशा को देखा—दर्शनावरणीय कर्म को शिथिल किया।

☐ रोग का आतंक यह वेदना.......यह वेदना शरीरजन्य है, मैं शरीर नहीं हूँ, देहभाव से मुक्त होते हुए वेदनीय कर्म को शिथिल कर दिया।

☐ ज्ञान, दर्शन और चारित्र मेरा है, जो मेरा है वह जा नहीं सकता। शरीर जा रहा है—जाने दो, यह शरीर मेरा नहीं है और मैं उसका नहीं हूँ। जन्मना-मरना, बनना-बिगड़ना, सृजन और विध्वंस यह अनादिकालीन खेल पुद्गलों का है.......मोहकर्म को शिथिल किया।

☐ प्रतिक्षण भावमरण चल ही रहा है। शरीर प्रतिसमय जरा को उपलब्ध हो रहा है। वह मिटेगा ही, इसलिये यह आयु की सीमा से आबद्ध है। इस जड़ शरीर को टिकाये रखने की और उसे मिटाने की अर्थात् जीने की, मरने की आकांक्षा व्यर्थ है.......आयु कर्म को शिथिल किया।

☐ यह शरीर संघयण संठाण, यह सब कर्मजन्य है। मैं शब्द नहीं हूँ, मैं रूप नहीं हूँ, मैं रस-गंध-स्पर्श नहीं हूँ। ये शब्दादि संयोग मेरी कर्म-मुक्ति में बाधक हैं। इस चिन्तन से नाम कर्म को शिथिल किया।

☐ यह जीवात्मा अनेक बार उच्चगोत्र में जन्म ले चुकी है और अनेक बार नीच गोत्र में। मेरा अस्तित्व ऊँच-नीच के भेद से परे अभेद है। इस चिन्तन से गोत्र कर्म शिथिल किया।

☐ मैं अनन्त बल सम्पन्न हूँ। सब जीवों से मैं खमाता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें। मैं सभी जीवों को क्षमा करता हूँ। इस प्रकार सभी जीवों के प्रति अभयदान की भावना से अन्तराय कर्म को क्षीण किया।

इस प्रकार पूज्य श्री 'अप्पा चेव दमेयव्वो' के आदर्श को चरितार्थ करते हुए चिन्मय की स्थिति में तन्मय हुए। धन्य है आचार्य देव को, जिन्होंने यावत्जीवन स्वाध्याय में रत रहते हुए शरीर सापेक्ष स्व के अध्याय को परम समाधि में विलीन करके जन-जन को स्वाध्याय का अपूर्व अन्तिम सन्देश दिया। आचार्य भगवन् पूज्य श्री हस्तीमलजी म. सा. की यह यात्रा जीवन का अन्त नहीं था, पूज्य गुरुदेव का यह संथारा जीवन का समापन नहीं बल्कि अन्तर की निधियों का उद्घाटन था।

—गिड़िया भवन, A-35 धर्मनारायणजी का हत्था,
पावटा, जोधपुर (राज.)

अमृत-कण

☐ शान्ति और समता के लिए न्याय-नीतिपूर्वक धर्म का आचरण ही श्रेयस्कर है।

☐ ज्ञान-दर्शन आदि निज गुण ही आत्म-धन है।

☐ इच्छा पर जितना ही साधक का नियन्त्रण होगा उतना ही उसका व्रत दीप्तिमान होगा। इच्छा की लम्बी-चौड़ी बाढ़ पर यदि नियन्त्रण नहीं किया गया तो उसके प्रसार में ज्ञान, विवेक आदि सद्गुण प्रवाह-पतित तिनके की तरह बह जायेंगे।

—आचार्य श्री हस्ती

हे आत्मन् ! तुमसे बढ़कर कोई नहीं !!

□ डॉ० श्रीमती मंजुला बम्ब

आज से ८२ वर्ष पहले सं० १९६७ पौष शुक्ला १४ को पीपाड़ नगर में जन्मा एक बालक भारत के कोने-कोने में अपनी ज्ञान-साधना और अपने व्यक्तित्व का प्रकाश फैलायेगा, यह किसी को क्या पता था ? अपने पूर्व जन्म की आराधना व शुभ कर्मों का परिपाक कहिये कि उसकी मातुश्री रूपादेवी के त्याग-वैराग्य का प्रभाव उस पर ऐसी अमिट छाप जमाता गया कि उसने अपनी माताजी को भी दीक्षा ग्रहण करने की ओर अग्रसर किया व स्वयं ने भी दस वर्ष की लघुवय में सम्वत् १९७७ में अजमेर शहर में जैन दीक्षा ग्रहण कर ली।

इतनी छोटी उम्र में जब साधारणतया बालक होश भी संभाल नहीं पाता, श्री केवलचन्दजी बोहरा व रूपादेवी के इस पुत्र ने अपने विशिष्ट ज्ञान व बोध से केवल संसार की असारता का ही भान नहीं किया, किन्तु अपने गुरु पूज्य आचार्य श्री शोभाचन्द्रजी की सेवा में अपने को समर्पित भी कर दिया।

अपनी तीव्र स्मरण-शक्ति एवं प्रखर बुद्धि के कारण आपने थोड़े ही समय में व्याकरण, प्राकृत, संस्कृत आदि विषयों में प्रवीणता प्राप्त कर ली। आपके पाण्डित्य को देखते हुए जब एक बार आचार्य प्रवर श्री शोभाचन्द्रजी म० सा० जोधपुर स्थित पेटी के नोहरे में विराजमान थे तो सुश्रावक श्री उदयराजजी लुणावत ने आचार्य प्रवर से निवेदन किया कि आप मुनि श्री हस्तीमलजी म० सा० को प्रवचन देने हेतु फरमावें। इस पर मुनि श्री ने उत्तर दिया कि 'अभी तो मुझे ज्ञान प्राप्त करने दो। सूंठ का गाँठिया लेकर मुझे पंसारी नहीं बनना है।' यह आप श्री की प्रखर बुद्धि का परिचायक है।

आपके आगमिक ज्ञान, प्रकाण्ड पाण्डित्य, अद्भुत बौद्धिक विलक्षणता आदि गुणों के कारण २० वर्ष की लघुवय में चतुर्विध संघ ने आपको रत्न वंश के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। ६०० वर्षों के अंतराल में २० वर्ष की अवस्था में आचार्य पद प्राप्त करने वाले आप प्रथम आचार्य थे।

आचार्य श्री एकता के पक्षधर :

आचार्य प्रवर सदा जैन एकता के समर्थक रहे हैं । यही कारण है कि जब भी एकता का प्रसंग आया, आप सदैव उसमें अग्रणी रहे । सादड़ी साधु सम्मेलन में आचार्य पद का त्याग कर आपने एकता हेतु अपनी सम्प्रदाय का वृहद् श्रमण संघ में विलीनीकरण कर दिया । आपने श्रमण संघ में व्याप्त कमजोरियों और शिथिलाचार पर दृढ़ता से प्रहार किया । आप दिखावे की एकता पसन्द नहीं करते थे । आप कहा करते थे कि "नारंगी के समान ऊपरी एकता कुछ काम की नहीं । नारंगी ऊपर से तो एक होती है परन्तु अन्दर से अलग-अलग, इसके विपरीत खरबूजा ऊपर से भले ही अलग-अलग दिखाई पड़ता है परन्तु होता एक है ।' इसी प्रकार आचार्य श्री हमेशा खरबूजे की तरह की एकता के पक्षधर रहे ।

आचार्य श्री सामायिक-स्वाध्याय के प्रबल प्रेरक :

आप श्री सामायिक-स्वाध्याय के प्रबल प्रेरक थे । आपने आत्मा के कल्याण के दो मार्ग बताये जिसमें प्रथम मार्ग—सामायिक, और दूसरा मार्ग स्वाध्याय । आपने सामायिक को जीवन में सुख-शान्ति और आनन्द प्राप्त करा देने वाली रामबाण औषधि बताया है । आपने स्वाध्याय के बारे में बतलाया कि स्वाध्याय अपने मन में उठने वाले विचारों का चिन्तन, मनन और परीक्षण है । अपनी आन्तरिक शक्तियों को जोड़ने का अभ्यास ही स्वाध्याय है । स्वाध्याय नियमित रूप से हो अत: आपने **'स्वाध्याय संघ'** के गठन की प्रेरणा दी । परिणाम स्वरूप देश के अनेक प्रान्तों राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, तमिलनाडु, महाराष्ट्र में स्वाध्याय संघ गठित हुए हैं और वे अपनी पूर्ण क्षमता से इस कार्य को करते हुए इसके प्रसार-प्रचार में जुटे हुए हैं ।

आचार्य श्री करुणा के सागर :

आचार्य श्री व्यक्ति के प्रति ही नहीं वरन् पशुओं के प्रति भी सदा करुणा, वात्सल्य एवं प्रेम भाव रखते थे । जब आप महाराष्ट्र में सतारा से दक्षिण की ओर विहार कर रहे थे तो आपने देखा कि कुछ व्यक्ति एक भयंकर विषधर नाग को लाठियों से मार रहे थे । यह देखकर आप श्री का करुणाशील हृदय पसीज उठा और भीड़ को चीरते हुए लाठियों के प्रहारों को रोका और घायल नाग को पकड़ा व दूर जंगल में ले जाकर एकान्त स्थान पर छोड़ा । नागराज ने अपने उपकारी के प्रति अनुगृहीत होते हुए जाते समय अपने फन से आचार्य श्री को तीन बार नमस्कार किया और आगे चल पड़ा ।

श्री की साहित्य के प्रति रुचि :

आचार्य श्री का साहित्य के क्षेत्र में भी पूर्ण व अमूल्य योगदान रहा है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दीसूत्र, अन्तगडसूत्र, प्रश्न-व्याकरण आदि जैनागमों पर आपने टीकाएँ लिखी हैं। "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" के रूप में आपने जैन धर्म का एक तथ्यपूर्ण और प्रामाणिक इतिहास समाज को दिया है। अब तक इसके चार भाग प्रकाशित हुए हैं। इनमें आदि पुरुष भगवान ऋषभदेव से लेकर आज से ५०० वर्षों पूर्व तक का इतिहास है।

आपके पूर्व पुण्य कर्मों का संचित उदय और मातु श्री के धार्मिक संस्कार व गर्भस्थ शिशु पर हुए प्रभाव का ही प्रतिफल था कि आप श्री ने ५ वर्ष की अल्पवय से ही चौविहार करना शुरू कर दिया। आपने अपने जीवन में लगभग एक लाख किलोमीटर की पैदल यात्रा की जो एक महत्त्वपूर्ण बात है। जीवन के अंतिम पांच वर्ष पूर्व तक (७७ वर्ष की वय तक) आपका विहार काफी तेज गति का रहता था। आपके साथ चलने वाले संतगण, भक्तगण जब विहार में होते तो आप काफी आगे निकल पड़ते थे और भक्तगण काफी पीछे रह जाते थे।

आप बाहर से जितने सुन्दर थे, नयनाभिराम थे उससे भी अधिक मनोभिराम अन्दर से थे। आपकी मंजुल मुखाकृति पर निष्कपट विचारकता व दृढ़ता की भव्य आभा बरसती थी और आपकी उदार आँखों के भीतर से बालक के समान सरल सहज स्नेहसुधा झलकती थी। जब भी देखते वार्त्तालाप में सरलता-शालीनता के दर्शन होते थे। हृदय की उच्छल संवेदन-शीलता एवं उदात्त उदारता दिखाई देती थी जो दर्शक के मन और मस्तिष्क को एक साथ प्रभावित करती थी और कुछ क्षणों में ही बीच की महान् दूरी को समाप्त कर सहज स्नेह-सूत्र में बांध देती थी।

दीप्तिमान निर्मल गेहुंआ वर्ण, दार्शनिक मुखमण्डल पर चमकती-दमकती हुई निश्छल स्मित-रेखा, उत्फुल्ल नीलकमल के समान मुस्कराती हुई स्नेह-स्निग्ध निर्मल आँखें, स्वर्ण-पत्र के समान दमकता हुआ सर्वतोभद्र भव्य ललाट, कर्मयोग की प्रतिमूर्ति के सदृश संगठित शरीर—यह है हमारे परमाराध्य आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी म० सा० की पहचान एवं जिसे लोग "युग प्रवर्तक आचार्य श्री हस्ती गुरु" के नाम से जानते हैं। इस आध्यात्मिक युग पुरुष को उनकी प्रथम पुण्य तिथि पर कोटि-कोटि नमन—

गुरु हस्ती सी हस्ती बोलो कहां मिलेगी ?
गुरु वाणी से घर-घर की बगिया महकेगी ।।
सामायिक-स्वाध्याय के प्रबल प्रचारक जय गुरु हस्ती ।
"जिनवाणी" के प्रबल प्रचारक जय गुरु हस्ती ।।
जैन जगत के दिव्य सितारे जय गुरु हस्ती ।
कोटि-कोटि भक्तों के प्यारे, जय गुरु हस्ती ।।
मेरी शक्ति कहाँ गुरु-गुणगान करूं मैं ।
प्रखर भानु के सम्मुख कैसे दीप धरूँ मैं ।।
हूँ पामर नादान न जानूं शब्द संजोना ।
नहीं चाहती फिर भी स्वर्णिम अवसर खोना ।।

जय गुरु हस्ती, शत-शत प्रणाम !

—३, सवाई रामसिंह रोड, मेरु पैलेस होटल के पास, जयपुर-४

□ □ □

अमृत-करण

★ अन्तर में शक्ति के विद्यमान रहते हुए भी उसे जगाया नहीं गया तो विकास नहीं होगा ।

★ मुझे अपने घर का स्वामित्व प्राप्त होना चाहिए अर्थात् मेरी आत्मा पर कर्म-किरायेदारों का अधिकार न होकर मेरा ही अधिकार होना चाहिए ।

★ भावना में यदि अनासक्ति है तो कोई भी जीवन-निर्वाह का साधन भोग या परिग्रह नहीं बनता । आसक्ति होने पर सभी पदार्थ परिग्रह हो जाते हैं ।

—आचार्य श्री हस्ती

....नाम रटो दिन-रात

☐ प्रभा गिड़िया

महान् व्यक्ति का स्मरण पुण्य अर्जन कराता है, महान् व्यक्ति की अभिव्यक्ति का स्मरण सद्गुणों का सर्जन कराता है, महान् व्यक्ति की विरक्ति का स्मरण दुर्गुणों का विसर्जन कराता है और महान् व्यक्ति के समाधि का स्मरण धर्म के प्रति समर्पण कराता है।

ऐसा महान् व्यक्ति कौन, जिनके निमित्त से पुण्य-अर्जन, जीवन-सर्जन, दुर्गुण-विसर्जन और धर्म-समर्पण होता है ?

ऐसा महान् व्यक्ति वही है जो आत्मा, महात्मा स्वरूप को धारण करे और महात्मा से परमात्मा बनने की दिशा में प्रयाण करे। ऐसे ही एक महान् आत्मा आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब को अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करने हेतु मेरा मन लालायित हो रहा है। यह कार्य अत्यंत दुरूह है क्योंकि—

सब धरती कागद करूँ, लेखनी सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय।।

गुरु-गुण को लिखना सरल नहीं। गुरु को लघु कितना क्या अभिव्यक्त कर सकता है ? असीम व्यक्तित्व को क्या ससीम शब्दों में गूंथा जा सकता है ? कभी नहीं.......।

फिर भी मैं लिख रही हूँ,
ऐसा क्यों ?
यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहेगा,
क्योंकि श्रद्धा जो है वह निराकार है।

मुझे स्मरण हो रहा है आचार्य मानतुंग स्वामी का 'भक्तामर स्तोत्र', जो आदिनाथ प्रभु के प्रति उत्पन्न भावना को शब्दों की साकारता प्रदान करना चाह रहे हैं, साथ में अपनी असमर्थता जान रहे हैं। तब उनकी जो बेचैनी—व्याकुलता थी, मानसिकता थी, वह निम्न शब्दों से स्पष्ट होती है—

"अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्।

यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्रचारु—कलिका निकरैक हेतुः ।।"

ऐसी ही स्थिति मेरी भी बनी है। गुरुदेव गजेन्द्र का स्मरण मुझे अपनी भावाव्यक्ति के लिए विवश कर रहा है—

आचार्य भगवन् !

सत्य धर्म के प्रतिबोधक थे,
सामायिक स्वाध्याय के उद्बोधक थे,
अज्ञान अंधकार के निरोधक थे,
शिथिलता के अवरोधक थे,
वीतरागता के सजग उपासक थे,
गूढ़ रहस्यों के वे उद्घाटक थे।

ऐसे गुरुदेव ने पीपाड़ में जन्म लेकर वीर वाणी को पीना, आत्मस्वरूप को पाना और पाप से डरना सीखा था। पूज्य गुरुदेव "अप्प दीवो भव" की प्रेरणा के प्रत्यक्ष प्रतीक थे। आपश्री का सम्पूर्ण जीवन धर्म-संस्कृति को समर्पित रहा। वर्तमान युग के आप एक अलौलिक यशोमहिमा को धारण किये हुए थे। वह महिमा त्रिविध थी। यह त्रिविध महिमा अन्तर एवं बाहरी जगत् को आलोकित करने वाली थी।

अन्तर जगत् की त्रिविध महिमा थी—

१. **सोत्साह ज्ञानाराधन**—जब देखो तब पठन-पाठन में नित नूतन अन्वेषण-अनुसन्धान में तल्लीन।

२. **निर्ग्रन्थ प्रवचन पर अविचल श्रद्धान**—यही कारण था कि भयंकर से भयंकर व्याधि के प्रसंगों में भी एक ही स्वर मुखरित होता था—"यह शरीर तो विनाशधर्मा है।"

३. **आगमोक्त आचार मार्ग में दृढ़ता**—दृढ़ आचारवन्त थे गुरुदेव। पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभनों को उन्होंने ठुकरा दिया। उनकी एक ही निष्ठा थी कि संयमी गरिमा को खोकर कुछ भी पाना आत्म-वंचना है।

इस अन्तर जगत् की महिमा के कारण ही इस महापुरुष का देह धारण करना एवं देह-विसर्जन करना दोनों ही गरिमामय थे। भीतर साधना का जबरदस्त ओज था और अनुभूत मननशीलता थी। आपके मुख मण्डल पर

....नाम रटो दिन-रात

□ प्रभा गिड़िया

महान् व्यक्ति का स्मरण पुण्य अर्जन कराता है, महान् व्यक्ति की अभिव्यक्ति का स्मरण सद्गुणों का सर्जन कराता है, महान् व्यक्ति की विरक्ति का स्मरण दुर्गुणों का विसर्जन कराता है और महान् व्यक्ति के समाधि का स्मरण धर्म के प्रति समर्पण कराता है।

ऐसा महान् व्यक्ति कौन, जिनके निमित्त से पुण्य-अर्जन, जीवन-सर्जन, दुर्गुण-विसर्जन और धर्म-समर्पण होता है ?

ऐसा महान् व्यक्ति वही है जो आत्मा, महात्मा स्वरूप को धारण करे और महात्मा से परमात्मा बनने की दिशा में प्रयाण करे। ऐसे ही एक महान् आत्मा आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब को अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करने हेतु मेरा मन लालायित हो रहा है। यह कार्य अत्यंत दुरूह है क्योंकि—

सब धरती कागद करूँ, लेखनी सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय।।

गुरु-गुण को लिखना सरल नहीं। गुरु को लघु कितना क्या अभिव्यक्त कर सकता है ? असीम व्यक्तित्व को क्या ससीम शब्दों में गूंथा जा सकता है ? कभी नहीं........।

फिर भी मैं लिख रही हूँ,
ऐसा क्यों ?
यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहेगा,
क्योंकि श्रद्धा जो है वह निराकार है।

मुझे स्मरण हो रहा है आचार्य मानतुंग स्वामी का 'भक्तामर स्तोत्र', जो आदिनाथ प्रभु के प्रति उत्पन्न भावना को शब्दों की साकारता प्रदान करना चाह रहे हैं, साथ में अपनी असमर्थता जान रहे हैं। तब उनकी जो बेचैनी—व्याकुलता थी, मानसिकता थी, वह निम्न शब्दों से स्पष्ट होती है—

"अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्।

यत्कोकिल: किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्रचारु—कलिका निकरैक हेतु: ।।"

ऐसी ही स्थिति मेरी भी बनी है। गुरुदेव गजेन्द्र का स्मरण मुझे अपनी भावाव्यक्ति के लिए विवश कर रहा है—

आचार्य भगवन् !

सत्य धर्म के प्रतिबोधक थे,
सामायिक स्वाध्याय के उद्‌बोधक थे,
अज्ञान अंधकार के निरोधक थे,
शिथिलता के अवरोधक थे,
वीतरागता के सजग उपासक थे,
गूढ़ रहस्यों के वे उद्‌घाटक थे।

ऐसे गुरुदेव ने पीपाड़ में जन्म लेकर वीर वाणी को पीना, आत्मस्वरूप को पाना और पाप से डरना सीखा था। पूज्य गुरुदेव "अप्प दीवो भव" की प्रेरणा के प्रत्यक्ष प्रतीक थे। आपश्री का सम्पूर्ण जीवन धर्म-संस्कृति को समर्पित रहा। वर्तमान युग के आप एक अलौकिक यशोमहिमा को धारण किये हुए थे। वह महिमा त्रिविध थी। यह त्रिविध महिमा अन्तर एवं बाहरी जगत् को आलोकित करने वाली थी।

अन्तर जगत् की त्रिविध महिमा थी—

१. **सोत्साह ज्ञानाराधन**—जब देखो तब पठन-पाठन में नित नूतन अन्वेषण-अनुसन्धान में तल्लीन।

२. **निर्ग्रन्थ प्रवचन पर अविचल श्रद्धान**—यही कारण था कि भयंकर से भयंकर व्याधि के प्रसंगों में भी एक ही स्वर मुखरित होता था—"यह शरीर तो विनाशधर्मा है।"

३. **आगमोक्त आचार मार्ग में दृढ़ता**—दृढ़ आचारवन्त थे गुरुदेव। पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभनों को उन्होंने ठुकरा दिया। उनकी एक ही निष्ठा थी कि संयमी गरिमा को खोकर कुछ भी पाना आत्म-वंचना है।

इस अन्तर जगत् की महिमा के कारण ही इस महापुरुष का देह धारण करना एवं देह-विसर्जन करना दोनों ही गरिमामय थे। भीतर साधना का जबरदस्त ओज था और अनुभूत मननशीलता थी। आपके मुख मण्डल ५

ब्रह्मचर्य का अपूर्व तेज झलकता था और जनमानस की विकृतियों को दूर करने वाली वचन-शक्ति के आप धारक थे अर्थात् आचार्य देव ओजस्वी, मनस्वी, तेजस्वी, वचस्वी और तपस्वी थे।

आपकी बाह्य जगत् में जो चतुर्विध महिमा थी वह जन-जन में प्रशंसा का एवं इन्द्रिय-विषयों में अनुरक्तों के मन में श्रद्धा का विषय बनी हुई तथा चतुर्विध संघ के गौरव को बढ़ाने वाली थी। वह चतुर्विध महिमा थी—

- लघुवय में महापथ पर अभिनिष्क्रमण।
- लघुवय में आचार्य पद को सुशोभित करना।
- आचार्य पद की सुदीर्घ पर्याय को धारण करना।
- पंच परमेष्ठी के तीन पद से अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनों परमश्रेष्ठ पदों से प्रतिष्ठित होना।

आपश्री ने लाखों किलोमीटर का पद विहार करके राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक और मद्रास आदि क्षेत्रों में सामायिक-स्वाध्याय का अलख जगाया। जन-मन को सामायिक- स्वाध्याय की मंगल प्रेरणा देकर साधना के लिये उन्हें उत्प्रेरित किया। इन अर्थों में आप मंगल पुरुष थे—पावनता के प्रतीक थे।

मिथ्यात्व के प्रभाव से, भौतिकता के तीव्र आकर्षण से पुद्गलानन्दी जीवात्माएँ—जिनकी दृष्टि पर मोह-ममता का जाल था, उनकी आँखों को जिसने ज्ञानरूप अंजन शलाका से खोल दिया। ऐसे गुरुदेव वास्तव में दृष्टि-प्रदाता थे। आपकी कृपा से कितने ही पामर प्राणी सम्यक्त्व-रत्न पाकर पावनता से जुड़ गये।

आपके चरण जिस भूमि पर पड़े वहाँ की जनचेतना त्याग-वैराग्य की दृष्टि से सरसब्ज बनी। आप जहाँ भी गये वहाँ आपका कर्म सिर्फ प्रवचन प्रभावनात्मक ही सीमित न रहा, बल्कि आपने वहाँ के जन-मानस को समझा। वहाँ के धर्म प्रेमियों का जीवन शांतिमय-सुखमय बने, इस हेतु उनके पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन पर दृष्टिपात किया। जहाँ-जहाँ भी आपने काषायिक जहर घुलता फैलता-बढ़ता देखा वहाँ-वहाँ आपने वीतरागता का पावन मंत्र सुनाकर सबको विष मुक्त किया। पूज्य श्री के इन सामाजिक-शांति के कार्य जब स्मृति-पटल पर आते हैं तब सहज ही 'दादू' की गुरु-महिमा की यह शब्दावली याद आ जाती है—

"मन भुजंग बहु विष भरया, निर्विष क्यूं ही न होई ।
'दादू' मिल्या गुरु गारुडी, निर्विष किन्हा सोई ।।"

आप श्री का जीवन अनेकानेक विशेषताओं से अनुरंजित था । ज्ञान साधना द्वारा ज्योतिर्मय बनकर जन-जन को ज्योतिर्मान करने रूप तेजस्विता, अभय बनकर धर्म और संस्कृति के लिये पल-पल आत्म-बलिदान करने रूप निर्भयता, करुण बनकर दीन-दुःखियों का आत्म-सम्मान रखते हुए, वात्सल्य सहयोग रूप उदारता आपके महान् व्यक्तित्व का परिचय था । आपका जीवन अध्यात्म भावना से परिसिंचित था । आपके व्यक्तित्व में तेजस्विता, निर्भयता और उदारता की त्रिवेणी प्रवहमान थी ।

पूज्य श्री का जीवनगत आचरण सलिल सा तृप्तिदायक था । आपका सामायिक-संदेश मक्खन सा शक्तिदायक था । आपका स्वाध्याय संदेश अमृत सा मुक्तिदायक था ।

पूज्य गुरु हस्ती की संयमी मस्ती का, मंगलमय उत्तम जीवन का अन्तिम फलित आदर्श समाधि मरण था । अतीत के लम्बे इतिहास में किसी आचार्य का इस प्रकार जागृति परक सुदीर्घ समाधिमरण की आराधना का प्रसंग सुनने, जानने एवं पढ़ने को नहीं मिला । इस रूप में इस प्रसंग को इतिहास का स्वर्णिम अध्याय कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

वैसे तो पूज्य आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. के समाधिमरण की घटना जहाँ एक ओर भक्त समुदाय के लिये शोक की घटना है वहीं दूसरी ओर श्रमण संस्कृति के लिये गौरव का, साधक वर्ग के लिये प्रेरणा का और अध्यात्म जगत् के लिये मंगल का प्रसंग है ।

पूज्य भगवन्त का यह समाधि वरण हमारे अन्दर समाधि की स्मृति को जीवित रखने में परम सहयोगी बनेगा । देवेन्द्र नरेन्द्र से पूजित गुरु गजेन्द्र के महिमा मण्डित व्यक्तित्व को शत-शत, वन्दन-नमन के साथ में श्रद्धा-सुमन समर्पित करती हूँ ।

"गुरु त्राता, भ्राता गुरु, गुरु माता, गुरु तात ।
परमेश्वर सम सुगुरु का, नाम रटो दिन-रात ।।"

—गिड़िया भवन,
A-३५, धर्मनारायणजी का हत्था,
पावटा, जोधपुर (राज.)
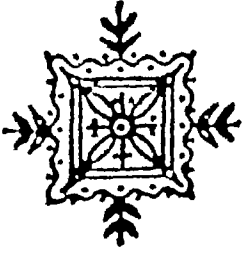
ऐसे थे हमारे पूज्य गुरुदेव

☐ श्री श्रीलाल कावड़िया

परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री हस्तीमल जी म० सा० महान् व्यक्तित्व के स्वामी थे। आपने अपने श्रमण-जीवन में अनेक धार्मिक संस्थानों की स्थापना की तथा अनेक महान् ग्रंथों सहित विपुल जैन साहित्य की रचना की। सामायिक एवं स्वाध्याय के तो आप प्रवल प्रेरक थे। अपने दीर्घ साधना-जीवन में अनेक कठिनाइयों का समाधान करते हुए आपने संघ एवं समाज की अथक सेवा की तथा भारत भर में राजस्थान, दिल्ली, पंजाव, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडू आदि दक्षिणी राज्यों का भ्रमण करते हुए धर्मप्रेमी जनता को अपने प्रवचन-उद्बोधन से लाभान्वित किया तथा अनेक स्थानों पर स्वाध्याय संघों की स्थापना की।

अपना अंतिम समय निकट जानकर, आचार्य श्री ने अत्यधिक अस्वस्थ होते हुए भी औषधि आदि लेना बंद कर दिया। भक्तजन अनेक डॉक्टरों एवं वैद्यों को भी लेकर आए परन्तु आचार्य श्री ने कहा कि यह शरीर तो नश्वर है तथा एक दिन जाना ही है और समाधिपूर्वक अपनी साधना में अटल रहे।

निमाज में विराजित सभी संत-सतियों ने आचार्य प्रवर की सेवा का लाभ लिया तथा उनकी इच्छानुसार, संलेखना संथारा कराया। समाधियुक्त अवस्था में २१-४-९१ को रात्रि ८ बजे लगभग आचार्य श्री ने नश्वर देह का त्याग कर दिया।

आचार्य श्री के महाप्रयाण से पूर्व तो हजारों-लाखों भक्तों ने निमाज पहुँचकर दर्शन एवं सेवा का लाभ लिया ही था परन्तु उनकी अंतिम यात्रा में तो एक लाख से भी अधिक श्रद्धालुजनों की उपस्थिति अभूतपूर्व थी, जैसे दर्शनार्थियों का सागर उमड़ पड़ा हो। राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री भैरोंसिंह शेखावत सहित अनेक गणमान्य व्यक्ति भी अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु वहाँ उपस्थित थे। आचार्य श्री के अन्तिम काल का सान्निध्य पा निमाज नगर धन्य हो गया एवं तीर्थस्थल बन गया।

मुझे तो वाल्यावस्था से ही आचार्य श्री के सान्निध्य का सुअवसर प्राप्त

होता रहा है। अजमेर में संवत् १९९० के वृहद् साधु सम्मेलन के अवसर पर भी मुझे आप श्री के दर्शनों का लाभ प्राप्त हुआ। सम्मेलन में बड़े-बड़े महान् संत, आचार्य, उपाध्याय पधारे थे परन्तु उनमें सबसे कम आयु के आचार्य आप श्री ही थे।

संवत् १९९३ का आचार्य प्रवर का चातुर्मास अजमेर में, समीर शुभ कार्यालय भवन (ममैयों का नोहरा) में हुआ। इस समय अन्तेवासी शिष्य श्री छोटे लक्ष्मीचन्द जी म० सा० के सान्निध्य में मैंने प्रतिक्रमण सीखा तथा आचार्य श्री के दर्शनों एवं सेवा का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। आचार्य प्रवर की विनम्रता भी देखने को मिली। उस समय श्री सुजानमल जी म. सा., श्री भोजराज जी म० सा० एवं श्री अमरचन्द जी म० सा० को दीक्षा एवं आयु में बड़े होने के नाते आचार्य श्री विधिवत् वन्दन करते और वे महान् सन्त आचार्य प्रवर का सम्मान करते।

एक बार मेरे छोटे सुपुत्र चि० सुनीलकुमार को गंभीर व्याधि हुई। काफी चिकित्सा के बावजूद भी स्थिति निराशाजनक थी। आचार्य श्री भी उस समय अजमेर में विराजित थे। उनसे अर्ज की तो स्वयं कृपा करके मेरे निवासस्थान पधारे तथा चि० सुनील के कान में मंत्र सुनाया। उसी समय से उसके स्वास्थ्य में प्रगति आरम्भ हो गई तथा शीघ्र ही पूर्ण स्वास्थ्य लाभ हो गया। ऐसा था आचार्य श्री का वात्सल्य एवं प्रताप।

दक्षिण प्रांत एवं बालोतरा के ग्रामों में विहार के समय आचार्य श्री के साथ-साथ चलने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ। छोटे ग्रामों में विहार में काफी कठिनाइयाँ सामने आती हैं परन्तु ऐसे महापुरुष सब परिस्थितियों में समभाव रखते हुए निर्मल संयम की आराधना करते हैं।

मैं जब कभी भी आचार्य श्री के दर्शन करने जाता, वे हमेशा ही धर्म ध्यान एवं स्वाध्याय की प्रेरणा देते तथा कई बार तो मुझे हँसकर कहते कि तुम तो भामाशाह के वंशज हो।

ऐसे से हमारे पूज्य गुरुदेव! आज वे हमासे बीच शरीर रूप में तो नहीं हैं पर उनकी पुनीत स्मृति हमें युगों-युगों तक प्रेरणा प्रदान करती रहेगी। उस महापुरुष के चरण-कमलों में शत-शत वन्दन।

—कावड़िया सदन, कड़क्का चौक, अजमेर

□ • □
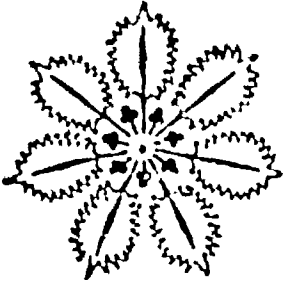
अपराजेय व्यक्तित्व के धनी

☐ श्री अमरचन्द लोढ़ा

आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा० बड़े प्रभावशाली और पुण्यवान् आचार्य थे। आप हजारों नर-नारियों के आकर्षण के केन्द्र थे। गेहुँआ वर्ण, ठिगना कद, गठा हुआ शरीर, प्रशस्त ललाट और गोल-गोल चमकती वात्सल्य भरी आँखें, यह था उनका प्रभावशाली बाह्य-व्यक्तित्व। आपकी स्पष्टवादिता और उसमें झलकते चारित्र के तेज के सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति नतमस्तक हो जाता था। आप जन साधारण के बीच बहुत सादगी और सरलता से आत्मीय-भाव का स्रोत बहाते थे। आचार्य श्री का प्रभाव इतना तीव्र था कि विरोधी जन भी आपसे अभिभूत हुए बिना नहीं रहते। आपकी पुण्यवत्ता अद्वितीय थी। जो कार्य सैंकड़ों व्यक्तियों के परिश्रम और धन से भी सम्भव नहीं होता, आपकी पुण्यवत्ता से स्वयं ही हो जाया करता था।

आपका जन्म वि० सं० १९६७ की पौष शुक्ला १४ को मारवाड़ में पीपाड़ नगर के बोहरा परिवार में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम था श्री केवलचन्द जी बोहरा और माता का नाम था रूपाबाई। जब आप गर्भ में थे तभी आपके पिताश्री का स्वर्गवास हो गया था। माताश्री ने आपको बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोषा। कहा जाता है कि आपके परिवारवाले जन्म-समय लिखकर एक वृद्ध अनुभवी ज्योतिषी को दिखलाने को ले गये तो उसने बतलाया कि इस जातक (संतान) के २०वें वर्ष में प्रतापी नरेशों से भी बढ़कर महा-पुरुष बनने का योग है। माता इसी सुनहली आशा पर अपने पीहर और कभी ससुराल की छाया में बैठकर आशा के दीप संजोती रहती। पूर्व जन्म के संस्कार बीजानुकूल वातावरण पाकर अंकुर रूप में फूटने लगे। खेलकूद, खान-पान आदि के प्रति उतनी आसक्ति जगी ही नहीं थी कि उसे मिटाने की चेष्टा करनी पड़े। माता की धार्मिक वृत्तियाँ, पड़ौस का धर्मानुप्राणित वायुमण्डल और फिर संत-जनों का सम्पर्क आपको उत्कृष्ट विरक्ति की ओर मोड़ने में सहायक बना। रत्नवंश के छठे पट्टधर आचार्य श्री शोभाचन्द्र जी के पास १० वर्ष की वय में माघ शुक्ला द्वितीया को अजमेर नगर में आर्हती दीक्षा स्वीकृत कर आप सर्वारंभ परित्यागी श्रमण बन गये।

आचार्य हस्ती प्रारम्भ से ही शोभाचन्द्र जी महाराज के प्रिय शिष्य रहे। आपकी प्रज्ञा बड़ी प्रखर एवं तत्त्व मनीषा बड़ी ही सूक्ष्म थी। आप दिन-रात तीव्र अध्यवसाय के साथ ज्ञानार्जन में जुटे रहते। गुरु शोभाचन्द्र जी महाराज जैसे कठोर अनुशासन की देखरेख में आप रहे, पर उलाहना भरा एक शब्द भी कभी नहीं मिला। यही आपकी आचार-शुद्धि का जीवंत प्रमाण है। बालक होते हुए भी आप स्थिर योगी थे। जाप अपना हर कार्य बड़ी सावधानी तथा मनोयोग से किया करते थे। बहुधा आप इंगित से ही सब समझ जाया करते थे। बाल्यावस्था में ही आपमें यह असाधारण योग्यता थी। आपके जीवन पर शोभा गुरु की जो अमिट छाप पड़ी, वही प्रेरणा-सूत्र बनकर आपको आजीवन प्रेरित करती रही। आप सदा निर्लिप्त भाव तथा कर्तव्य-बुद्धि से हर कार्य को किया करते थे।

वि० सं० १९८३ की सावण बदी अमावस को आचार्य शोभाचन्द्र जी महाराज का स्वर्गवास हुआ। दैहिक संस्कारों के बाद समूचे संघ ने मिलकर आपसे प्रार्थना की—'आप आचार्य पद पर विराजें'। आपने बिलकुल रूखा सा उत्तर दिया—"पहले पूर्वाचार्य द्वारा लिखा पत्र देखो, किसका नाम है?" संघ की भक्ति भरी मनुहारें और विनय भरा आग्रह भी आपको नहीं पिघला सका। आखिर पत्र सुनाया गया तभी आपने पद ग्रहण किया। यह थी आपकी पद की अपेक्षा कर्तव्य को ऊँचा मानने की प्रकृति। पद का व्यामोह नहीं, पर कर्तव्य आपके जीवन का अनुपम आदर्श था। आचार्य हस्ती के शासन-काल को रत्नवंश का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस काल में ज्ञान-साधना, प्रचार-क्षेत्र, स्वाध्याय-संघ, श्रावक समाज आदि प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि व उन्नति हुई। चादर महोत्सव वि० सं० १९८७, अक्षय तृतीया को सिंहपोल, जोधपुर में हुआ।

संस्कृत के किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

'सूतेम्भः कमलानि तत्परिमलं वाता वितन्वन्तियत्' अर्थात् जल तो सिर्फ कमल को पैदा करता है, उसके परिमल को तो पवन ही फैलाता है। आचार्य हस्ती के उच्च चारित्र और विद्वत्ता की महिमा भारत ही नहीं अपितु संसार के सभी सभ्य देशों में पहुँच गई थी। बड़े-बड़े विद्वानों ने आपके दर्शन किये तथा आपसे तत्त्व-चर्चाएँ भी की। आखिर सबने यही कहा—"हमें भगवान् महावीर की शुद्ध परम्परा के श्रमणों के दर्शन हुए।"

आपको तात्त्विक बातचीत का बड़ा शौक था। आप वादविवाद नहीं, संवाद पसन्द करते थे। आप अत्यन्त शीतल व मधुर स्वभाव के थे। कैसा भी क्रोधादि का प्रसंग उपस्थित होता, पर आप अपने सौम्य स्वभाव से थोड़े भी

विचलित नहीं होते। संघर्ष में शान्ति का उपदेश, मन का संतुलन, आचार-व्यवहार की स्पष्टता आचार्य श्री के जीवन में पग-पग पर परिलक्षित होती थी। आप संघर्षों को सफलता का प्रतीक मानते थे।

आपका आखिरी चातुर्मास मरुभूमि के पाली नगर में हुआ। इस चातुर्मास में अनेक कार्यक्रम, तपस्याएँ उपवास, तेले, मासखमण, पचरंगी आदि हुए। यह परम सौभाग्य की बात है कि आपकी ८१वीं जन्म जयन्ती मनाने का श्रेय आपकी उपस्थिति में पाली संघ को मिला। यह चातुर्मास जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित रहेगा।

संयम-यात्रा का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए आप सोजत सिटी पधारे। सोजत से निमाज पधारे। अंत में आपने शरीर की अशक्यता का बोध कर निमाज में आमरण अनशन कर वि० सं० २०४८, प्रथम वैशाख शुक्ला अष्टमी को इस देह का व्युत्सर्ग किया। सचमुच एक दिव्य ज्योति महातात्मा का हमारे बीच से प्रस्थान हो गया, परन्तु आज भी वह अमिट लौ लाखों-लाखों मनुष्यों के हृदय में अज्ञान की तमिस्रा को दूर करती हुई भव्यजनों का पथ प्रशस्त कर रही है। अतः उस ज्योतिर्मय दिव्य पुंज, कला-साधक कुंज, साहित्य साधक को हृदय की समस्त शुभ भावनाओं से श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर मैं अपने आपको धन्य और कृतकृत्य अनुभव करता हूँ।

—पाली (राजस्थान)

तेरा नाथ बसे नैनन में

□ आचार्य श्री रतनचन्द जी म. सा.

तू क्यों ढूंढे वन-वन में, तेरा नाथ बसे नैनन में ।। टेर ।।
कइयक जात प्रयाग वाणारसी, कइयक वृन्दावन में ।
प्राण वल्लभ बसे घट अन्दर, खोज देख तेरा मन में ।। १ ।।
तज घर वास बसे बन भीतर, छार लगावे तन में ।
धर बहु भेष रचे बहु माया, मुगत नहीं छे इन में ।। २ ।।
कर बहु सिद्धि, रिद्धि, निधि आपे, बगसे राज बचन में ।
ये सहु छोड़ जोड़ मन जिनसूं, मुगति देय इन छिन में ।। ३ ।।
मूल मिथ्यात मेट मन को भ्रम, प्रकटे ज्योत 'रतन' में ।
सद्गुरु ज्ञान अजब दरसायो, ज्यों मुखड़ा दरपण में ।। ४ ।।
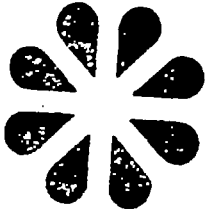
आचार्य श्री की स्थायी स्मृति

□ श्री माणकमल भण्डारी

सड़न, गलन और विध्वंस औदारिक शरीर का स्वभाव है और इसी के फलस्वरूप जो औदारिक शरीर धारण करता है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। मनुष्य आता है और चला जाता है। अंग्रेजी के एक कवि ने ठीक ही कहा है—

For man may come,
And man may go,
But I go on for ever.

अर्थात् मनुष्य आता है और चला जाता है, परन्तु समय का प्रभाव सदा ही चलता रहता है। महापुरुष जन्म लेते हैं और अपनी आयु पूर्ण कर चले जाते हैं। पीछे छोड़ जाते हैं अपनी यादें, अपने सिद्धांत, अपने उपदेश आदि। इसी यादगार को ताजा और स्थायी रखने हेतु कीर्ति-स्तम्भ, मन्दिर, चबूतरे, आश्रम, अस्पताल, स्कूल आदि का निर्माण किया जाता है ताकि जाने वाले की यादगार को अमर रखा जा सके। परन्तु क्या इस प्रकार के निर्माण स्थायी रह सकते हैं ? सम्भवतया नहीं। पत्थरों के निर्माण कभी स्थायी नहीं होते, समय के साथ नष्ट हो जाते हैं। पत्थरों में स्थायी यादगार मानना एक भ्रान्ति है।

स्थायी स्मृति अन्तर्हृदय में रहती है। वह बाह्य प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। किसी महापुरुष की यादगार उनके बताये हुये मार्ग का अनुसरण करने में है न कि बाह्य निर्माण या प्रदर्शन में।

आज से ठीक एक वर्ष पूर्व हमने एक ऐसे महान् आध्यात्मिक युग-पुरुष को खो दिया था, जिसने विनाशोन्मुख मानवता को महाविनाश के पथ से मोड़ कर स्व-पर कल्याणकारी विश्वकल्याण के मार्ग पर अनेकानेक लोगों को प्रशस्त किया। उस महापुरुष का जीवन अपने आप में एक खुली पुस्तक था और उस पुस्तक का एक-एक अध्याय हमारे लिये प्रेरणास्पद है। उनके जीवन का एक-एक क्षण अमूल्य था। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की युक्ति को हृदयगंम कर सभी से मैत्रीभाव रखने की उन्हें सदैव अभिलाषा रहती थी। गुणी व्यक्ति को

देखकर आचार्य श्री का हृदय सदैव प्रमुदित रहता था। कविवर 'युगवीर' के शब्दों में—"मैत्री भाव जगत् में मेरा, सब जीवों पर नित्य रहे।"

आचार्य प्रवर ने प्रभु महावीर के उपदेशों को जन-जन तक पहुँचाया। सामायिक एवं स्वाध्याय के माध्यम से आपने हजारों लोगों के जीवन को एक आध्यात्मिक मोड़ दिया। सामायिक और स्वाध्याय तो मानो आपका पर्याय-वाची हो गया हो। जहाँ सामायिक और स्वाध्याय का नाम आता वहाँ आपका नाम अवश्य आता। आचार्य प्रवर अनेक गुणों के धारक थे। विनय, सेवा, सिद्धान्तों पर अडिगता आदि कुछ ऐसे गुण थे जिनका आचार्य प्रवर ने अपने सम्पूर्ण जीवन भर पालन किया। अपने से बड़ों का आदर करना आचार्य प्रवर की एक मुख्य विशेषता थी। हमने प्रत्यक्ष देखा है—आचार्य प्रवर ने अपने से दीक्षावय में बड़ों का सदैव सम्मान किया है। उदाहरण के रूप में रत्नवंश के वयोवृद्ध सन्त बाबाजी श्री सुजानमलजी म. सा. का, को आचार्य प्रवर से दीक्षा में बड़े थे, आचार्य होते हुये भी उन्हें आप वन्दना करते थे और बाबाजी भी संघ के नायक के रूप में आचार्य श्री को वन्दना करते थे। दोनों महापुरुषों का वन्दन-व्यवहार एक ओर जहाँ आपकी विनय-भक्ति का परिचायक है वहाँ दूसरी ओर रत्नवंश का एक आदर्श था जो हमारे सन्त-सतियों के लिए प्रेरणास्पद है।

आचार्य प्रवर दूसरों की सेवा शुश्रूषा करने में सदैव तत्पर रहते थे और इसमें प्रमोद अनुभव करते थे। आप न केवल अपने सम्प्रदाय के सन्तों की वरन् इतर सम्प्रदाय के सन्तों की सेवा भी निष्पक्ष भाव से करते थे। पूज्य आचार्य श्री जयमलजी म. सा. की सम्प्रदाय के वयोवृद्ध स्वामीजी श्री चौथमलजी म. सा. की १३ दिन के संथारे तक सेवा कर, आपने जो सेवा का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया, वह विरल है। अपने स्वयं के परिवार के सन्तों में स्वामीजी श्री भोजराजजी म. सा., शान्तमूर्ति श्री अमरचन्दजी म. सा., बाबाजी श्री सुजानमलजी म. सा., प्रसिद्ध भजनीक श्री माणकमुनिजी म. सा. आदि सन्तों की अंतिम इच्छानुसार उनकी सेवा में रहकर आपने सेवा भाव को मूर्त रूप दिया। कुचेरा में स्थिर वास विराजित स्वामी श्री रावतमलजी म. सा. की सेवा हेतु अपने दो सन्तों को उनके पास भेज कर आपने दो सम्प्रदायों के मधुर सम्बन्धों को एक कदम आगे बढ़ाया।

आपके अन्य गुणों में अपने सिद्धान्त पर हिमालय की तरह अडिग रहने का गुण अन्य लोगों के लिये प्रेरणास्पद है। आपने सिद्धान्तों से कभी समझौता नहीं किया, भले ही इसके लिये आपको ही उपालम्भ क्यों न मिला हो। भौतिकता के प्रवाह में न बहते हुए आप सदैव अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहे

चाहे वह ध्वनि विस्तार के यन्त्र के प्रयोग का मामला हो या समाज में व्याप्त शिथिलाचार का अथवा अन्य किसी विषय का। 'सिद्धान्त सर्वोपरि है', यही आपके जीवन का प्रमुख ध्येय था। ऐसे अनेक प्रसंग उपस्थित हुए जब आप पर वर्तमान हवा के रुख को देखकर समय के साथ परिवर्तन करने हेतु दबाव भी आये, परन्तु आप किंचित मात्र भी नहीं हिले।

वैसे तो आपका सम्पूर्ण जीवन ही त्याग और तपोमय था परन्तु आपका संध्याकाल अपने पूर्ववर्ती साधनाकाल से भी कहीं अधिक उजागर निकला। अपने अंतिम समय में संथारा ग्रहण कर समाधि मरण को प्राप्त कर आपने अपने पीछे जो स्थायी यादगार छोड़ी है, वैसी संभवतया पिछली कुछ सदियों में किसी भी आचार्य ने नहीं छोड़ी। यह आपकी अध्यात्म साधना का ही फल था कि संथारे की अवधि तक मुसलमान बन्धुओं ने पशुवध व कत्लखाने बन्द रखे। किसी के समझाने पर सम्भवतया ऐसा हो पाता या नहीं परन्तु यह आपकी आध्यात्मिक शक्ति का ही फल था कि हिंसक व्यक्तियों ने भी अहिंसा का मार्ग अपनाया। मानव ही नहीं पशुओं के प्रति भी आपके प्रेम व स्नेह ने नागराज का भी मन जीत लिया और कहते हैं कि वह नागराज आपके अंतिम दर्शनों हेतु निमाज में उपस्थित था।

हमने अरिहन्तों को नहीं देखा, सिद्धों को नहीं देखा परन्तु आचार्य भगवन् में हमने अरिहन्तों व सिद्धों को प्रतिबिम्बित होते देखा है। महापुरुष किसी एक व्यक्ति, परिवार या सम्प्रदाय के नहीं होते। वे तो सभी के होते हैं। यही बात आचार्य भगवन् पर भी लागू होती है। वे सबके थे और सबके लिये थे।

आचार्य प्रवर भले ही शरीर से आज हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु उनके उपदेश, उनके एक-एक शब्द आज भी हमें प्रेरणा देते हैं और हमारे लिये मार्ग-दर्शक हैं। उनका दिया हुआ सामायिक और स्वाध्याय का नारा आज भी हमारा पथ-प्रदर्शक है।

आइये, आचार्य भगवन् की प्रथम पुण्य तिथि पर हम यह संकल्प करें कि यदि हमें उनकी स्मृति को स्थायी रूप देना है तो हम उनके उपदेशों को, सामायिक और स्वाध्याय की प्रवृत्तियों को अपने अन्तर्हृदय में धारण कर उन्हें अपने जीवन में उतारें और अन्य लोगों को भी इस ओर प्रेरित करें। यही उस महापुरुष के प्रति हमारी सही श्रद्धांजलि होगी और यही उनकी स्थायी स्मृति भी।

—रावतों का वास, जोधपुर
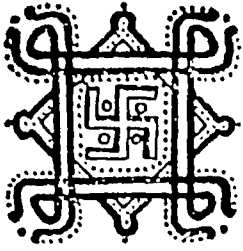
संयम-साधना के कीर्तिस्तंभ

☐ श्री लक्ष्मीचन्द जैन

साधना के बिना व्यक्ति को आत्मसिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। साधना का गुणगान तो सभी कर सकते हैं परन्तु जीवन में साधना करने वाले विरले ही होते हैं। संत की साधना गृहस्थ की साधना से उच्च कोटि की होती है। संतों में भी जैन संत एवं जैन संतों में स्थानकवासी जैन संत-सतियों की साधना उच्च कोटि की होती है, क्योंकि छः काया के जीवों की रक्षा विषयक परिपालना में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संयम-पद्धति स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन संत-साध्वियों की है।

स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन संतों, आचार्यों में भी एक से अधिक के नामों का उल्लेख होता है, परन्तु आचार्य श्री हस्तीमल जी म. सा. जैसा आचरण धर्म की आराधना करने वाला संत अति दुर्लभ है।

(१) लाउड स्पीकर का उपयोग नहीं होने देना। (२) अपना फोटो नहीं खींचने देना (३) अपने नाम पर किसी संस्था का नामकरण नहीं करने देना, ये कुछ ऐसी विरल विशेषताएँ हैं जिनके कारण आपका कृतित्व एवं व्यक्तित्व समूचे संत समुदाय में अनूठा है।

संयम-साधना में अप्रमत्त—'चरैवेति चरैवेति' के सिद्धान्त को आपने जीवन पर्यन्त अपनाया। स्वास्थ्य में कई प्रकार के उतार-चढ़ाव आए परन्तु स्थिरवास नहीं किया। प्रतिक्षण सजग रहकर संयम-साधना की। शासनपति भगवान महावीर का संदेश—'एक क्षण का भी प्रमाद मत करो'—आपके जीवन में साकार रूप से परिलक्षित होता रहा।

विचक्षण प्रतिभा के धनी—बीस वर्ष की ही आयु में आचार्य पद प्रदान किया जाना ही आपकी विलक्षण प्रतिभा का प्रमाण है। साठ वर्षों से अधिक समय तक संघ का संचालन किया। पाँच आचार ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरिताचार, तपाचार एवं वीर्याचार के पालन में आप अद्वितीय रहे। आचार में दृढ़ता एवं विचारों में नवीनता का मणिकांचन संयोग आपके जीवन में था। आप गुणों के ऐसे पारखी थे कि एक बार व्यक्ति आपके संपर्क में आ जाय, फिर वह उनकी ओर खिचा हुआ सदैव चला आता रहा। उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों

को धर्म की ओर आकर्षित करने वाला यदि कोई बर्तमान युग में था तो वे आचार्य प्रवर हस्तीमल जी म० सा० थे। विशेष कर शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े परिवारों का लाभ धर्म एवं समाज को सदैव मिलता रहे, इस हेतु नवीनतम योजना स्वाध्यायी बन्धु बनाना, आपकी सूझ-बूझ का ही परिचायक है। लक्ष्मीपुत्रों को सरस्वती भक्त बनाने का अद्भुत कार्य आपने ही किया। बुद्धिमान को विद्वान् एवं विद्वान् को ज्ञानी बनाने की कला में आप पारंगत थे। आप न केवल अध्यात्म-योगी थे वरन् एक ऐसे पारस महापुरुष थे जो न केवल लोहे को स्वर्ण बनाते थे, अपितु उस भी पारस बना देते थे।

पारगामी प्रज्ञा पुरुष—परिस्थिति को पहचानने में आप पारंगत थे। अतलतल में पहुँचने की शक्ति आपमें विद्यमान थी। व्यक्ति के चेहरे के भीतर झाँककर आप देख लेते थे कि इस व्यक्ति के जीवन को सुघड़ बनाने के लिए किस प्रकार के उपचार की आवश्यकता है। बहुत से व्यक्ति आपको भविष्यद्रष्टा के रूप में मानते हैं। इस सम्बन्ध में आपका स्पष्ट दृष्टिकोण था कि यदि व्यक्ति अपने गुणों का विकास करेगा तो उसकी जीवन-यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न होगी, गुणों की वृद्धि का कहीं अहंभाव जागृत ना हो जावे, इसके लिए श्रेय महापुरुषों के चरणों में अपने को अर्पित करना चाहिए। सादगी एवं सौम्य सद्भावना से ओत-प्रोत दिव्य नेत्र, प्रसन्नचित्त मुद्रा सहज रूप से सबको आकर्षित करती थी। अल्प निद्रा, अल्प उपकरण, अल्पभाषी ये कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जिनके कारण आप भक्तों के मध्य आराध्य बने रहे। श्रेष्ठ श्रमण जीवन की साधना करते हुए स्वाध्याय, ध्यान और मौन की त्रिवेणी में आप तल्लीन रहे। आपके जीवन का एक ही लक्ष्य रहा कि "मैं ऐसे स्थान पर पहुँचना चाहता हूँ जहां से लौटकर कभी वापस न आना पड़े।" इस उद्देश्य की प्राप्ति में आप अनवरत निमग्न रहते थे। आप कहा करते थे—

निशि दिन नयनन में नींद न आवे,
तब ही नर नारायण बन पावे।

उनके अंतर हुआ प्रकाश अपने अंतर करो प्रकाश—अपने भीतर प्रकाश करने का दिव्य संदेश देते हुए, इस नश्वर काया को आपने आत्म समाधि में लीन होकर छोड़ी एवं हम सबके मार्गदर्शक बनकर आप अमर हो गए। आपकी पारगामी विद्या का हम यदि रंच मात्र भी अध्ययन कर सकें तो आपके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

गुण छत्तीसी पूरिया, सुन्दर नै सुखमाल।
ऐसे आचारज तणा, चरण नमूं तिरकाल।।

—प्रधानाचार्य, छोटी कसरावद (जिला खरगोन) ४५१ २२८
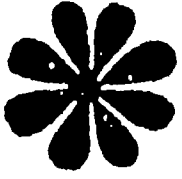
अध्यात्म साधना के सुमेरु

□ प्रो० छोगमल जैन

जीवन के परमानन्द व मुक्ति के लिए साधना का महत्त्व प्रत्येक जिज्ञासु, ज्ञानी, ध्यानी. तपस्वी व आचार्य ने वताया है। स्वयं साधना तो साधक के लिए लाभप्रद है ही अतः सभी करते हैं परन्तु साधना के लिए प्रेरित करना और भूलों-भटकों को सन्मार्ग दिखाकर साधना की ओर अग्रसर करना तथा साधना-सरिता सतत प्रवाहित होने के उद्देश्य से शाश्वत प्रयास करना बिरले भाग्य-शाली महापुरुषों के आशीर्वाद से ही सम्भव है। आचार्यजी ने इसी ध्येय से अपने जीवन में सामायिक और स्वाध्याय को विशेष महत्त्व दिया।

वैसे तो साधना साधक के लिए एक विशाल सागर के समान है। साधक अपनी क्षमता एवं सुविधानुसार काल, क्षेत्र एवं शरीर-स्वास्थ्य का विचार करके साधना करता है, परन्तु आचार्य श्री ने सर्व साधारण के कल्याण के लिए तथा सबको सुविधायुक्त सामायिक एवं स्वाध्याय पर अधिक ध्यान दिया। इस उद्देश्य से स्थान-स्थान पर सामायिक संघ, स्वाध्याय संघ तथा स्वाध्यायियों के लिए शिविर आदि के आयोजन आचार्य श्री की ही देन है।

सामायिक एक ऐसी साधना है कि साधक अपने उपलब्ध समय में प्रति-मुहूर्त के हिसाब से चाहे जितनी व चाहे जब कर सकता है। 'तत्त्वार्थ' सूत्रानुसार तप के बारह भेदों (छः बाह्य व छः आभ्यन्तर) में प्रतिसंलीनता बाह्य भेदों में अन्तिम बताया है। सामायिक प्रतिसंलीनता तप के अन्तर्गत आता है। इसमें इन्द्रिय, योग, कषाय एवं विविक्त शयनासन चारों प्रकार की प्रतिसंलीनता सम्मि-लित है। एक मुहूर्त तक साधक अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखकर, कषायों से दूर रहकर तीनों योगों की चंचलता को कम करते हुए एकान्त साधना करता है।

कुछ ज्ञानियों ने तो सामायिक में सभी प्रकार के तपों को सम्मिलित किया है यथा सामायिक की समयावधि में खान-पान से मुक्त रहने से अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी एवं रस-परित्याग तप की आराधना हो जाती है और एक सीमित स्थान पर एक आसन्न से बैठने से न्यूनाधिक काया-क्लेश की भी तप साधना हो जाती है। इसी प्रकार उस अवधि में इरियावहियं के पाठ के माध्यम से प्रायश्चित्त, बड़ों के प्रति सेवाभाव से वैयावृत्य, कषाय-मुक्ति से विनय, अध्ययन या पठन-पाठन से स्वाध्याय, ध्यान तथा व्युत्सर्ग सभी प्रकार के आभ्यन्तर तप

की साधना सामायिक में निहित है। इस प्रकार एक सामायिक क्रिया से सभी प्रकार की साधना हो जाती है। यह जानकार ही आचार्य श्री ने सामायिक पर अधिक बल देते हुए सामायिक-साधना को आत्म-कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण बताया।

स्वाध्याय का यद्यपि सरल अर्थ है स्वयं अध्ययन करना। नवकार मंत्र की एक माला फेरने में भी १०८ गाथाओं का स्वाध्याय हो जाता है क्योंकि पूर्ण नवकार मंत्र एक गाथा है। आचार्य श्री ने स्वाध्याय संघों की स्थापनाओं के द्वारा श्रावकों में धार्मिक ग्रंथों के पठन-पाठन, अध्ययन, चिंतन व मनन का प्रचार किया। साथ ही स्वाध्याय शिविरों के माध्यम से ऐसे श्रावक तैयार करवाये जो शास्त्र व धर्म का ज्ञान प्राप्त करके उन क्षेत्रों में पर्युषण पर्व के दिनों में जाकर धर्माराधना करावें जहाँ संत-सतियों के चातुर्मास नहीं होने से धर्मज्ञान-सरिता सूख रही हो।

आचार्य श्री ने सामायिक व स्वाध्याय के प्रचार-प्रसार के लिए ही स्थान-स्थान पर स्थानीय श्रावकों को प्रेरित किया और इसी उद्देश्य से आपकी प्रेरणा से आज समाज में पूरे देश में कई संस्थाएँ कार्यरत हैं। कुछ संस्थाएँ अखिल भारतीय स्तर की हैं जिनके द्वारा श्रावकों, श्राविकाओं, युवकों, महिलाओं तथा बच्चों में धार्मिक भावनाएँ जागृत होकर धर्म की प्रभावना बढ़ती है। आपके सत्प्रयास व प्रेरणा से कुछ पत्रिकाओं का नियमित प्रकाशन होता है जिनमें 'जिनवाणी', 'स्वाध्याय शिक्षा' प्रमुख हैं। इनके द्वारा दूर-दूर के पाठकों तक शास्त्र की वाणी व धार्मिक संदेश पहुँचाये जाते हैं। विभिन्न स्थानों पर धार्मिक पाठशालाओं और स्वाध्याय संघों की स्थापना से जैन बालकों और युवकों में धार्मिक शिक्षण के साथ ही जैन शास्त्रों का प्रचार-प्रसार घर-घर हो रहा है।

आचार्य श्री स्वयं एक महान् साधक थे। उन्होंने अपनी ज्ञान-साधना में रत रहकर अल्पायु से ही गुरुवर आचार्य श्री शोभाचन्द्रजी के निर्देशन में कई आगमों व शास्त्रों का अध्ययन किया। आप मौन साधक, महान् चिंतक व साधकों के प्रेरक थे। आपने अपनी ज्ञान-गंगा जन-जन के उपयोगार्थ प्रवाहित की। साहित्य-सर्जन व इतिहास-निर्माण जैसे कठोर कार्य में अपना योगदान दिया।

आजीवन साधनारत रहते हुए जन-कल्याण की भावना ही नहीं प्राणी मात्र के कल्याण की भावना आपके हृदय में द्रवीभूत होती रहती थी। जीवन के अन्तिम प्रहर में शारीरिक दुर्बलता होने पर भी आप अपने शिष्यों को कष्ट देना नहीं चाहते थे। आपकी प्रबल इच्छा पद-यात्रा की ही रहती थी।

आज न केवल भारत वरन् विश्व के अनेक देशों में आचार्य श्री के भक्त-गण अपने विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में जीविकोपार्जन के साथ ही सामायिक व स्वाध्याय की साधना में रत हैं और आचार्य श्री से प्रेरणा लेकर ही अपना जीवन सफल बनाने में संलग्न हैं।

आचार्य श्री दृढ़ निश्चयी, आत्म-बलधारी और आश्वासन को पूरा करने वाले थे। जीवन की अन्तिम वेला में शारीरिक दुर्बलता के कारण स्थिरवास हेतु जोधपुर के श्री संघ की विनती पर भी आप जोधपुर न जाकर भंडारी परि-वार को दिये आश्वासन को पूरा करने हेतु निमाज पधारे। भविष्यद्रष्टा आचार्य श्री ने अपना अन्तिम समय निकट जानकर औषधि न लेकर संलेखना-संथारा की साधना में अपनी देह को लगाया और पंडित मरण प्राप्त किया।

ऐसे महान् योगी, साधक, प्रज्ञापुरुष, तेजस्वी, कर्मठ, भविष्यद्रष्टा, संयमी, साधना के सुमेरु, आध्यात्मिक गुणों के धारक, सौम्य और गंभीर व्यक्तित्व के धनी आचार्य श्री के चरणों में शत-शत वंदन।

—१३२, विद्यानगर, इन्दौर-४५२००१

अमृत – कण

- समाधि - अवस्था प्राप्त करने के लिए सामायिक व्रत का अभ्यास आवश्यक है।
- आत्म-स्थिरता ही सामायिक की पूर्णता है।
- आत्मा में जब तक शुद्ध वृत्ति नहीं उत्पन्न होती, शुद्ध आत्म-कल्याण की कामना नहीं जगती और मन लौकिक एषणाओं से ऊपर नहीं उठ जाता, तब तक शुद्ध सामायिक की प्राप्ति नहीं होती।

—आचार्य श्री हस्ती
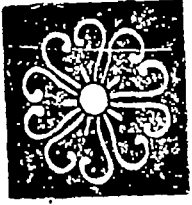
युवा पीढ़ी के लिए मार्गदर्शक

☐ श्री सुनीलकुमार जैन

अल्पायु में संयम-पथ के राही बनने वाले एवं युवावस्था में आचाय पद को सुशोभित करने वाले, जिनका जीवन वृत्त स्वयं ही युवकों को प्रेरणादायी है, ऐसे आचार्य प्रवर का सान्निध्य जब प्राप्त होता था, तब उनकी स्नेहमयी आँखें जो सन्देश देती थीं, वह कहे जाने वाले हजारों शब्दों एवं कई उपदेशों से अधिक प्रेरणादायी होता था। ऐसा प्रेरक सान्निध्य देने वाले, आचार्य प्रवर हस्तीमल जी महाराज साहब के द्वारा समाज की नई पौध, नन्हे-मुन्ने बच्चों के लालन-पालन, हाँ उनके नैतिक, आध्यात्मिक लालन-पालन की दिशा में जो चिंतन सुझाया, वह समय की सर्वाधिक माँग रही। उनके द्वारा बच्चों को संस्कारित करने के लिए एक जेहाद छेड़ा गया। उनके जेहाद का ही परिणाम, बच्चों में एक नई जागृति देखी गई एवं जगह-जगह उनके द्वारा सुझाई गई, स्वाध्याय-शालाएँ कार्यरत हैं। आज जबकि नई पीढ़ी के भटकाव की बातें सामने आती हैं। देश में, समाज में युवकों के भटकने की चिन्ता व्याप्त है। हेरोइन, गांजा, चरस, स्मेक के नशे से जूझती युवा पीढ़ी को आचार्य प्रवर के द्वारा स्नेहमयी भाषा में कुव्यसन की समझाइश और बुराइयों से बचने का मार्ग सुझाना एवं बचपन से ही कुव्यसन त्याग की ओर आकृष्ट करना, उनकी बहुमूल्य देन वर्तमान समाज को है। उस समय उनके द्वारा अपनी वाणी से सींचे गये बचपन, युवा के रूप में आज सामने आते हैं, ऐसे विकसित युवा, कुव्यसन से दूर एवं नैतिक चरित्र के वल पर हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति का आभास कराते हैं तो सहज ही उनकी देन चहुं ओर प्रकाशमान होती है।

परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर हस्तीमलजी म० सा० ने जिन-शासन की प्रभावना की दिशा में अपना हर पल सार्थक किया। उन्होंने जो आह्वान किया था, वह समय की कसौटी पर सार्थक हुआ, पूरा उतरा। उनकी कथनी एवं करनी में कोई भेद नहीं था इसलिए उनका सुझाया पथ हर किसी को सहज श्रेयस्कर लगता था। आचार्य प्रवर द्वारा रचित 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' उनके उपदेशों का सार, उनके अनेक ग्रंथ आज हमारे वीच हैं। उनकी यह देन, अनमोल है। समाज के नैतिक उत्थान के लिए उनके द्वारा कहा गया हर शव्द अनमोल रत्न है। ऐसे 'रत्न' सम्प्रदाय के तेजस्वी आचार्य के द्वारा अपनी संयम-यात्रा के दौरान संचित किये गये अनमोल कणों, मनकों को जव पिरोया

गया, उनको गूंथा गया तो वह एक अनमोल रत्न-जड़ित हार बना। उस हार को नाम दिया गया—रत्न जड़ित हार, स्वाध्याय, स्वयं के कणों का समीकरण। एक ऐसा समीकरण, जिसमें स्वयं के द्वारा, स्वयं की खोज, अन्तरात्मा की खोज।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अध्ययन का असीम महत्त्व है। विना अध्ययन के मनुष्य का जीवन शून्य है। इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में आचार्य श्री ने जैन धर्म की गूढ़ता, प्राकृत की गाथाओं के भावों को अत्यन्त ही साधारण शब्दों में जन-सुलभ कराया। वे सोचते थे कि इसका मर्म समझाने का प्रयास यदि नहीं किया गया तो युवा पीढ़ी धर्म से अनजान वनी रहेगी एवं अभी वह जितनी दूर है, इससे और अधिक दूरी वढ़ जायेगी। इस दूरी को पाटने के लिए उनके द्वारा सर्वप्रथम युवा-पीढ़ी एवं युवा से भी पहले, किशोर एवं वालकों को समझाने हेतु वाल-सुलभ शैली का मार्ग अख्तियार किया गया। उनका सोचना था कि जो परिपक्व हो चुके हैं, यानी कि मटकी चिकनी हो चुकी है, उस पर तो कोई असर होने वाला नहीं है, अतः वे कच्चे मटके पर रंग-रोगन की अधिक बात करते थे, उन पर अधिक ध्यान देने का वीड़ा उन्होंने उठाया। शनैः शनैः अध्ययन एवं स्वाध्याय की परम्परा से युवकों को जोड़ने की उन्होंने ठानी, क्योंकि स्वाध्याय से जुड़ा हुआ साधक, श्रावक, (श्रावक किसी भी उम्र का हो सकता है, उसकी कोई सीमा नहीं है, बालक भी श्रावक हो सकता है) शास्त्र, जिनवाणी के अध्ययन की दिशा में अपने छोटे-छोटे पग बढ़ायेगा तो मंजिल की ओर कुछ ले चलेगा ही। सही दिशा में उसके चलने की यही शुरूआत उसे आगम के मर्म को सुझायेगी। इस तरह स्वाध्याय के पथ पर अग्रसर हुआ, साधक, श्रावक, स्वाध्यायी अपने गंतव्य, जन्म-मरण से रहित, सुख-दुःख रहित अवस्था की ओर उद्यत होता जायेगा, वह अपने आपको सामायिक अवस्था में पायेगा। आचार्य श्री का मिशन, पथिक को गंतव्य तक पहुँचाने वाला है।

आडम्बर एवं अन्य बाह्य उपादान रहित, स्थानकवासी जैन धर्म के पास अपने सन्तों के अलावा एक मात्र माध्यम बचा रहता है आगम, ग्रन्थ, शास्त्र। लेकिन जब तक यह सब स्थानक की आलमारी में बंद है, इसके कपाट खुले नहीं हैं, तब तक इनकी उपयोगिता मानव जीवन के लिए शून्यप्राय है। आचार्य श्री ने स्वाध्याय की पुनीत परम्परा से, ग्रन्थों को कपाट से नियमित रूप से बाहर लाने का एक सरल सा मार्ग सुझाया। नियमित स्वाध्याय ही जीवन को एक नई दिशा देता है। जैसे बूंद-बूंद से घट भर जाता है, वैसे ही नित्य कुछ-कुछ समय अध्ययन को देने से, स्वाध्याय की दिशा में प्रकाश की नई किरण प्रगट होती है एवं प्रकाश की एक किरण, दूर-दूर तक फैले तम को दूर करने में सक्षम होती है। स्वाध्याय की वेला में, स्वाध्याय की धारा में, पढ़ा गया हर शब्द समझा

गया हर शब्द, गूढ आगम के अर्थ को नई दिशा देता है, जैनागम, इतिहास की पर्त को नये सिरे से सामने लाता है एवं मन-मस्तिष्क में नई आभा का सूत्रपात कर देता है। जैन आगम, इतिहास को संवारने व नई दिशा देने में आचार्य श्री द्वारा जो श्रम साध्य कार्य किया गया है, उसकी जितनी सराहना की जाय, उतनी कम है। उसका स्वाध्याय ही सही मायने में उसका मूल्य है और यही आचार्य श्री के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि है।

—जी-२, पुलिस (सी. आर. पी.) लाईन, एम. वाय.
अस्पताल के पीछे, इन्दौर-४५२ ००१

□ □ □

ज्ञान रा बीड़ा रचाओ रे

□ मुनि श्री सुजानमलजी म. सा.

चाल—ज्ञान का विरवा लगाओ रे।
ज्ञान रा बिड़ला रचाओ रे, थाने सद्गुरु दे शाबाश,
ज्ञानरा बिड़ला रचाओ रे ।।टेर।।

सील सुगन्ध जल अंग पखालो, तप सिरपाव सजावो रे।
धर्म भोजन जीमो बहु-विध सूं, अनुभव बीड़ा खाओ रे ।।ज्ञान० १।।

निज गुण प्रेम का पान मंगाओ, पर गुण चूनो लगाओ रे।
समकित काथो केवड़ियो डारी, उपसम लाली झलकाओ रे ।।ज्ञान० २।।

सुरत सुपारी रा फूल कतर कर, धीरज इलायची ल्याओ रे।
सुबुध बिदाम लगन लोंग धर, प्रवचन पिस्ता मिलाओ रे ।।ज्ञान० ३।।

नय निक्षेप रा डोडा जावंत्री, कृपा किस्तूरी गुण ठाओ रे।
सोना चांदी रा वर्ग धर्म शुक्ल रा, बीड़ा बांध लिपटाओ रे ।।ज्ञान० ४।।

विवेक वड़वीर ने राय चेतन कहै, हुकुम प्रमाण चढ़ाओ रे।
काम क्रोध मोह महीपति दुश्मन, इनको खोज गमाओ रे ।।ज्ञान० ५।।

मोह राय पर कर केसरिया, वीड़ो झाल चढ़ जाओ रे।
समता गढ़ चढ़ सत्य वाण लड़, जीत निसाण घुड़ाओ रे ।।ज्ञान० ६।।

या विध ज्ञान का वीड़ा चावी, शिव मार्ग अवधाओ रे।
'सुजाण' कहे इन भव पर भव में, नित रहे रंग वधाओ रे ।।ज्ञान० ७।।

गुरु-गुण लिखा न जाय

☐ श्री अशोककुमार जैन

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० का व्यक्तित्व बहुआयामी था। नियमित मौन साधना, अप्रमत्त जीवन, ज्ञान और क्रिया का समन्वय, कथनी और करनी में एकरूपता, समस्त प्राणियों के प्रति करुणा, सामायिक-स्वाध्याय की प्रेरणा देना एवं प्रत्येक जन के जीवन-निर्माण हेतु आप सतत प्रयत्नशील रहते थे। आप पर-निन्दा, विकथा एवं प्रमाद से हमेशा कोसों दूर रहते थे व अप्रमत्त भाव से साधना में मस्त रहते थे।

आचार्य श्री अनुशासन प्रिय थे। स्वयं गुरु-चरणों के कठोर अनुशासन में रहकर शिक्षा और संस्कारों की विधि प्राप्त की थी। इसलिये एक सैनिक की भांति न केवल स्वयं अनुशासित जीवन जीते थे वरन् दूसरों को भी अनुशासन में रहकर कार्य करने की प्रेरणा देते थे। आपका जीवन वाणी और व्यवहार से अनुशासन की जीती जागती तस्वीर था। आप जब भी मौन में बैठते थे, पूर्ण रूप से मनोनिग्रह रखते थे। आप अप्रमत्त भाव से साधु-मर्यादा का आजीवन पालन करते रहे।

आचार्य श्री करुणा व दया के सागर थे। एक प्रसंग है। एक बार आप विहार कर रहे थे। एक काला सर्प लोगों को दिखाई दिया। उस सर्प को देखकर विहार में चलने वाले लोग उसको मारने के लिए चिल्लाने लगे। आचार्य श्री से यह सब देखा नहीं गया। आप उस सर्प के पास गये। उसे मंगलपाठ सुनाया और अपनी झोली में ले लिया। झोली में लेकर दूर जंगल में छोड़ दिया। मानव मात्र पर ही नहीं वरन् मूक प्राणियों के प्रति भी आपका हमेशा करुणा व दया का भाव रहता था।

आचार्य श्री जीवन-पर्यन्त पूर्ण अहिंसक बने रहे। आप विकटतम परिस्थितियों में भी ऐसी दवाइयाँ लेना पसन्द नहीं करते थे जिससे प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा होती हो। आपकी हमेशा प्रबल भावना रहती थी कि साधु-साध्वी एक्युप्रेशर पद्धति से उपचार करावें। आप सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की हिंसा से बचते थे। आज के भौतिकवादी व वैज्ञानिक युग में भी आपने अपने प्रवचनों में कभी भी माइक का प्रयोग नहीं किया क्योंकि इससे वायुकाय एवं तेजस्काय के जीवों की हिंसा होती है।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० हमेशा सामायिक-स्वाध्याय की प्रेरणा देते रहते थे। आप कहा करते थे—यदि आपको किसी को प्रेरणा देनी है तो स्वयं वैसा आचरण करो। दूसरे आपके आचरण को देखकर स्वयं शिक्षा लेंगे। आप हमेशा सामायिक-स्वाध्याय में निरत रहते थे। प्रत्येक भाई-बहिन को उनकी क्षमतानुसार अपनी-अपनी साधना पद्धतियों से नियमित साधना का संकल्प कराते थे। दुर्व्यसनी व्यक्तियों को व्यसन-मुक्त होने की प्रेरणा देते रहते थे। स्वयं भी अहर्निश जाग्रत होकर अप्रमत्त भाव से स्वाध्याय में रत रहते थे। आपके जीवन को देखकर ही प्रत्येक व्यक्ति, जो भी दर्शन करने आता, सामायिक-स्वाध्याय का नियम अवश्य लेता था। उसी का प्रभाव है कि अधिकांश घरों में सामायिक-स्वाध्याय नियमित होता है। आप कहा करते थे कि जिस प्रकार शरीर-पुष्टि के लिये व्यायाम और भोजन आवश्यक है उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिए स्वाध्याय आवश्यक है।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० परोपकारी सन्त थे। आप हमेशा दूसरों के हित में सोचा करते थे। कभी-कभी तो दूसरों के दुःख को दूर करने के लिये स्वयं दुःख ओढ़ लेते थे किन्तु दूसरों को महसूस नहीं होने देते थे। मैंने अपने एक मित्र से सुना कि एक बार एक व्यक्ति बहुत दुःखी था। वह आपकी शरण में आया। आचार्य श्री ने उसके दुःख को दूर करने के लिये स्वयं को दुःख में डाल दिया। आप हमेशा समाज की नव पीढ़ी के बारे में फरमाया करते थे कि अगर इसे सच्चा मार्ग-दर्शन नहीं मिला तो यह भटक जावेगी। आपकी प्रेरणा से ही जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान जयपुर, स्वाध्याय विद्यापीठ, जलगांव आदि शैक्षणिक संस्थाएँ खुलीं। आपकी प्रेरणा से सच्चा मार्गदर्शन पाकर वहाँ से निकले हुए विद्यार्थी आज विविध क्षेत्रों में समाज व राष्ट्र की सेवा कर रहे हैं।

आचार्य श्री धैर्यवान थे। कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी धैर्य नहीं छोड़ते थे। एक घटना स्व. पं. शशिकान्तजी झा की डायरी से उद्धृत है। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच युद्ध चल रहा था। पाकिस्तानी वायुयान बम गिरा रहे थे। चारों ओर आतंक मचा रखा था। उस समय पूज्य आचार्य श्री का बालोतरा में चातुर्मास था। टैंकों के सामान से लदी लारियों और युद्धोपयोगी उपकरणों से बालोतरा संग्राम-स्थल की तरह दिखाई देता था।

आचार्य श्री के भक्तों की राय थी कि आचार्य श्री इस आपातकाल में बालोतरा को छोड़कर अन्यत्र चले जावें। मगर आचार्य श्री ने धैर्यपूर्वक विश्वास बंधाया कि मृत्यु अवश्यम्भावी है। आनी होगी तो वहाँ भी आ जावेगी और आचार्य श्री वहीं रहे, धैर्य नहीं छोड़ा। बड़ी विकट परिस्थितियाँ थीं। ऐसा लग

रहा था कि बालोतरा सुरक्षित रह भी पायेगा या नहीं। पर जब युद्धवन्दी की घोषणा हुई तो पता लगा कि बालोतरा पूर्ण रूप से सुरक्षित था। ऐसे थे आचार्य श्री।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के व्यक्तित्व के बारे में जितना लिखा जावे, उतना ही कम होगा।

सब धरती कागज करूँ, लेखन करूँ बनराय।
सब समुद्र की मसि करूँ, गुरु गुण लिखा न जाय।।

—निजी सहायक, वन संरक्षक (वन्य जीव), जयपुर

भेष धर यूं ही जनम गमायो

भेष धर यूं ही जनम गमायो।
लच्छन स्याल, सांग धर सिंह को, खेत लोकां को खायो ।।१।।

कर कर कपट निपट चतुराई, आसण दृढ़ जमायो।
अन्तर भोग, योग की बतियां, बग ध्यानी छल छायो ।।२।।

कर नर नार निपट निज रागी, दया धर्म मुख गायो।
सावज्ज-धर्म सपाप परूपी, जग सघलो बहकायो ।।३।।

वस्त्र-पात्र-आहार-थानक में, सबलो दोष लगायो।
संत दशा बिन संत कहायो, ओ कांई कर्म कमायो ।।४।।

हाथ समरणी, हिये कतरणी, लटपट होठ हिलायो।
जप-तप संयम आतम गुण बिन, गाडर सीस मुंडायो ।।५।।

आगम वेण अनुपम सुणने, दया-धर्म दिल भायो।
"रतनचन्द" आनन्द भयो अब, आतम राम रमायो ।।६।।

—आचार्य श्री रतनचन्दजी म० सा०
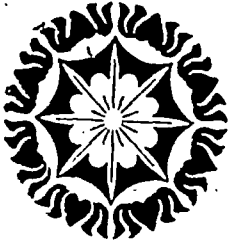
नैतिक उत्थान के प्रबल पक्षधर

□ श्रीमती ऋचा सुनील जैन

परम पूजनीय, चतुर्विध संघ के नायक पद को विभूषित करने वाले, सौम्य व्यक्तित्व के धनी, मृदुभाषी, सरल स्वभावी, रत्नवंश को दीपाने वाले, ज्ञानी, तेजस्वी, स्वाध्याय-प्रणेता, सामायिक के प्रबल पक्षधर जिन्होंने जैन धर्म के इतिहास के बिखरे हुए पन्नों को जुटाने का श्रमसाध्य कार्य किया, जैन धर्म का मौलिक इतिहास संकलित कर समाज को जो अनूठी भेंट दी, वह अतुलनीय है।

नपे-तुले शब्दों में, सरल सहज भाषा में मंत्रमुग्ध करने वाला उनका उद्‌बोधन जो अनुभवी एवं धीर-गंभीर श्रावकों को भी उतना ही सुहाता, जितना कि किशोर वय के श्रोताओं को। हर श्रोता, चाहे वह किसी भी वय का हो, उसे लगता कि आचार्य प्रवर उसके ही हैं, उसे ही समझा रहे हैं, उसे ही उद्‌बोधित कर रहे हैं। व्रत, संयम, आराधना, सद्-आचरण की शिक्षा के हामी रहे आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी म० सा० सदैव ही अपनी झोली के इन अनमोल रत्नों से आगन्तुक को मालामाल कर देते थे।

आचार्य प्रवर बच्चों में संस्कार के प्रबल पक्षधर थे। उनके द्वारा इन्दौर में श्री महावीर जैन स्वाध्यायशाला की नींव डाली गई। बच्चों को संस्कारित करने का कार्य उनके लिए सर्वोच्च प्राथमिकता का था। उनका मानना था कि संस्कार रहित जीवन अन्धकारमय होता है एवं असंस्कारी बालक को अपनी पथ-यात्रा का, अपने गन्तव्य का ज्ञान ही नहीं होता और वह गन्तव्यहीन दिशा में चलता जरूर है, लेकिन पहुँचता कहीं नहीं है एवं उसके द्वारा किया गया सारा श्रम निष्फल ही चला जाता है। आचार्य श्री ने कुव्यसन त्याग की ओर बच्चों को आकृष्ट किया, बच्चों को कुव्यसन की हानियाँ समझाईं, उन्हें दुर्गुणों से सचेत किया। कुव्यसन त्याग की पहली सीढ़ी के साथ वीर प्रभु का सामायिक-स्वाध्याय का फरमान उनके संरक्षण में बच्चों को सही पथ पर चलने को उद्यत करता है।

बच्चों को संस्कारित जीवन की ओर अग्रसर करने वाले उनके इस श्रम साध्य कार्य का मूल्यांकन उन बच्चों के संस्कारित जीवन को देखकर किया

जा सकता है। आज जब भौतिकता की अन्धी दौड़ में युवा पीढ़ी बेतहाशा भागती जा रही है, देश एवं समाज में नित नये रूप में जन्म ले रही बुराइयाँ, स्मैक, हेरोइन, चरस, गांजा, भांग का नये रूप में उपयोग युवा पीढ़ी की सोचने-समझने की शक्ति को लील रहा है, निर्माण एवं अनुसंधान के नये आयाम देने के कृत संकल्पित पथ से उसे भ्रष्ट कर रहा है, ऐसी स्थिति में हर बुराई से दूर रहने का नैतिक साहस प्रदान किया—परम तेजस्वी आचार्य प्रवर हस्तीमल जी म० सा० ने। उनके उपदेशों से, उनके तेजस्वी उद्बोधन से जो संस्कार का दीप प्रज्वलित हुआ, उसने इन सारी बुराइयों के तंत्र को समीप फटकने का मौका ही नहीं आने दिया।

—जी-२, पुलिस आवास, सी.आर.पी. लाइन, इन्दौर-४५२००१

□ □ □

ओ तो गढ़ बांको राज

ओ तो गढ़ बांको राज, कायम करने शिव सुख चाखो राज ।।ओ० ।।
आठ करम को घाट विषमता, मोह महीपत जाको।
मुगतपुरी कायम की बिरियां, बिच-२ कर रह्यो साको राज ।।ओ० १।।
खांडे की धार छुरी को पानो, विषम सुई को नाको।
कायम करतां छिन नहीं लागे, जो निज मन ढग राखो राज ।।ओ० २।।
जगत जाल की लाय विषमता, पुद्गल को रस पाको।
रसकुं छोड़ नीरस होई जावो, जग सुख सिर रंज नाखो राज ।।ओ० ३।।
"रतनचन्द" शिवगढ़ कूं चढ़तां, ऊठ ऊठ मत थाको।
अचल अक्षय सुख छोड़ विषय सुख, फिर-२ मत अभिलाखो राज ।।ओ० ४।।

—आचार्य श्री रतनचन्दजी म० सा०

आचार्य श्री की काव्य-साधना

□ डॉ० नरेन्द्र भानावत

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. भारतीय सन्त-परम्परा के विशिष्ट ज्ञानी, ध्यानी साधक, उत्कृष्ट क्रियाराधक और "जिनवाणी" के महान् उपासक, संवेदनशील साहित्यकार थे। आपको धार्मिक, आध्यात्मिक संस्कार विरासत में मिले। जब आप गर्भ में थे, तभी प्लेग की चपेट में आ जाने से आपके पिता चल बसे। माँ ने बड़े धैर्य और शांतिपूर्वक धर्माराधना करते हुए आपका लालन-पालन किया। सात वर्ष बाद प्लेग का पुनः प्रकोप हुआ, जिसमें आपके नाना और उनके परिवार के सात सदस्य एक-एक कर चल बसे। जिस परिस्थिति में आपका जन्म और बचपन बीता, वह प्लेग जैसी महामारी और भयंकर दुर्भिक्ष से ग्रस्त थी। लोग अत्यन्त दुःखी, अभाव ग्रस्त और असहाय थे। समाज बाल-विवाह, मृत्यु-भोज, पर्दा-प्रथा, अंधविश्वास आदि कुरीतियों और मिथ्या मान्यताओं से जकड़ा हुआ था। जात-पांत, छुआछूत और ऊँच-नीच के विभिन्न स्तरों में समाज विभक्त था। नारी की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। ब्रिटिश शासन, देशी रियासती नरेश और जमींदार ठाकुरों की तिहरी गुलामी से जनता त्रस्त थी। बालक हस्ती के अचेतन मन पर इन सबका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इन कठिन परिस्थितियों का बड़े धैर्य और साहस के साथ मुकाबला करते हुए बालक हस्ती ने अपने व्यक्तित्व का जो निर्माण किया, वह एक ओर करुणा, दया, प्रेम और त्याग से आर्द्र था, तो दूसरी ओर शौर्य, शक्ति, बल और पराक्रम से पूरित था।

साधु-सन्तों के संपर्क से और माँ के धार्मिक संस्कारों से बालक हस्ती पर वैराग्य का रंग चढ़ा और अपनी माँ के साथ ही ऐसे सन्त मार्ग पर वह बढ़ चला मात्र 10 वर्ष की अवस्था में, जहाँ न कोई महामारी हो, न कोई दुर्भिक्ष। आचार्य शोभाचन्दजी म. के चरणों में दीक्षित बाल-साधक सन्त हस्ती को ज्ञान, क्रिया और भक्ति के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति करने का समुचित अवसर मिला। साधना के साथ स्वाध्याय और स्वाध्याय के साथ साहित्य-सृजन की प्रेरणा विरासत में मिली।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. जैन धर्म की जिस स्थानकवासी परम्परा से सम्बन्धित थे, उसके मूल पुरुष आचार्य कुशलोजी हैं। कुशलोजी के गुरु भ्राता आचार्य जयमलजी उच्चकोटि के कवि थे। कुशलोजी के शिष्य आचार्य

गुमानचन्दजी म. सुतीक्ष्ण प्रज्ञावान संत थे। उनके शिष्य आचार्य रतनचन्दजी म. महान् क्रिया उद्धारक, धीर, गंभीर, परम तेजस्वी सन्त थे। इनके नाम से ही रतनचन्द्र सम्प्रदाय चला है। आचार्य रतनचन्दजी म. उत्कृष्ट संयम-साधक होने के साथ-साथ महान् कवि थे। इनके शिष्य आचार्य हमीरमलजी म. हुए, जो परम गुरु-भक्त, विनय मूर्ति और तेजस्वी थे। इनके शिष्य आचार्य कजोड़ीमलजी म. कुशाग्र बुद्धि के धनी थे। इनके शिष्य आचार्य विनयचन्द्रजी म. हुए, जो ज्ञान-क्रिया सम्पन्न विशिष्ट कवि थे। इनकी कई रचनाएँ आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार में हस्तलिखित कृतियों में सुरक्षित हैं। इनके शिष्य आचार्य शोभाचन्द्रजी म. सेवाव्रती, सरल स्वभावी और क्षमाशील संत थे। इन्हीं के चरणों में श्री हस्तीमलजी म. सा. ने जैन भागवती दीक्षा अंगीकृत की।

उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि आचार्य श्री जिस जैन सम्प्रदाय से जुड़े, उसमें साधना के साथ-साथ साहित्य-सृजन की परम्परा रही। आचार्य विनयचन्द्रजी म. के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय में श्री दुर्गादासजी म., कनीरामजी म., किशनलालजी म., सुजानमलजी म. जैसे सन्त कवि और महासती जड़ाव जी, भूरसुन्दरीजी जैसी कवयित्रियाँ भी हुई हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने उत्कृष्ट संयम-साधना के साथ-साथ साहित्य-निर्माण एवं काव्य-सर्जना को समृद्ध और पुष्ट कर रत्न सम्प्रदाय के गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए उसमें वृद्धि की।

आचार्य श्री हस्ती बहुआयामी प्रतिभा के धनी, आगमनिष्ठ चिन्तक साहित्यकार थे। आपने समाज में श्रुतज्ञान के प्रति विशेष जागृति पैदा की और इस बात पर बल दिया कि रूढ़ि रूप में की गई क्रिया विशेष फलवती नहीं होती। क्रिया को जब ज्ञान की आँख मिलती है, तभी वह तेजस्वी बनती है। स्वाध्याय संघों की संगठना और ज्ञान-भण्डारों की स्थापना की प्रेरणा देकर आपने एक ओर ज्ञान के प्रति जन-जागरण की अलख जगाई है तो दूसरी ओर स्वयं साहित्य-साधना में रत रहकर साहित्य-सर्जना द्वारा माँ भारती के भण्डार को समृद्ध करने में अपना विशिष्ट ऐतिहासिक योगदान दिया।

आपकी साहित्य-साधना बहुमुखी है। इसके चार मुख्य आयाम हैं :— १. आगमिक व्याख्या साहित्य, २. जैन धर्म सम्बन्धी इतिहास साहित्य, ३. प्रवचन साहित्य और ४. काव्य-साहित्य। यहाँ हम काव्य साहित्य पर ही चर्चा करेंगे।

आचार्य श्री प्राकृत, संस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं के प्रखर

विद्वान् होने के साथ-साथ आगम, न्याय, धर्म, दर्शन, व्याकरण, साहित्य, इतिहास आदि विषयों के व्यापक अध्येता और गूढ़ गम्भीर चिन्तक रहे हैं। इसी गूढ़, गम्भीर ज्ञान, मनन और चिन्तन की संवेदना के धरातल से आपने काव्य-रचना की है, पर आपका काव्य कहीं भी शास्त्रीयता से बोझिल नहीं हुआ है। वह सरल, सुबोध और स्पष्ट है। लगता है आपने अपने पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं, वरन् आगमों में निहित जीवन-मूल्यों को जन-साधारण तक पहुँचाने के लिए तथा जैन सांस्कृतिक व ऐतिहासिक परम्पराओं से उसे अवगत कराने के उद्देश्य से ही काव्य विधा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। आपके काव्य में लोक-मंगल, आत्म-जागरण और नैतिक उन्नयन की भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है।

आचार्य श्री के काव्य को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. स्तुति काव्य, २. उपदेश काव्य, ३. चरित काव्य और ४. पद्यानुवाद।

१. **स्तुति काव्य**—आचार्य श्री भाषा, साहित्य, आगम व तत्त्वज्ञान के प्रखर पण्डित होकर भी और आचार्य जैसे महनीय प्रभावी पद को धारण करते हुए भी जीवन में अत्यन्त सरल, विनयशील और स्नेहपूरित रहे हैं। ज्ञान और भक्ति का, शक्ति और स्नेह का, श्रुत-सेवा और समर्पण भाव का आप जैसा समन्वित व्यक्तित्व कम देखने में आता है। स्तुति में भक्त अपने आराध्य के प्रति निश्छल भाव से अपने को समर्पित करता है। आचार्य श्री का आराध्य वीतराग प्रभु है, जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है। भगवान् ऋषभदेव, शांतिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर स्वामी की स्तुति करते हुए उनके गुणों के प्रति कवि ने अपने आपको समर्पित किया है। भगवान् शांतिनाथ की प्रार्थना करते हुए कवि ने केवल अपने लिए नहीं, सबके लिए शांति की कामना की है—

> "भीतर शांति, बाहिर शांति, तुझमें शांति, मुझमें शांति।
> सबमें शांति बसाओ, सब मिलकर शांति कहो ।।१।।"

भगवान् महावीर की वन्दना करते हुए कवि की यही चाह है कि वह ज्योतिर्धर, वीर जिनेश्वर का नाम सदा रटता रहे और दुर्मति से सुमति में उसका निवास हो—

> "जिनराज चरण का चेरा, मांगू मैं सुमति-वसेरा।
> ओ 'हस्ती' नित वन्दन करना, वीर जिनेश्वर को ।।२।।"

आचार्य श्री की अपने गुरु के प्रति अनन्त श्रद्धाभक्ति है। गुरु ही शिष्य को पत्थर से प्रतिभावान बनाता है—

"गुरु कारीगर के सम जगमें, वचन जो खावेला ।
पत्थर से प्रतिमा सम वो नर, महिमा पावेला ।
घणो सुख पावेला, जो गुरु-वचनों पर, प्रीत वढ़ावेला ।।"

कवि की दृष्टि में सच्चा गुरु वह है, जिसने जगत् से नाता तोड़कर परमात्मा से शुभ ध्यान लगा लिया है, जो क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों का त्यागी है, जो क्षमा-रस से ओतप्रोत है । ऐसे गुरु की सेवा करना ही अपने कर्म-बंधनों को काटना है । गुरु के समान और कोई उपकारी नहीं और कोई आधार नहीं—

"उपकारी सद्गुरु दूजा, नहीं कोई संसार ।
मोह भंवर में पड़े हुए को, यही वड़ा आधार ।।"

गुरु से कवि भक्त-भगवान् सा सम्बन्ध जोड़ता है । कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी बड़ा बताया है, क्योंकि गुरु ही वह माध्यम है, जिससे गोविन्द की पहचान होती है । गुरु से विनय करता हुआ कवि अपने लिए आत्म-शांति और आत्मबल की मांग करता है—

"श्री गुरुवर महाराज हमें यह वर दो ।
रग-रग में मेरे एक शांति रस भर दो ।।"

मैं हूँ अनाथ भव दुःख से पूरा दुःखिया,
प्रभु करुणा सागर तू तारक का मुखिया ।
कर महर नजर अब दीननाथ तव कर दो ।।
ये काम क्रोध मद मोह शत्रु हैं घेरे,
लूटत ज्ञानादिक संपद को मुझ डेरे ।
अब तुम बिन पालक कौन हमें बल दो ।।

स्तुति काव्य में जहाँ कवि ने सत्गुरु के सामान्य गुणों की स्तवना की है, वहीं अपनी परम्परा में जो पूर्वाचार्य हुए हैं, उनके प्रति श्रद्धाभक्ति व विनयभाव प्रकट किया है । आचार्य भूधरजी, आचार्य कुशलोजी, आचार्य रतनचन्द्रजी और आचार्य शोभाचन्द्रजी के महनीय, वंदनीय व्यक्तित्व का गुणानुवाद करते हुए जहाँ एक ओर कवि ने उनके चरित्र की विशेषताओं एवं प्रेरक घटनाओं का उल्लेख किया है, वहीं यह कामना की है कि उनके गुण अपने जीवन में चरितार्थ हों । गुरु के जप/नामस्मरण को भी कवि ने महत्त्व दिया है—

१. श्री कुशल पूज्य का कीजे जाप, मिट जावे सब शोक संताप ।

२. जय बोलो रत्न मुनिश्वर की, धन कुशल वंश के पट्टधर की ।

३. सुमरो शोभाचन्द मुनीन्द्र, भो जिन धर्म दीपाने वाले ।

२. **उपदेश काव्य**—जैन संतों का मुख्य लक्ष्य आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण की प्रेरणा देना है। व्यक्ति का जीवन शुद्ध, सात्विक, प्रामाणिक और नैतिक बने तथा समाज में समता, भाईचारा, शांति एवं परस्पर सहयोग-सहिष्णुता की वृद्धि हो, इस उद्देश्य से जैन संत ग्रामानुग्राम पद-विहार करते हुए लोक हितार्थ उपदेश/प्रवचन देते हैं। उनका उपदेश शास्त्रीय ज्ञान एवं लोक-अनुभव से संपृक्त रहता है। अपने उपदेश को जनता के हृदय तक संप्रेषित करने के लिए वे उसे सहज-सरल और सरस बनाकर प्रस्तुत करते हैं। यही नहीं शास्त्रीय ज्ञान को भावप्रवण और हृदय-संवेद्य बनाने के लिए वे काव्य और संगीत का सहारा लेते हैं। इसी उद्देश्य से जैन संत-काव्य की सृष्टि अविच्छिन्न रूप से आज तक होती चली आ रही है। आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. के उपदेशात्मक काव्य की भी यही भावभूमि है।

आचार्य श्री के उपदेश-काव्य के तीन पक्ष हैं—१. आत्म-बोध, २. समाज-बोध और ३. पर्व-बोध। ये बोधत्रय आध्यात्मिकता से जुड़े हुए हैं। आचार्य श्री सुषुप्त आत्म-शक्ति को जागृत करने के लिए सतत साधना और साहित्य सृजनरत रहे। मानव-जीवन की दुर्लभता को दृष्टि में रखकर आपने बार-बार आत्म-स्वरूप को समझने और पहचानने की जनमानस को प्रेरणा दी है—

समझो चेतन जीव अपना रूप, यो अवसर मत हारो,
ज्ञान दरसमय रूप तिहारो, अस्थि मांसमय देह न थारो।
दूर करो अज्ञान, होवे घट उजियारो ॥

आचार्य श्री ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण पर बल देते हुए कहा है कि शरीर और आत्मा भिन्न हैं। शरीर के विभिन्न अंग और आँख, नाक, कान, जीभ आदि दिखाई देने वाली इन्द्रियाँ क्षणिक हैं, नश्वर हैं। पर इन्हें संचालित करने वाला जो शक्ति तत्त्व है, वह अजर-अमर है—

हाथ, पैर नहीं, सिर भी न तुम हो, गर्दन, भुजा, उदर नहीं तुम हो।
नेत्रादिक इन्द्रिय नहीं तुम हो, पर सबके संचालक तुम हो।
पृथ्वी, जल, अग्नि, नहीं तुम हो, गगन, अनिल में भी नहीं तुम हो।
मन, वाणी, बुद्धि नहीं तुम हो, पर सबके संयोजक तुम हो।

जब बहिरात्मा अन्तर्मुख होती है, तब सुरूप-कुरूप, काले-गोरे, लम्बे-बौने आदि का भाव नहीं रहता। इन्द्रिय आधारित सुख-दुःख से चेतना ऊपर उठ जाती है। तब न किसी प्रकार का रोग रहता है, न शोक। राग-द्वेष से ऊपर उठने पर जो अनुभव होता है, वह अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है। अनुभूति के इसी क्षण में आचार्य हस्ती का कवि हृदय गा उठता है—

मैं हूँ उस नगरी का भूप, जहाँ नहीं होती छाया-धूप।
तारा मण्डल की न गति है, जहाँ न पहुँचे सूर।
जगमग ज्योति सदा जगती है, दीसे यह जग कूप।
श्रद्धा नगरी वास हमारा, चिन्मय कोष अनूप।
निराबाध सुख में झूलूँ मैं, सद्चित्त आनन्द रूप।
मैं न किसी से दबने वाला, रोग न मेरा रूप।
'गजेन्द्र' निजपद को पहचाने, सो भूपों का भूप।

इस स्थिति में आत्मा अनन्त प्रकाश से भर जाती है। कोई आशा-इच्छा मन में नहीं रहती। शरीर और आत्मा के भेद-ज्ञान से भव-प्रपंच का पाश कट जाता है। कवि परम चेतना का स्पर्श पा, गा उठता है—

मेरे अन्तर भयाप्रकाश, नहीं अब मुझे किसी की आस।
रोग शोक नहीं मुझको देते, जरा मात्र भी त्रास।
सदा शांतिमय मैं हूँ, मेरा अचल रूप है खास।
मोह मिथ्यात्व की गाँठ गले तब, होवे ज्ञान प्रकाश।
'गजेन्द्र' देखे अलख रूप को, फिर न किसी की आस।।

यह आत्मबोध अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म की आराधना करने से संभव हो पाता है।

आत्म-बोध के साथ-साथ समाज-बोध के प्रति भी आचार्य श्री का कवि हृदय सजग रहा है। आचार्य श्री व्यक्ति की व्रतनिष्ठा और नैतिक प्रतिबद्धता को स्वस्थ समाज रचना के लिए आवश्यक मानते हैं। इसी दृष्टि से "जागो-जागो हे आत्म बन्धु" कहकर वे जागृति का संदेश देते हैं। आचार्य श्री जागृत समाज का लक्षण भौतिक वैभव या धन-सम्पदा की अखूट प्राप्ति को नहीं मानते। आपकी दृष्टि में जागृत समाज वह समाज है, जिसमें स्वाध्याय अर्थात् सद्शास्त्रों के अध्ययन के प्रति रुचि और सम्यक्ज्ञान के प्रति जागरूकता हो। अपने "स्वाध्याय संदेश" में आपने कहा है—

कर लो श्रुतवाणी का पाठ, भविक जन, मन-मल हरने को।
बिन स्वाध्याय ज्ञान नहिं होगा, ज्योति जगाने को।
राग-रोष की गाँठ गले नहीं, बोधि मिलाने को ।।

आचार्य श्री बार-बार कहते हैं "स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो" क्योंकि "स्वाध्याय बिना घर सूना है, मन सूना है सद्ज्ञान बिना।"

आचार्य श्री का आह्वान है कि यदि दुःख मिटाना है तो अज्ञान के अंधकार को दूर करो और वह स्वाध्याय से ही संभव है।

जीवन का और समाज का भी मुख्य लक्ष्य सुख व शांति है और यह विना समता भाव के संभव नहीं। समता की प्राप्ति के लिए आचार्य श्री ने सामायिक पर बल दिया है। आपकी प्रेरणा पंक्ति है—"जीवन उन्नत करना चाहो तो सामायिक साधन कर लो।" सामायिक की साधना समता रस का पान है। इससे विषमता मिटती है और जीवन-व्यवहार में समता आती है।

आचार्य श्री सामाजिक और राष्ट्रीय एकता के पक्षपाती हैं। आप व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को अंग-अंगी के रूप में देखते हैं—

"विभिन्न व्यक्ति अंग समझ लो, तन-समाज सुखदायी।
"गजुमुनि" सबके हित सब दौड़ें, दुःख दरिद्र नस जाहिं ।।"

आदर्श समाज-रचना के लिए आचार्य श्री विनय, मैत्री, सेवा, परोपकार, शील, सहनशीलता, अनुशासन आदि जीवन मूल्यों को आवश्यक मानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति ईमानदारी और विवेकपूर्वक देवभक्ति, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप षटकर्म की साधना करे, तो वह न केवल अपने जीवन को उच्च वना सकता है वरन् आदर्श समाज का निर्माण भी कर सकता है।

आचार्य श्री समाज उत्थान के लिए नारी शिक्षण को विशेष महत्त्व देते हैं। आप नारी जाति को प्रेरणा देते हैं कि वह सांसारिक राग-रंग और देह के वनाव-शृंगार में न उलझे वरन् शील और संयम से अपने तन को सजाये—

१. शील और संयम की महिमा, तुम तन शोभे हो।
सोना चांदी हीरक से, नहिं खान पूजाई हो ।।

२. सदाचार सादापन धारो, ज्ञान, ध्यान से तप सिणगारो।
पर उपकार ही भूषण, खास समझो मर्म को जी।

आचार्य श्री मूलतः आध्यात्मिक संवेदना के कवि हैं। सामाजिक अनुष्ठानों, पर्व-तिथियों, उत्सव-मेलों आदि को भी आपने आध्यात्मिक रंग दिया है।

रक्षा बन्धन को आचार्य श्री ने जीव मात्र के प्रति रक्षा का प्रेरक त्योहार बताया है—"बांधो-बांधो रे, जतना के सूत्र से, रक्षा होवेला।" दीपावली, भगवान् महावीर का निर्वाण दिवस प्रज्ञा और प्रकाश का पर्व है। यह संदेश देता है कि हम अंधकार से प्रकाश में जावें। आचार्य श्री ने दीपक की तरह साधनारत रहने की प्रेरणा दी है—

"दीपक ज्यों जीवन जलता है, मूल्यवान भाया रे जगत् में।
सत्पुरुषों का जीवन परहित, जलता शोभाया रे जगत् में।।"

होली विकार-विगलन का पर्व है—

"ज्ञान-ध्यान की ज्योति जगा, दुष्कर्म जलाओ रे,
स्वार्थ भाव की धूल उड़ाकर, प्रेम बढ़ाओ रे।
राष्ट्र धर्म का शुद्ध गुलाबी रंग जमाओ रे।।"

जन्माष्टमी का संदेश है—पशुओं के प्रति प्रेम बढ़ावें, जीवन में सादगी लायें, अन्याय और अत्याचार का नीति पूर्वक मुकाबला करें। आचार्य श्री के शब्दों में—

"कृष्ण कन्हैया जन्मे आज, भारत भार हटाने।
गुणियों का मान बढ़ाने, हिंसा का पाप घटाने।।"

लोक जीवन में शीतला सप्तमी और अक्षय तृतीया का बड़ा महत्त्व है। आचार्य श्री ने शीतला माता को दयामाता के रूप में देखा है—"हमारी दया-माता थाने मनाऊँ देवी शीतला।"

अक्षय तृतीय, अक्षय धर्मकरणी का प्रेरणादायी त्यौहार है। इस दिन वर्षीतप के पारणे होते हैं। जप-तप, दान, त्याग और आत्म-सुधार की प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—

"अक्षय बीज वृद्धि का कारण, त्योंहि भाव विचार।
जप-तपकरणी खण्डित भाव में, नहीं करती उद्धार।।"

जैन परम्परा में चातुर्मास और पर्युषण पर्व का विशेष महत्त्व है। जीव-रक्षा और संयम-साधना की विशेष वृद्धि के लिए साधु-साध्वी वर्षाकाल में एक

जगह ही स्थिर रहते हैं। इस काल में धर्मकरणी की प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—

"जीव की जतना कर लीजे रे।
आयो वर्षावास धर्म की करणी कर लीजे रे।
दया धर्म को मूल समझ कर, समता रस पीजे रे।।"

पर्युषण पर्व सब पर्वों का राजा है। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना करते हुए अपने स्वभाव में स्थित हुआ जाता है। कृत पापों की आलोचना कर क्षमापना द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है। विषय-कषाय घटाकर आत्मगुण विकसित किये जाते हैं। आत्मोल्लास के क्षणों में आचार्य श्री का कवि हृदय गा उठता है—

"यह पर्व पर्युषण आया, सब जग में आनन्द छाया रे।
तप-जप से कर्म खपावो, दे दान द्रव्य-फल पावो।
ममता त्यागी सुख पाया रे।।
समता से मन को जोड़ो, ममता का बन्धन तोड़ो,
है सार ज्ञान का भाया रे।।"

इस प्रकार आचार्य श्री ने समाज में आत्म-बोध, समाज-बोध और पर्व-बोध जागृत करने की दृष्टि से जो काव्यमय उपदेश दिया है, वह आत्मस्पर्शी और प्रेरणास्पद है।

३. **चरित काव्य**—चरित काव्य सृजन की समृद्ध परम्परा रही है। रामायण और महाभारत दो ऐसे ग्रंथ रहे हैं, जिनको आधार बनाकर विविध चरित काव्य रचे गये हैं। जैन साहित्य में त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के जीवन वृत्त को आधार बनाकर विपुल परिमाण में चरित काव्य लिखे गये हैं। कथा के माध्यम से तत्त्वज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाने की यह परम्परा आज तक चली आ रही है। कथा के कई रूप हैं....यथा—धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, लौकिक आदि। आचार्य श्री ने जिन चरित काव्यों की रचना की है, वे ऐतिहासिक और धार्मिक-आगमिक आधार लिए हुए हैं।

आचार्य श्री इतिहास को वर्तमान पीढ़ी के लिए अत्यधिक प्रेरक मानते हैं। इतिहास ऐसा दीपक है, जो भूले भटकों को सही रास्ता दिखाता है। आपके ही शब्दों में—

"युग प्रधान संतों की जीवन गाथा,
उनके अनुगामी को न्हायें माथा।
राग-अंध हो, भूला जन निज गुण को,
धर्म गाथा जागृत करती जन-मन को।
सुनो ध्यान से सत्य कथा हितकारी।।"

और सचमुच आचार्य श्री ने २१० छन्दों में भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर सुधर्मा से लेकर आज तक के जैन आचार्यों का इतिहास "जैन आचार्य चरितावली" में निवद्ध कर दिया है। इसमें किसी एक आचार्य के चरित्र का आख्यान न होकर भगवान् महावीर के वाद होने वाले प्रमुख जैन आचार्यों की जीवन-झांकी प्रस्तुत की गई है। इस कृति के अन्त में आचार्य श्री ने धर्म और सम्प्रदाय पर विचार करते हुए कहा है कि दोनों का सम्बन्ध ऐसा है जैसा जीव और काया का। धर्म को धारण करने के लिए सम्प्रदाय रूप शरीर की आवश्यकता होती है। धर्म की हानि करने वाला सम्प्रदाय, सम्प्रदाय नहीं, अपितु वह तो घातक होने के कारण माया है। बिना संभाले जैसे वस्त्र पर मैल जम जाता है, वैसे ही सम्प्रदाय में भी परिमार्जन-चिन्तन नहीं होने से राग-द्वेषादि मैल का बढ़ जाना संभव है। पर मैल होने से वस्त्र फेंका नहीं जाता, अपितु साफ किया जाता है, वैसे ही सम्प्रदाय में आये विकारों का निरन्तर शोधन करते रहना श्रेयस्कर है—

"धर्म प्राण तो सम्प्रदाय काया है,
करे धर्म की हानि, वही माया है।
बिना संभाले मैल वस्त्र पर आवे,
सम्प्रदाय में भी रागाधिक छावे।
वाद हटाये, सम्प्रदाय सुखकारी।।"

आवश्यकता इस बात की है कि दृष्टि राग को छोड़कर हम गुणों के भक्त बनें—"दृष्टि राग को छोड़, बनो गुणरागी।"

आचार्य श्री ने इतिहास जैसे नीरस विषय को राधेश्याम, लावणी, ख्याल, रास जैसी राग-रागिनियों में आबद्ध कर सरस वना दिया है। अपनी सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं को काव्य के धरातल पर उतार कर जन-जन तक पहुँचाने में यह 'चरितावली' सफल वन पड़ी है।

"यह जिन शासन की महिमा, जग में भारी,
लेकर शरणा तिरे अनन्त नर-नारी।"

की टेर श्रोताओं के हृदय में बराबर गूँजती रहती है। इसकी रचना सं. २०२६ में डेह गाँव (नागौर) में की गई थी।

आचार्य श्री ने "उत्तराध्ययन" और "अन्तगड़ सूत्र" के प्रेरक चरित्रों को लेकर भी कई चरित काव्यों की रचना की है यथा—भृगुपुरोहित धर्मकथा, प्रत्येक बुद्ध नमि राजऋषि, जम्बूकुमार चरित, मम्मण सेठ चरित, ढंढण मुनि चरित, विजय सेठ, विजयासेठानी चरित, जयघोष विजयघोष चरित, महाराजा उदायन चरित आदि। ये चरित काव्य बिविध राग-रागनियों में ढालबद्ध हैं। इनका मुख्य संदेश है—राग से विराग की ओर बढ़ना, विभाव से स्वभाव में आना, इन्द्रियजयता, आत्मानुशासन, समता, शांति और वीतरागता।

४. **पद्यानुवाद**—आचार्य श्री आगमनिष्ठ विद्वान् व्याख्याता, कवि और साहित्यकार थे। आपका बराबर यह चिन्तन रहा कि समाज शास्त्रीय अध्ययन और स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त हो, प्राकृत और संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन के प्रति उसकी रुचि जगे। इसी उद्देश्य और भावना से आपने आत्मप्रेरणा जगाने वाले 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' जैसे आगम ग्रन्थों का संपादन करते समय सहज, सरल भाषा शैली में उनके पद्यानुवाद भी प्रस्तुत किये, ताकि जन-साधारण आगमिक गाथाओं में निहित भावों को सहजता से हृदयंगम कर सके। आपके मार्गदर्शन में पण्डित शशीकान्त शास्त्री द्वारा किये गये पद्यानुवाद सरल, स्पष्ट और बोधगम्य हैं। आपने 'तत्वार्थसूत्र' का भी पद्यानुवाद किया, जो अप्रकाशित है।

आचार्य श्री का कवि रूप सहज-सरल है। गुरु गम्भीर पांडित्य से वह बोझिल नहीं है। भाषा में सारल्य और उपमानों में लोकजीवन की गंध है। जीवन में अज्ञान का अंधकार हटकर ज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित हो, जड़ता का स्थान चिन्मयता ले, उत्तेजना मिटे और संवेदना जगे, यही आपके काव्य का उद्देश्य है। "सच्ची सीख" कविता में आपने स्पष्ट कहा है जो हाथ दान नहीं दे सकते, वे निष्फल हैं, जो कान शास्त्र-श्रवण नहीं कर सकते वे व्यर्थ हैं, जो नेत्र मुनि-दर्शन नहीं कर सकते, वे निरर्थक हैं, जो पाँव धर्म स्थान में नहीं पहुँचते, उनका क्या औचित्य ? जो जिह्वा 'जिन' गुणगान नहीं कर सकती, उसकी क्या सार्थकता ?

"बिना दान के निष्फल कर हैं, शास्त्र श्रवण बिन कान।
व्यर्थ नेत्र मुनि दर्शन के बिन, तके पराया गात॥
धर्म स्थान में पहुँच सके ना, व्यर्थ मिले वे पाँव।
इनके सकल करण जग में, है सत्संगति का दांव॥
खाकर सरस पदार्थ बिगाड़े, बोल बिगाड़े बात।
वृथा मिली वह रसना, जिसने गाई गुन जिन गुणगात॥"

आचार्य श्री ने अपने जीवन को ज्ञान, दर्शन, चारित्र और दान, शील, तप, भाव की आराधना में मनोयोगपूर्वक समर्पित कर सार्थक किया। संथारा-पूर्वक समाधिभाव में लीन हो आपने मृत्यु को मंगल महोत्सव में बदलकर सचमुच अपनी "संकल्प" कविता में व्यक्त किये हुए भावों को मूर्त्त रूप प्रदान किया है—

गुरुदेव चरण वन्दन करके, मैं नूतन वर्ष प्रवेश करूँ।
शम-संयम का साधन करके, स्थिर चित्त समाधि प्राप्त करूँ॥१॥
तन मन इन्द्रिय के शुभ साधन, पग-पग इच्छित उपलब्ध करूँ।
एकत्व भाव में स्थिर होकर, रागादिक दोष को दूर करूँ॥२॥
हो चित्त समाधि तन मन से, परिवार समाधि से विचरूँ।
अवशेष क्षणों को शासनहित, अर्पण कर जीवन सफल करूँ॥३॥
निन्दा विकथा से दूर रहूँ, निज गुण में सहजे रमण करूँ।
गुरुवर वह शक्ति प्रदान करो, भवजल से नैया पार करूँ॥४॥
शमदम संयम से प्रीति करूँ, जिन आज्ञा में अनुरक्ति करूँ।
परगुण से प्रीति दूर करूँ, "गजुमुनि" यो आंतर भाव धरूँ॥५॥

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि आपने कविता को विचार तक सीमित नहीं रखा, उसे आचार में ढाला है। यही आपकी महानता है।

—अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

आगम-टीका परम्परा को आचार्य श्री का योगदान

□ डॉ० धर्मचन्द जैन

आगम-मनीषी आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी म० सा० का आत्म-जीवन तो आगम-दीप से आलोकित था ही, किन्तु वे उसका प्रकाश जन-जन तक पहुँचाने हेतु प्रयासरत रहे। इसी कारण आचार्य प्रवर आगमों की सुगम टीकाएँ प्रस्तुत करने हेतु सन्नद्ध हुए। आचार्य प्रवर का लक्ष्य आगम के गूढ़ार्थ को सरलतम विधि से प्रस्तुत करना रहा।

आचार्य श्री की दृष्टि आगम-ज्ञान को शुद्ध एवं सुगम रूप में संप्रेषित करने की रही। यही कारण है कि आचार्य प्रवर ने पूर्ण तन्मयता से आगमों की प्रतियों का संशोधन भी किया। उन्हें संस्कृत छाया, हिन्दी पद्यानुवाद, अन्वय पूर्वक शब्दार्थ एवं भावार्थ से समन्वित कर सुगम बनाया। फलतः आचार्य प्रवर को युवावस्था में ही अपनी 'नन्दी सूत्र' आदि की टीकाओं से देशभर के जैन सन्तों में प्रतिष्ठित स्थान मिला। आचार्य श्री की सर्व प्रथम संस्कृत-हिन्दी टीका 'नन्दी सूत्र' पर प्रकाशित हुई। उसके पश्चात् 'बृहत्कल्प सूत्र' पर सम्पादित संस्कृत टीका, 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' पर व्याख्या एवं 'अन्तगडदसा सूत्र' पर टीका का प्रकाशन हुआ। जीवन के ढलते वर्षों में आपके तत्त्वावधान में लिखित 'उत्तराध्ययन सूत्र' एवं 'दशवैकालिक सूत्र' पर हिन्दी पद्यानुवाद के साथ व्याख्याएँ प्रकाशित हुईं। इस प्रकार आचार्य प्रवर ने दो अंग सूत्रों—'प्रश्न व्याकरण' एवं 'अन्तगडदसा' पर, तीन मूल सूत्रों 'नन्दी सूत्र' 'उत्तराध्ययन' एवं 'दशवैकालिक' पर तथा एक छंद सूत्र 'वृहत्कल्प' पर कार्य किया।

आगम-टीका परम्परा का एक लम्बा इतिहास है। पाँचवीं शती से अब तक अनेक संस्कृत, हिन्दी एवं गुजराती टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। प्राचीन प्रमुख टीकाकार रहे हैं—आचार्य हरिभद्र सूरि, आचार्य अभयदेव सूरि, आचार्य शीलांक, आचार्य मलयगिरि आदि। अर्वाचीन टीकाकारों में प्रमुख हैं—पं० मुनि श्री घासीलालजी म०, श्री अमोलक ऋषिजी म०, आचार्य श्री आत्मारामजी म०, आचार्य श्री तुलसी आदि। परन्तु अद्यावधि प्रकाशित संस्कृत, हिन्दी एवं गुजराती टीकाओं में आचार्य प्रवर हस्तीमलजी म० सा०

की टीकाएँ सुगम, सुबोध एवं आगम-मन्तव्य के अनुकूल हैं। आगम-टीका परम्परा में संस्कृत छाया एवं प्राकृत शब्दों के अर्थ व विवेचन के साथ हिन्दी पद्यानुवाद का समावेश आचार्य प्रवर की मौलिक दृष्टि का परिचायक है। आचार्य प्रवर कृत प्रत्येक टीका का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

नन्दी सूत्र :

द्वितीय विश्व युद्ध के समय जब आचार्य प्रवर महाराष्ट्र क्षेत्र में विचरण कर रहे थे, तब संवत् १९९८ (सन् १९४२ ई०) में आचार्य प्रवर के द्वारा संशोधित एवं अनूदित 'श्रीमन्नन्दी सूत्रम्' का सातारा से प्रकाशन हुआ। प्रकाशक थे रायबहादुर श्री मोतीलालजी मूथा।

'नन्दी सूत्र' का यह संस्करण विविध दृष्टियों से अद्वितीय है। इसमें प्राकृत मूल के साथ संस्कृत छाया एवं शब्दानुलक्षी हिन्दी अनुवाद दिया गया है। जहाँ विवेचन की आवश्यकता है वहाँ विस्तृत एवं विशद विवेचन भी किया गया है। 'नन्दी सूत्र' के अनुवाद-लेखन में आचार्य मलयगिरि और हरिभद्र की वृत्तियों को आधार बनाया गया है, साथ ही अनेक उपलब्ध संस्करणों का सूक्ष्म अनुशीलन कर विद्वान् मुनियों से शंका-समाधान भी किया गया है।

आचार्य प्रवर ने जब 'नन्दी सूत्र' का अनुवाद लिखा तब 'नन्दी सूत्र' के अनेक प्रकाशन उपलब्ध थे, परन्तु उनमें मूल पाठ के संशोधन का पर्याप्त प्रयत्न नहीं हुआ था। आचार्य प्रवर ने यह बीड़ा उठाकर 'नन्दी सूत्र' के पाठों का संशोधन किया। 'नन्दी-सूत्र' के विविध संस्करणों में अनेक स्थलों पर पाठ-भेद था, यथा—स्थविरावली के सम्बन्ध में ५० गाथाएँ थीं तथा कुछ में ४३ गाथाएँ ही थीं। इसी प्रकार 'दृष्टिवाद' के वर्णन में भी पाठ-भेद मिलता है। इन सब पर पर्यालोचन करते हुए आचार्य प्रवर ने ऊहापोह किया।

'नन्दी सूत्र' के इस संस्करण की विद्वत्तापूर्ण भूमिका का लेखन उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज ने किया। इस सूत्र के प्रकाशन का प्रबन्ध पं० दु:खमोचन झा ने किया जो आचार्य प्रवर के गुरु तो थे ही किन्तु आचार्य प्रवर की विद्वत्ता एवं तेजस्विता से अभिभूत भी थे। स्वयं आचार्य प्रवर ने 'नन्दी सूत्र' की व्यापक प्रस्तावना लिखकर पाठकों के ज्ञान-आरोहण हेतु मार्ग प्रशस्त किया। प्रस्तावना में 'नन्दी सूत्र' की शास्त्रान्तरों से तुलना भी प्रस्तुत की है।

आचार्य प्रवर ने ३१ वर्ष की लघुवय में 'नन्दी सूत्र' की ऐसी टीका प्रस्तुत कर तत्कालीन आचार्यों एवं विद्वानों में प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी।

इस संशोधित 'नन्दी सूत्र' संस्करण के अनेक परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट पारिभाषिक एवं विशिष्ट शब्दों की व्याख्या पर है। द्वितीय परिशिष्ट में 'समवायांग सूत्र' में वर्णित द्वादशांगों का परिचय है। तृतीय परिशिष्ट 'नन्दी सूत्र' के साथ शास्त्रान्तरों के पाठों की समानता पर है। चौथा परिशिष्ट श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदायों की दृष्टि से ज्ञान की प्ररूपणा का निरूपण करता है तथा अन्तिम परिशिष्ट में 'नन्दी सूत्र' में प्रयुक्त शब्दों का कोश दिया गया है।

सूत्र के प्रकाशन-कार्य को साधु की दृष्टि से सदोष मान कर भी आचार्य प्रवर ने तीन उद्देश्यों से इस कार्य में सहभागिता स्वीकार की। स्वयं आचार्य श्री के शब्दों में—"पुस्तक मुद्रण के कार्य में स्थानान्तर से ग्रन्थ-संग्रह, सम्मत्यर्थ पत्र-प्रेषण, प्रूफ-संशोधन व सम्मति प्रदान करना आदि कार्य करने या कराने पड़ते हैं। इस बात को जानते हुए भी मैंने जो आगम-सेवा के लिए उस अंशतः सदोष कार्य को अपवाद रूप से किया, इसका उद्देश्य निम्न प्रकार है—

१. साधुमार्गीय समाज में विशिष्टतर साहित्य का निर्माण हो।

२. मूल आगमों के अन्वेषणपूर्ण शुद्ध संस्करण की पूर्ति हो और समाज को अन्य विद्वान् मुनिवर भी इस दिशा में आगे लावें।

३. सूत्रार्थ का शुद्ध पाठ पढ़कर जनता ज्ञानातिचार से बचे।

इन तीनों में से यदि एक भी उद्देश्य पूर्ण हुआ तो मैं अपने दोषों का प्रायश्चित्त पूर्ण हुआ समझूंगा।"

आचार्य प्रवर कृत यह उल्लेख उनकी आगम-ज्ञान-प्रसार निष्ठा को उजागर करता है।

वृहत्कल्प सूत्र :

'श्री वृहत्कल्प सूत्र' पर आचार्य प्रवर ने एक अज्ञात संस्कृत टीका का संशोधन एवं सम्पादन किया था जो प्राक्कथन एवं वृहत्कल्प-परिचय के साथ पांच परिशिष्टों से भी अलंकृत है। इस सूत्र का प्रकाशन सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के पुरातन कार्यालय त्रिपोलिया बाजार, जोधपुर द्वारा कब कराया गया, इसका ग्रन्थ पर कहीं निर्देश नहीं है किन्तु यह सुनिश्चित है कि इस सूत्र का प्रकाशन 'प्रश्न व्याकरण' की व्याख्या के पूर्व अर्थात् सन् १९५० ई० के पूर्व हो चुका था।

आचार्य प्रवर हस्ती को 'वृहत्कल्प' की यह संस्कृत टीका अजमेर के सुश्रावक श्री सौभाग्यमलजी ढढ्ढा के ज्ञान-भण्डार से प्राप्त हुई जो संरक्षण के अभाव में बड़ी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थी। आचार्य प्रवर जब दक्षिण की

पद यात्रा पर थे तब उन्होंने इसकी प्रतिलिपि करवा कर इसे संशोधित एवं सम्पादित किया। 'बृहत्कल्प' के ये संस्कृत टीकाकार कौन थे, यह ज्ञात नहीं किन्तु यह संकेत अवश्य मिलता है कि श्री सौभाग्य सागर सूरि ने इस सुबोधा टीका को बृहद्टीका से उद्धृत किया था। उसी सुबोधा टीका का सम्पादन आचार्य श्री ने किया।

'बृहत्कल्प सूत्र' छेद सूत्र है जिसमें साधु-साध्वी की समाचारी के कल्प का वर्णन है। आचार्य प्रवर ने सम्पूर्ण कल्प सूत्र की विषय-वस्तु को हिन्दी पाठकों के लिए संक्षेप में 'बृहत्कल्प परिचय' शीर्षक से दिया है जो बहुत उपयोगी एवं सारगर्भित है। अन्त में पांच परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट में अकारादि के क्रम से सूत्र के शब्दों का हिन्दी अर्थ दिया गया है जो ३४ पृष्ठों तक चलता है। द्वितीय परिशिष्ट में पाठ-भेद का निर्देश है। तृतीय परिशिष्ट 'बृहत्कल्प सूत्र' की विभिन्न प्रतियों के परिचय से सम्बद्ध है। चतुर्थ परिशिष्ट में वृत्ति में आए विशेष नामों का उल्लेख है जो शोधार्थियों के लिए उपादेय है। पंचम परिशिष्ट में कुछ विशेष शब्दों पर संस्कृत भाषा में विस्तृत टिप्पण दिया गया है।

यह संस्कृत टीका अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा सरल, सुबोध एवं प्रसाद-गुण से समन्वित है किन्तु इसमें सूत्रोद्दिष्ट तथ्यों का विशद विवेचन है। संस्कृत अध्येताओं के लिए यह टीका आज भी महत्त्वपूर्ण है। आचार्य प्रवर ने जब संस्कृत टीका का सम्पादन किया तब 'बृहत्कल्प सूत्र' के दो-तीन संस्करण निकल चुके थे। आत्मानन्द जैन सभा, भाव नगर से निर्युक्ति, भाष्य और टीका सहित यह सूत्र छह भागों में प्रकाशित हो चुका था किन्तु वह सबके लिए सुलभ नहीं था। डॉ० जीवराज छेला भाई कृत गुजराती अनुवाद एवं पूज्य अमोलक ऋषिजी म० कृत हिन्दी अनुवाद निकल चुके थे तथापि आचार्य प्रवर द्वारा सम्पादित यह संस्कृत टीका शुद्धता, विशदता एवं संक्षिप्तता की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखती है। इसका सम्पादन आचार्य प्रवर के संस्कृत-ज्ञान एवं शास्त्र-ज्ञान की क्षमता को पुष्ट करता है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र :

'नन्दी सूत्र' के प्रकाशन के आठ वर्ष पश्चात् दिसम्बर १९५० ई० में 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' संस्कृत छाया, अन्वयार्थ, भाषा टीका (भावार्थ) एवं टिप्पणियों के साथ पाली (मारवाड़) से प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन वक श्री हस्तीमलजी सुराणा ने कराया।

'प्रश्न व्याकरण सूत्र' का यह संस्करण दो खण्डों में विभक्त है । प्रथम खण्ड में पांच आस्रवों का वर्णन है तो द्वितीय खण्ड में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच संवरों का निरूपण है । परिशिष्ट में शब्द-कोश, विशिष्ट स्थलों के टिप्पण, पाठान्तर-सूची और कथा भाग दिया गया है। यह सूत्र-ग्रन्थ आचार्य प्रवर के विद्वत्तापूर्ण १७ पृष्ठों के प्राक्कथन से अलंकृत है।

पाठान्तरों या पाठ-भेदों की समस्या 'प्रश्न व्याकरण' में 'नन्दी सूत्र' से भी अधिक है । इसका अनुभव स्वयं आचार्य श्री ने किया था। उन्होंने पाठ-भेद की समस्या पर प्राक्कथन में उल्लेख करते हुए लिखा है—"आगम मन्दिर (पालीताणा) जैसी प्रामाणिक प्रति जो शिला-पट्ट और ताम्र-पत्र पर अंकित हो चुकी है, वह भी अशुद्धि से दूषित देखी गई है ।" अतः आचार्य प्रवर ने पाठ-संशोधन हेतु अनेक प्रतियों का तुलनात्मक उपयोग किया था, जिनमें प्रमुख थीं—अभयदेव सूरि कृत टीका, हस्तलिखित टब्बा, ज्ञान विमल सूरि कृत टीका एवं आगम मन्दिर पालीताणा से प्रकाशित मूल पाठ। संशोधित-पाठ देने के बाद आचार्य प्रवर ने पाठान्तर सूची भी दी है जिसमें अन्य प्रतियों में उपलब्ध पाठ-भेद का उल्लेख किया है।

'प्रश्न व्याकरण' के जो पाठ-भेद अधिक विचारणीय थे, ऐसे १७ पाठों की एक तालिका बनाकर समाधान हेतु विशिष्ट विद्वानों या संस्थाओं को भेजी गई जिनमें प्रमुख हैं—१. व्यवस्थापक, आगम मन्दिर पालीताणा २. पुण्य विजयजी, जैसलमेर ३. भैंरोंदानजी सेठिया, बीकानेर ४. जिनागम प्रकाशन समिति, ब्यावर एवं ५. उपाध्याय श्री अमर मुनिजी, ब्यावर । तालिका की एक प्रति 'सम्यग्दर्शन' में प्रकाशनार्थ सैलाना भेजी गई, किन्तु इनमें से तीन की ओर से पहुँच के अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं मिला । 'सम्यग्दर्शन' पत्रिका के प्रथम वर्ष के ग्यारहवें अंक में यह तालिका प्रकाशित हुई, किन्तु किसी की ओर से कोई टिप्पणी नहीं आई।

इस प्रकार साधन-हीन एवं सहयोग रहित अवस्था में भी आचार्य प्रवर ने अथक श्रम एवं निष्ठा के साथ श्रुत सेवा की भावना से 'प्रश्न-व्याकरण' सूत्र का विशिष्ट संशोधित संस्करण प्रस्तुत कर आगम-जिज्ञासुओं का मार्ग प्रशस्त किया।

सिरि अंतगडदसाओ :

आचार्य प्रवर कृत संस्कृत-हिन्दी अनुवाद युक्त 'सिरि अंतगडदसाओ' के दो संस्करण निकल चुके हैं । प्रथम संस्करण सन् १९६५ ई०

तथा दूसरा संस्करण सन् १९७५ ई० में प्रकाशित हुआ । दोनों संस्करणों का प्रकाशन सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर से हुआ । प्रथम संस्करण में प्राकृत मूल एवं हिन्दी अर्थ दिया गया था तथा अन्त में एक परिशिष्ट था जिसमें विशिष्ट शब्दों का सरल हिन्दी अर्थ दिया गया था । द्वितीय संस्करण अधिक श्रम एवं विशेषताओं के साथ प्रकाशित हुआ । इस संस्करण में कॉलम पद्धति अपना कर पहले प्राकृत मूल फिर उसकी संस्कृत छाया तथा उसके सामने के पृष्ठ पर शब्दानुलक्षी हिन्दी अर्थ (छाया) तथा अंतिम कॉलम में हिन्दी भावार्थ दिया गया है । इन चारों को एक साथ एक ही पृष्ठ पर पाकर नितान्त मंद बुद्धि प्राणी को भी आगम-ज्ञान प्राप्त हो सकता है तथा तीक्ष्ण बुद्धि प्राणी एक-एक शब्द के गूढ़ अर्थ को समझ सकता है ।

'अंतगड' की पाठ-शुद्धि एवं अर्थ के निरूपण हेतु उपाध्याय श्री प्यारचन्दजी महाराज द्वारा अनूदित पत्राकार प्रति, सैलाना से प्रकाशित पुस्तक, प्राचीन हस्तलिखित प्रति, आगमोदय समिति, सूरत से प्रकाशित सटीक 'अन्तकृद्दशा सूत्र' और 'भगवती सूत्र' के खंधक प्रकरण का विशेष अवलम्बन लिया गया है । अभयदेव सूरि कृत संस्कृत टीका, प्राचीन टब्बा एवं पं० घासीलालजी महाराज कृत संस्कृत-टीकाओं को भी दृष्टि में रखा गया है ।

द्वितीय संस्करण विशेषतः पर्युषण में वाचन की सुविधा हेतु निर्मित है, जो सूत्र के अर्थ को शीघ्र ही हृदयंगम कराने की अद्भुत क्षमता रखता है । शुद्ध मूल के साथ शब्दानुलक्षी अर्थ की जिज्ञासा रखने वाले पाठकों के लिए यह अत्यन्त उपादेय है । संस्कृत का यत्किंचित ज्ञान रखने वाला पाठक भी मूल आगम का हार्द सहज रूप सेसमझ सकता है ।

'अंतगडदसा सूत्र' का ऐसा कॉलम पद्धति वाला सुस्पष्ट अनुवाद एवं भावार्थ अन्य आचार्यों द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद से निश्चित रूप से विशिष्ट है । अन्त में प्रमुख शब्दों का विवेचनयुक्त परिशिष्ट भी इस ग्रंथ की शोभा है ।

उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक सूत्र :

आगम-ग्रंथों में सर्वाधिक पठन-पाठन 'उत्तराध्ययन' एवं 'दशवैकालिक' सूत्रों का होता है । आचार्य प्रवर ने इनका हिन्दी में पद्यानुवाद करा कर इन्हें सरस, सुबोध एवं गेय बना दिया है । अधुनायावत् आगम-ग्रंथों का हिन्दी पद्यानुवाद नहीं हुआ था किन्तु आचार्य प्रवर की सत्प्रेरणा एवं सम्यक्

मार्ग-दर्शन में पं० शशिकान्त झा ने यह कार्य आचार्य श्री की सन्निधि में बैठकर सम्पन्न किया। स्वयं आचार्य प्रवर ने हिन्दी पद्यानुवाद किया था, ऐसे संकेत भी मिलते हैं किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने इन दोनों आगमों के हिन्दी पद्यानुवाद में अपनी लेखनी से संशोधन, परिवर्धन एवं परिवर्तन किया था। फिर भी आचार्य प्रवर श्रेय लेने की स्पृहा से दूर रहे और हिन्दी पद्यानुवाद-कर्ता के रूप में दोनों ग्रंथों पर पं० शशिकान्त झा का नाम छपा।

'उत्तराध्ययन सूत्र' तीन भागों में सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर द्वारा प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग में १ से १० अध्ययनों, द्वितीय भाग में ११ से २३ अध्ययनों तथा तृतीय भाग में २४ से ३६ अध्ययनों का विवेचन है। ये तीनों भाग श्रीचन्द सुराना 'सरस' के सम्पादकत्व में क्रमशः सन् १९८३ ई०, सन् १९८५ ई० एवं सन् १९८९ ई० में प्रकाशित हुए। तीनों भागों के प्रारम्भ में सम्पादक की ओर से बृहद् प्रस्तावना है। प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ में उस अध्ययन का सार दिया गया है जिससे पाठक पाठ्य विषय के प्रति पहले से जिज्ञासु एवं जागरूक हो जाता है। वह अध्ययन भी इस कारण सुगम बन जाता है। प्रथम भाग में मूल प्राकृत गाथा का हिन्दी पद्यानुवाद, अन्वयार्थ, भावार्थ एवं विवेचन देने के साथ प्रत्येक अध्ययन के अन्त में कथा-परिशिष्ट दिया गया है, जिसमें उस अध्ययन से सम्बद्ध कथाओं का रोचक प्रस्तुतीकरण है।

प्राकृत-गाथाओं की संस्कृत छाया भी साथ में प्रस्तुत हो, इस पर आचार्य प्रवर का विद्वद् समाज की दृष्टि से ध्यान गया। विद्वत् समुदाय संस्कृत छाया के माध्यम से प्राकृत गाथाओं के वास्तविक अर्थ को सरलता पूर्वक ग्रहण कर लेता है। अतः 'उत्तराध्ययन सूत्र' के द्वितीय एवं तृतीय भाग में २१ से ३६ अध्ययनों की प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया भी दी गई है।

हिन्दी-पद्यानुवाद में यह विशेषता है कि जहां जो हिन्दी शब्द उपयुक्त हो सकता है वहां वह शब्द प्रयुक्त किया गया है। पद्यानुवाद सहज, सुगम, सरल एवं लययुक्त है। मात्र हिन्दी पद्यानुवाद को पढ़कर भी कोई स्वाध्यायी पाठक सम्पूर्ण ग्रंथ के हार्द को समझ सकता है। पद्यानुवाद के अतिरिक्त मूल गाथाओं में विद्यमान क्लिष्ट शब्दों का विवेचन, विश्लेषण एवं विशिष्टार्थ भी किया गया है। इस हेतु श्री शान्त्याचार्य कृत बृहद्वृत्ति एवं आचार्य नेमिचन्द्र कृत चूर्णि का अवलम्बन लिया गया है। विवेचन में [illegible] टीका-ग्रंथों के साथ आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज कृत 'उत्तरा[illegible]

की हिन्दी टीका एवं जैन विश्व भारती, लाडनूं से प्रकाशित 'उत्तरज्झयणाणि' का भी सहयोग लिया गया है।

'दशवैकालिक सूत्र' का प्रकाशन मई, सन् १९८३ ई० में सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर से हुआ। यह भी पद्यानुवाद, अन्वयार्थ, भावार्थ एवं टिप्पणियों से अलंकृत है। पद्यानुवाद पं० शशिकान्त झा ने किया है। चतुर्थ अध्ययन के प्राकृत गद्य का भी हिन्दी पद्यानुवाद किया गया है। यह सूत्र पं० बसन्तीलालजी नलवाया की देखरेख में रतलाम से छपा है। इसका भी हिन्दी पद्यानुवाद सरस, सुबोध एवं लयबद्ध है तथा हार्द को प्रस्तुत करता है।

उपसंहार :

आचार्य प्रवर ने 'तत्त्वार्थाधिगम' सूत्र का हिन्दी पद्यानुवाद किया था, ऐसा उल्लेख 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' के प्रारम्भ में पं० शशिकान्त झा ने अपनी लेखनी से किया है। वह पद्यानुवाद उपलब्ध नहीं हो पाया है। वह भी नितान्त महत्त्वपूर्ण सूत्र है क्योंकि वह श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों को मान्य है।

श्रुत सेवा की भावना से आचार्य प्रवर ने विभिन्न महत्त्वपूर्ण आगमों की टीकाएँ, अनुवाद, विवेचन, पद्यानुवाद आदि प्रस्तुत कर जो तुलनात्मक दृष्टि प्रदान की है तथा आगम-संशोधन को दिशा प्रदान की है वह विद्वद् समुदाय के लिए उपादेय है। आगमों का पाठ-संशोधन हो यह आवश्यक है। एकाधिक पाठों से सुनिश्चित निर्णय नहीं हो पाता है। हिन्दी पद्यानुवाद एवं सरल हिन्दी अनुवाद से सामान्य स्वाध्यायियों का उपकार हुआ है क्योंकि इनके माध्यम से वे आगम की गहराई तक पहुँचने में सक्षम हुये हैं।

—सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय,
३८७, मधुर I-सी रोड, सरदारपुरा, जोधपुर-३४२००३

★ जिस प्रकार ससूत्र (धागे से युक्त) सुई कहीं गिर जाने पर भी विनष्ट (गुम) नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत-सम्पन्न) जीव भी संसार में विनष्ट नहीं होता।

★ जिस प्रकार कछुआ आपत्ति से बचने के लिए अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पण्डितजन को भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को अध्यात्म ज्ञान से सिकोड़ लेना चाहिए।

—भगवान महावीर

आचार्य श्री की आगम-साहित्य को देन

☐ डॉ० उदयचन्द्र जैन

अध्यात्म-उपवन के प्रबुद्ध एवं कुशल माली युग-युगान्तर तक नन्हें-नन्हें अबोध, ज्ञानशून्य को ज्ञान रूपी जल प्रदान कर प्रतिदिन संरक्षण करने में सहायक होते हैं। उनकी चिन्तन-दृष्टि से, उनकी साधना से, उनके आगमिक दिशाबोध से एवं उनकी सृजनात्मक कला से अभिनव संकेत सतत प्राप्त होते रहते हैं। अतीत तो अतीत है, वर्तमान में अनेक लोग ऐसे महापुरुषों के संयम, साधना, तप और त्याग की आराधना से महापथ की ओर अवश्य ही अग्रसर होते हैं।

आचार्य श्री हस्तीमलजी एक महामहिम व्यक्तित्व के धनी हैं। जिनके सिद्धान्त में चिन्तन है, विश्व-कल्याण की भावना है तथा रसपूर्ण मीठे मधुर फल हैं, आत्म पोषक तत्त्व हैं। उनकी आगम की अनुपम दृष्टि ने आगम में सरसता एवं ज्ञान-विज्ञान का महा आलोक भर दिया। उनके बहु-आयामी व्यक्तित्व में जीवन की गहनता, जीवन की वास्तविक अनुभूति, आध्यात्मिक नीर का अविरल प्रवाह, सांस्कृतिक अध्ययन एवं आचार-विचार के तलस्पर्शी अनुशीलन की प्रतिभा है। आगम के आप सन्दर्भ हैं, इतिहास के पारखी हैं तथा आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य ने सम्यग्ज्ञान के प्रचार में जो सहयोग दिया, वह सामायिक और स्वाध्याय के रूप में मुखरित होता रहेगा।

तीर्थंकरों के अर्थ को और गणधरों के सूत्र को सफल सन्देश वाहक की तरह जन-चेतना के रूप में आचार्य श्री ने जो कार्य किया, उससे आगम के चिन्तन में सुगमता उत्पन्न हुई। गीति, कविता, कहानी, सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी, प्रवचन आदि ने जन-जन के मानस में त्याग, धार्मिक भावना और वैराग्य के स्वरों को भरने का जो कार्य किया, वह अपने आप में स्तुत्य है। आचार्य श्री आगम-रसज्ञ थे, इसलिए आगम को आधार बनाकर 'जैनधर्म के मौलिक इतिहास' के हजारों पृष्ठ लिख डाले, जो न केवल आगम के प्रकाश-स्तम्भ हैं, अपितु इतिहास के स्थायी स्तम्भ तथा उनकी आरम्भिक साधना के श्रेष्ठतम ज्योर्तिपुंज हैं जो युग-युग तक महान् आत्मा के आलोक को आलोकित करते रहेंगे। आपकी आगम दृष्टि को निम्न बिन्दुओं के आधार पर नापा-तोला, जांचा-परखा जा सकता है।

आगमिक साहित्य :

आचार्य श्री की अनुभूति आगम के रस का मूल्यांकन करने में अवश्य सक्षम रही है। प्राकृत के जीवन्त-प्राण कहलाने वाले आगम जैसे ही उनकी चिन्तन-धारा के अंग बने, वैसे ही कुछ आगमों को अपनी पैनी दृष्टि से देखकर

उनके रहस्य को खोल डाला। स्वाध्यायशील व्यक्तियों की दृष्टि को ध्यान में रखकर कुछेक आगमों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए जो कदम उठाया, उससे स्वाध्याय प्रेमी जितने अधिक लाभान्वित हुए, उससे कहीं अधिक शोधार्थियों के लिए जो शोधपूर्ण सामग्री मिली, वह अवश्य ही प्रशंसनीय कही जा सकती है। जिस संस्कृत-निष्ठ एवं क्लिष्ट सिद्धान्त के गम्भीर तत्त्वों से समन्वित टीका के लक्ष्य को ध्यान में रखकर कार्य कराया गया, वह उनकी आध्यात्मिक साधना की एक विशिष्ट उपलब्धि कही जा सकती है।

आगम का सम्पूर्ण चिन्तन कुछेक शब्दों में कह पाना सम्भव नहीं, परन्तु उनके साहित्य से जो आलोक प्राप्त हुआ, उसी दृष्टि को आधार बनाकर कुछ लिख पाना या कह पाना सूर्य को दीपक दिखाने जैसी ही दृष्टि होगी। फिर भी उनका मौलिक चिन्तन यही हो सकता है :—

१. आगम की आध्यात्मिक साधना
२. आगम की दिव्य कहानियाँ
३. आगम के धर्म-चिन्तन के स्वर
४. आगम का आचार-विचारपूर्ण दर्शन
५. आगम के उपदेशात्मक, प्रेरणात्मक प्रसंग
६. आगम के तात्त्विक क्षण
७. आगम के ऐतिहासिक तथ्य
८. आगम का इतिहास
९. ऐतिहासिक पुरुष एवं नारियाँ
१०. पौराणिक पुरुष एवं नारियाँ
११. साधना की कुञ्जी।

इसके अतिरिक्त कई साहित्यिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक, कलात्मक एवं वैज्ञानिक तथ्य खोलकर आचार्य श्री ने हमारे सामने रख दिये जिससे हमारे आदर्श (आगम) भारत की सांस्कृतिक धार्मिक आदि की गाथा स्पष्ट हो सकी।

आचार्य श्री की मूल भावना स्वाध्याय को बढ़ाना रहा है, इसलिए उन्होंने स्वाध्याय के बहु-पक्षी आगमों को प्रकाश में लाना ही उचित समझा होगा। आचार्य श्री के 'बृहत्कल्प-सूत्र', 'सिरि अंतगड-दसाओ' सूत्र अनुभव का अभिनव आलोक बनकर मानवीय गुणों के प्रतिष्ठान में सहायक हुए। उन्हीं के निर्देशन में शिक्षा, शिक्षक, स्वाध्याय, सामायिक, तप-त्याग, एवं सम्यक्त्व के प्रधान

तत्त्वों को उजागर करने वाला 'उत्तराध्ययन सूत्र' महावीर की अन्तिम देशना 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' का रूप देने में अवश्य ही सम्माननीय एवं शिरोमणि बना। 'उत्तराध्ययन' के ३६ अध्ययन के विवेचन को सरल राष्ट्रभाषा में तीन खण्डों में विभक्त करके विद्वानों एवं स्वाध्यायी जनों के सम्मुख रखा गया, उससे भौतिक वैभव में आसक्त जनों के लिए अवश्य ही मार्ग-निर्देश प्राप्त होगा।

स्वाध्याय-सामायिक के प्रेरक मनीषी चिन्तक परम आराध्य आचार्यश्री ने आगम की दूरदर्शिता को ध्यान में रखकर जो कार्य किया, उससे ऐसा लगता है कि वे धर्मनीति, तत्त्व-चिन्तन, सम्यक् श्रद्धा, तत्त्व बोध को जीवन से जोड़ देना चाहते हैं। इसलिए 'उत्तराध्ययन' में उन्होंने अन्वयार्थ, भावार्थ, शब्द-विश्लेषण, अर्थ-विश्लेषण आदि को खोलने के लिए सदैव प्रयत्न किया-करवाया। प्रस्तुत 'उत्तराध्ययन सूत्र' सर्वोपयोगी कहा जा सकता है। आचार्य श्री की सर्वग्राही सूक्ष्मदृष्टि बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय की रही है। उन्होंने समाज में मानवीय गुणों का संचार करने का प्रथम कदम स्वाध्याय एवं सामायिक से ही उठाया। फलस्वरूप आगम-स्वाध्याय की रुचि बढ़ी। मुनियों के अतिरिक्त गृहस्थों ने भी 'उत्तराध्ययन' जैसे सूत्रों के आधार पर रसानुभूति लेना शुरू कर दिया। इसका प्रत्येक अध्ययन पहले रहस्य को खोलता है, जिससे साधारण स्वाध्यायी भी लाभ लेने में समर्थ हो सका।

प्रवचन साहित्य :

अन्तःकरण की गहराई को छू जाने वाले चिन्तन पूर्ण प्रवचन आत्मा से निकलते हैं, आत्मा का स्पर्श करते हैं, चिन्तन मनन और आचार-विचार पर बल देते हैं। आगम में कहा है—

> गुण-सुट्ठियस्स वयणं, घय-परिसित्तुव्व पावओ भवइ।
> गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहीणो जह पईवो॥

अर्थात् गुण संयुक्त व्यक्ति के वचन घृत सिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी एवं पवित्र होते हैं, किन्तु गुणहीन व्यक्ति के वचन स्नेह रहित दीपक की भांति निस्तेज और अन्धकार युक्त होते हैं।

आचार्य श्री का उद्बोधन ऐसा ही है, जहाँ आगम का सम्पूर्ण चिन्तन उभर आया है। उन्होंने कहा—

ज्ञान आत्मा का गुण है, ज्ञान के बिना श्रद्धा की पवित्रता नहीं [illegible] स्वाध्याय करो, ज्ञान प्राप्त करो। (गजेन्द्र व्या. माला ३) आपके [illegible] मूल-स्रोत आगम ही रहा है। आगम को इस आधार बनाकर [illegible]

किया, वह निश्चित ही जीवों के लिए ज्ञान, क्रिया, चरित्र, तप, ध्यान, स्वाध्या एवं सामायिक आदि पर चिन्तन करने की प्रेरणा देता है। उनके व्याख्यानों कुछ सूत्र इस प्रकार हैं :—

१. **चातुर्मास**—दोष परिमार्जन करने का साधन है। आलोचना, प्र क्रमण और प्रत्याख्यान आवश्यक क्रियाएँ हैं। आलोचना में दोषों का स्मरण, प्रतिक्रमण में भूलों या गलतियों का स्वीकार करना, गलती को कबूल कर पुनः उसे नहीं दुहराना। इत्यादि (ग. व्या. भाग ६, पृ. ८-१२)

उक्त के भेद-प्रभेद आगम के सूत्रों के आधार पर ही प्रस्तुत किये हैं—

खवेत्ता पुव्व-कम्माइं संजमेण तवेण य।

२. **मोक्ष के दो चरण**—(१) ज्ञान और (२) क्रिया

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेणं परिसुज्जई ।। (उ. २८/३५)

३. **बंधन-मुक्ति**—ज्ञान वह है जो हमारे बन्धन को काटे। (ग.६, पृ.३२)

४. **विनय**—ज्ञान, दर्शन और चारित्र का कारण है। (पृ. ४०) विनय में विनय के सात भेद गिनाएँ हैं। विनय करने योग्य अरहंतादि हैं।

५. **धर्म**—कामना की पूर्ति का साधन अर्थ है और मोक्ष की पूर्ति का साधन धर्म है। 'दशवैकालिक' सूत्र के "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं" का आधार बनाकर धर्म की व्याख्या की है। (ग. ६, पृ. ५६-११६)

६. **जयं चरे, जयं चिट्ठे**—आचार, विचार एवं आहार की विशुद्धता है।

७. **आत्मिक आवश्यक कर्म**—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीतराग धर्म की आराधना, अहिंसा की साधना, दान, संयम आदि (पृ. १३४-१४७)

८. **आत्म-शान्ति के लिए धर्माचरण**—कामना का क्षेत्र तन है, कामनाओं का उपशम धर्म से करें।

९. **त्यागी कौन ?** दीक्षा भी त्याग, संत-समागम भी त्याग, वैयावृत्य भी त्याग, इच्छाओं का निरोध भी त्याग।

१०. **संस्कारों का जीवन पर प्रभाव**—

११. किमाह-बंधणं वीरो (ग. भाग ३. पृ. ८)

१२. परिग्रह कैसा ? सचित्त और अचित्त (पृ. २०)
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो (पृ. १४)

१३. ज्ञान प्राप्ति के मार्ग— १. सुनकर और २. अनुभव जगाकर। जिस तत्त्व के द्वारा धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य जाना जाय वह ज्ञान है, ज्ञान आत्मा का गुण है।

१४. संत-सती समाज भी जिनशासन की फौज भी। संताप हारिणी जिनवाणी की पवित्र पीयूषमयी रसधारा प्रवाहित करें।

कथा-साहित्य—धार्मिक एवं मानस को झकझोरने वाली हैं उनकी धार्मिक कहानियाँ। कथा प्रवचन की प्रमुखता है, आचार्य श्री ने आगम के सैद्धान्तिक कथानकों को आधार बनाकर सर्वत्र आगम के रहस्य को खोला है। मूर्च्छा के लिए राजपुत्र गौतम, आर्द्रकुमार का उदाहरण। सामायिक, स्वाध्याय, तप आदि से पूर्ण कथानक प्रायः सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। तप के लिए चंदना। चोर, साहूकार आदि के उदाहरण भी हैं।

काव्यात्मक दृष्टि—मन के विचारों को किसी न किसी रूप में अवश्य लिखा जाता है। यदि विचार कवितामय बन गया तो गीत धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक भावों से परिपूर्ण मानव को सजग करने लगता है। कभी काव्य-चिंतन रूप में होता है, कभी भावना प्रधान, धर्मप्रधान, संयम प्रधान। जैसे :—

सुमति दो सुमतिनाथ भगवान्।

सिद्ध स्वरूप—अज, अविनाशी, अगम, अगोचर, अमल, अचल, अविकार।

जीवन कैसा—जिसमें ना किसी की हिंसा हो (पृ. ९१, भाग ६)

साधु—शान्त दान्त ये साधु सही (पृ. १२५)

आराधना—षड्कर्म आराधन की करो कमाई। (पृ. १४२)

स्वाध्याय—बिन स्वाध्याय ज्ञान नहीं होवे। (पृ. १९४)

महावीर शिक्षा—घृणा पाप से हो, पापी से कभी नहीं।

सुन्दर—सुन्दर एक सन्तोष।

परिग्रह—परिग्रह की इच्छा सीमित रख लो।

आगम के सजग प्रहरी ने आगम के रहस्य को सर्वत्र खोलकर रख दिया। जिनागम के प्रायः सभी आगमों का सार आपके चिन्तन में है। किन्तु आचारांग, सूत्रकृतांग, ठाणांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दि, कल्पसूत्र आदि के उदाहरण आपकी आगम-साधना पर विशेष बल देते हैं।

—पिऊकुंज, अरविन्द नगर, उदयपुर-३१३००१

□□□
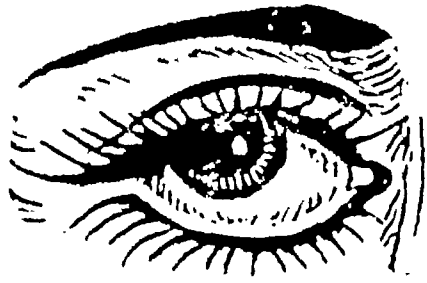
आचार्य श्री की इतिहास-दृष्टि

□ डॉ. भागचन्द जैन भास्कर

प्रज्ञा-पुरुष आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० जैन जगत् के जाज्वल्यमान् नक्षत्र थे, सद्ज्ञान से प्रदीप्त थे, आचरण के धनी थे, सजग साधक थे और थे इतिहास-मनीषी, जिन्होंने 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' लिखकर शोधकों के लिए एक नया आयाम खोला है। इस ग्रन्थ के चार भाग हैं जिनमें से प्रथम दो भाग आचार्य श्री द्वारा लिखे गये हैं और शेष दो भागों में उन्होंने मार्गदर्शक के रूप में कार्य किया है। इनके अतिरिक्त 'पट्टावली प्रबन्ध संग्रह' और 'आचार्य चरितावली' भी उनकी कुशल इतिहास-दृष्टि के साक्ष्य ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों का निष्पक्ष मूल्यांकन कर हम उनकी प्रतिभा का दर्शन कर सकेंगे।

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

प्रथम खण्ड

सं. २०२२ के बालोतरा चातुर्मास के निश्चयानुसार आचार्य श्री सामग्री के संकलन में जुट गये। उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए श्री गजसिंह राठौड़ का विशेष सहयोग रहा। सं. २०२३ के चातुर्मास (अहमदाबाद) में प्रथम खण्ड का लेखन कार्य विधिवत् आरम्भ हुआ। इसमें चौबीस तीर्थङ्करों तक का इतिहास समाहित है।

जैन धर्म का आदिकाल इस अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थङ्करों में आदिनाथ ऋषभदेव से प्रारम्भ होता है। इसके लेखन में लेखक ने आगम ग्रन्थों के साथ ही जिनदासगणि महत्तर (ई. ६००–६५०), अगस्त्यसिंह (वि. की तृतीय शताब्दी), संघदास गणि (ई. ६०९), जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण (वि. सं. ६४५), विमल सूरि (वि. सं. ६०), यति वृषभ (ई. चतुर्थ शती), जिनसेन (ई. ९वीं शती), गुणभद्र, रविषेण (छठी शती), शीलांक (नवीं शती), पुष्पदन्त (नवीं शती), भद्रेश्वर (११वीं शती), हेमचन्द्र (१३वीं शती), धर्म सागर गणि (१७वीं शती) आदि के ग्रन्थों को भी आधार बनाया। उन्होंने प्रथमानुयोग को धार्मिक इतिहास का प्राचीनतम शास्त्र माना है और जैन इतिहास को पूर्वाचार्यों

की अविरल परम्परा से प्राप्त प्रामाणिक इतिवृत्त के रूप में स्वीकार किया है। अपने समर्थन में 'पउमचरियम्' की एक गाथा को भी प्रस्तुत किया है जिसमें पूर्व ग्रंथों के अर्थ की हानि को काल का प्रभाव बताया गया है।[1] यही बात आचार्य श्री ने द्वितीय खण्ड के प्राक्कथन में लिखी है—"इस प्रकार केवल इस प्रकरण में ही नहीं, आलेख्यमान संपूर्ण ग्रन्थमाला में शास्त्रीय उल्लेखों, अभिमतों अथवा मान्यताओं को सर्वोपरि प्रामाणिक मानने के साथ-साथ आवश्यक स्थलों पर उनकी पुष्टि में प्रामाणिक आधार एवं न्यायसंगत, बुद्धिसंगत युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं।[2]. मतभेद के स्थलों में शास्त्र सम्मत मत को ही प्रमुख स्थान दिया गया है (पृ. २६)।

यह बात सही है कि पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिक, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र ही प्राचीन आर्यों का इतिहास शास्त्र था।[3] परन्तु विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि को उसमें खोजना उपयुक्त नहीं होगा। जब तक धर्मशास्त्र परम्परा पुरातात्त्विक प्रमाणों से अनुमत नहीं होती, उसे पूर्णतः स्वीकार करने में हिचकिचाहट हो सकती है। तीर्थङ्करों के महाप्रातिहार्य जैसे तत्त्व विशुद्ध इतिहास की परिधि में नहीं रखे जा सकते।

तीर्थंकरों में 'नाथ' शब्द की प्राचीनता के संदर्भ में आचार्य श्री ने 'भगवती सूत्र' का उदाहरण 'लोगनाहेणं', 'लोगनाहाणं' देकर यह सिद्ध किया है कि 'नाथ' शब्द जैनों का अपना है। नाथ संप्रदाय ने उसे जैनों से ही लिया है। यतिवृषभ (चतुर्थ शती) ने 'तिलोयपण्णत्ति' में संतिणाह, अणंतणाह आदि शब्दों का प्रयोग किया है (४-५४१/५६६)।

जैन परम्परा के कुलकर और वैदिक परम्परा के मनु की संख्या समान मिलती है। 'स्थानांग' और 'मनुस्मृति' में सात, महापुराण (३/२२६-२३२) और 'मत्स्यपुराण' (६वां अध्याय) आदि में चौदह और 'जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति' में ऋषभ को जोड़कर १५ कुलकर बताये गये हैं। तुलनार्थ यह विषय द्रष्टव्य है।

तीर्थंकरत्व प्राप्ति के लिए 'आवश्यक निर्युक्ति' के अनुसार बीस कारण (१७६-१७८, ज्ञाताधर्मकथा ८) और 'तत्त्वार्थ सूत्र' (६.२३) या 'आदिपुराण'

---

१. एवं परंपराए परिहाणि पुव्वगंथ अत्थाणं।
नाऊण कालभावं न रुसियव्वं बुहजणेणं।। पउमचरियम्
जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम खण्ड, अपनी बात, पृ. १०

२. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, द्वि. खं, प्राक्कथन, पृ. २६

३. पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतिहासः।

के अनुसार षोडश कारण हैं जो लगभग समान हैं (पृ. १०), श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा में मान्य ३४ अतिशयों की तुलना, संकोच, विस्तार और सामान्य दृष्टिभेद की चर्चा हुई है (पृ. ३८), समवशरण की व्याख्या (पृ. ४१-४३) बड़ी युक्तिसंगत हुई है। 'आवश्यक निर्युक्ति' (गाथा ३५१-५८) का उद्धरण देकर आचार्य श्री ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि परिव्राजक परम्परा सम्राट भरत के पुत्र मरीचि से शुरू हुई है जो सुकुमार होने के कारण परीषह सहन नहीं कर सका और त्रिदण्ड, क्षुर-मुण्डन, चन्दनादि का लेप, छत्र, खड़ाऊं, कषायवस्त्र, स्नान-पानादि का उपयोग विहित बता दिया। कहा जाता है यही मरीचि बाद में तीर्थंकर महावीर हुआ (पृ. ४६-४७)। परिव्राजक परम्परा की उत्पत्ति का यह वर्णन कहाँ तक सही है, नहीं कहा जा सकता, पर इतना अवश्य है कि परिव्राजक संस्था बहुत पुरानी है। उत्तरकाल में यह शब्द विशेषण के रूप में श्रमण भिक्षु के साथ भी जुड़ गया। 'महापुराण' (१८-६२.४०३) में मरीचि के शिष्य कपिल को परिव्राजक परम्परा का प्रथम आचार्य माना गया है। बाद में यहाँ ऋषभदेव को जैनेतर परम्पराओं में क्या स्थान मिला है, इसका भी आकलन किया गया है।

ऋषभदेव के वैशाख शुक्ला तृतीया को वर्षी-तप का पारणा किये जाने के उपलक्ष्य में 'अक्षय तृतीया' पर्व का प्रचलन, व्यवहारतः उसे संवत्सर तप की संज्ञा का दिया जाना, ब्राह्मी और सुन्दरी को बालब्रह्मचारिणी कहे जाने पर उसे 'दत्ता' शब्द का सम्यक् अर्थ बताकर युक्तिसंगत सिद्ध करना, सनत्कुमार चक्रवर्ती को तद्भवमोक्षगामी मानने वाली परम्परा को मान्यता देना, आदि जैसे विषयों से संबद्ध प्रश्नों को सयुक्तिक समाधान देना आचार्य श्री की प्रतिभा का ही फल है।

तीर्थंकर ऋषभदेव से सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) और शान्तिनाथ से महावीर तक के आठ, इन कुल १६ अन्तरों में संघ रूप तीर्थ का विच्छेद नहीं हुआ। परन्तु सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के सात अन्तरों में धर्मतीर्थ का विच्छेद हो गया। आचार्य श्री का अभिमत है कि यह समय राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष के कारण जैन धर्म के लिए अनुकूल नहीं रहा हो। यह भी माना जाता है कि ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक के अन्तर में 'दृष्टिवाद' को छोड़कर ग्यारह अंग शास्त्र विद्यमान रहते हैं पर सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के अन्तरकाल में बारहों ही अंगशास्त्रों का पूर्ण विच्छेद हो जाता है। शान्तिनाथ से महावीर के पूर्व तक भी 'दृष्टिवाद' का ही विच्छेद होता है, अन्य ग्यारह अंग-शास्त्रों का नहीं। (प्रवचन सारोद्धार, द्वार ३६)। (पृ. १४)।

तीर्थंकर अजितनाथ से नमिनाथ तक के तीर्थंकरों की जीवन-घटनाओं का वर्णन अधिक नहीं मिलता। पर उनके पूर्वभव, देवगति का आयुकाल, च्यवन,

जन्म, जन्मकाल, राज्याभिषेक, विवाह, वर्षीदान, प्रव्रज्या, तप, केवलज्ञान, तीर्थस्थापना, गणधर, प्रमुख आर्या, साधु-साध्वी आदि का परिवार मान आदि पर जो भी सामग्री मिलती है वह साधारणतः दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराओं में समान है। जो कुछ भी थोड़ा-बहुत मतभेद है वह श्रुतिभेद और स्मरणभेद के कारण है। (पृ. २२)।

यहाँ वह उल्लेखनीय है कि इन तीर्थंकरों के जीवन-प्रसंगों में जो भी व्यक्ति नामों का उल्लेख मिलता है उसका सम्बन्ध ज्ञात/उपलब्ध ऐतिहासिक राजाओं से दिखाई देता है। सम्भव है उन्हीं के आधार पर सूत्रों, निर्युक्तियों और पुराणों में उन नामों को जोड़ दिया गया हो। इसलिए उनकी ऐतिहासिकता पर लगा प्रश्नचिह्न निरर्थक नहीं दिखाई देता।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि का सम्बन्ध हरिवंश और यदुवंश से रहा है। इसी काल में कौरव और पाण्डव तथा श्री कृष्ण वगैरह महापुरुष हुए। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और वासुदेव लक्ष्मण, तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के समय हुए। प्रसिद्ध ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ के मध्यवर्ती काल में हुआ। वैदिक, जैन और बौद्ध परम्पराओं में इसका लगभग समान रूप से वर्णन मिलता है। जैन परम्परा में वर्णित अरिष्टनेमि, रथनेमि और दृढ़नेमि ने पालि साहित्य में भी अच्छा स्थान पाया है। अतः इतिहास की परिधि में रहकर इन पर भी विचार किया जाना चाहिए।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ निःसन्देह ऐतिहासिक महापुरुष हैं। पालि साहित्य में उनके शिष्यों और सिद्धान्तों का अच्छा वर्णन मिलता है। आचार्य श्री ने पिप्पलाद, भारद्वाज, नचिकेता, पकुध-कच्चायन, अजितकेशकम्बल, तथागत बुद्ध आदि तत्कालीन दार्शनिकों पर उनके सिद्धान्तों का प्रभाव संभावित बताया है। मैंने भी अपनी पुस्तक 'Jainism in Buddhist Literature' में इस तथ्य का प्रतिपादन किया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य श्री ने 'निरयावलिका सूत्र' के तृतीय वर्ग के तृतीय अध्ययन में निहित शुक्र महाग्रह के कथानक का उल्लेख करते हुए कहा है कि "सोमिल द्वारा काष्ठमुद्रा मुंह बांधना प्रमाणित करता है कि प्राचीन समय में जैनेतर धार्मिक परम्पराओं में काष्ठमुद्रा से मुख बांधने की परम्परा थी और पार्श्वनाथ के समय में जैन परम्परा में भी मुख-वस्त्रिका बांधने की परम्परा थी। अन्यथा देव सोमिल को काष्ठ मुद्रा का परित्याग करने का परामर्श अवश्य देता। परन्तु मुख-वस्त्रिका का सम्बन्ध पार्श्वनाथ के समय तक खींचना विचारणीय है। राजशेखर के षड्दर्शन प्रकरण से तत्सम्बन्धी उद्धरण

को प्रस्तुत कर अपने विचार की पुष्टि करना कालक्रम की दृष्टि से विचारणीय है।

तीर्थंकर महावीर का नयसार का जीव ब्राह्मणपत्नी देवानन्दा की कुक्षि में पहुँचा। हरिणगमेषी ने गर्भापहार कर उसे क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में पहुँचाया। गर्भापहार का यह प्रसंग 'स्थानांगसूत्र' में दस आश्चर्यों में गिना गया है। इसे इतिहास की कोटि में गिना जाये क्या, यह प्रश्न अभी भी हमारे सामने है।

गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या के कारण श्रमण महावीर को रक्तातिसार की बाधा आई जो रेवती के घर से प्राप्त बिजोरापाक के सेवन से दूर हो गई। इस प्रसंग में 'भगवती सूत्र' (शतक १५, उद्देश १) में आये 'कवोयसरीर' और 'मज्जारकडए कुक्कुडमंसए' शब्दों का अर्थ विवादास्पद रहा है जिसे आचार्य श्री ने आचार्य अभयदेव सूरि और दानशेखर सूरि की टीकाओं के आधार पर क्रमशः कूष्मांडफल और मार्जार नामक वायु की निवृत्ति के लिए बिजोरा अर्थ किया है (पृ. ४२७)। इस प्रसंग में 'आचारांग' का द्वितीय श्रुतस्कन्ध स्मरणीय है जिसमें उद्देशक ४, सूत्र क्र. १, २४, ४६, उद्देशक १०, सूत्र ५८ में इस विषय पर चर्चा हुई है। इसी तरह दशवैकालिक सूत्र ५–१–७५–८१, निशीथ उद्देशक ६, सूत्र ७६, उपासक दशांग (१–८) भी इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं। वृत्तिकार शीलांक ने लूता आदि रोगोपचार के लिए अपवाद के रूप में लगता है, इसे विहित माना है। परन्तु जैनाचार की दृष्टि से किसी भी स्थिति में मांस भक्षण विहित नहीं माना जा सकता।

आचार्य श्री ने अचेल शब्द का अर्थ आगमिक टीकाकारों के आधार पर अल्प मूल्य वाले जीर्णशीर्ण वस्त्र किया है (पृ. ४८७–८८) और सान्तोत्तर धर्म को महामूल्यवान वस्त्र धारण करने वाला बताया है। इसी तरह कुमार शब्द का अर्थ भी युवराज कहकर विवाहित किया है। पर दिगम्बर परम्परा में कुमार का अर्थ कुमार अवस्था में दीक्षा धारण करने से है।

इस खण्ड में 'तीर्थंकर परिचय पत्र' के नाम से परिशिष्ट १ में तीर्थंकरों के माता-पिता नाम, जन्मभूमि, च्यवन तिथि, च्यवन नक्षत्र, च्यवन स्थल, जन्म तिथि, जन्म नक्षत्र, वर्ण, लक्षण, शरीरमान, कौमार्य जीवन, राज्य काल, दीक्षा-तिथि, दीक्षा नक्षत्र, दीक्षा साथी, प्रथम तप, प्रथम पारणा दाता, प्रथम पारणा-स्थल, छद्मस्थकाल, केवलज्ञान तिथि, केवलज्ञान नक्षत्र, केवलज्ञान स्थल, चैत्यवृक्ष, गणधर, प्रथम शिष्य, प्रथम शिष्या, साधु संख्या, साध्वी संख्या, श्रावक संख्या, श्राविका संख्या, केवलज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी, अवधिज्ञानी, वैक्रियक

लब्धिधारी, पूर्वधारी, वादी, साधक जीवन, आयु प्रमाण, माता-पिता की गति, निर्वाण तप, निर्वाण तिथि, निर्वाण नक्षत्र, निर्वाण स्थल, निर्वाण साथी, पूर्वभव नाम, अन्तराल काल आदि विषयों पर दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार पर अच्छे ज्ञानवर्धक चार्ट प्रस्तुत किये हैं।

यह खण्ड विशुद्ध परम्परा का इतिहास प्रस्तुत करता है और यथास्थान दिगम्बर परम्परा को भी साथ में लेकर चलता है। शैली सुस्पष्ट और साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर है।

द्वितीय खण्ड

इस खण्ड को आचार्य श्री ने केवलिकाल, श्रुतकेवलिकाल, दशपूर्वधरकाल, सामान्यपूर्वधरकाल, में विभाजित कर वीर नि. सं. से १००० तक की अवधि में हुए प्रभावक आचार्यों और श्रावक-श्राविकाओं का सुन्दर ढंग से जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है और साथ ही तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों और सांस्कृतिक परम्पराओं का भी आकलन किया है।

केवलिकाल :

वीर निर्वाण सं. १ से ६४ तक का काल केवलिकाल कहा जाता है। महावीर निर्वाण के पश्चात् दिगम्बर परम्परानुसार केवलिकाल ६२ वर्ष का है— गौतम गणधर १२ वर्ष, सुधर्मा (लोहार्य) ११ वर्ष तथा जम्बू स्वामी ३९ वर्ष। परन्तु श्वे. परम्परानुसार यह काल कुल ६४ वर्ष का था—१२+८+४४। इनमें इन्द्रभूति गौतम का जीवन अल्पकालिक होने के कारण सुधर्मा स्वामी प्रथम पट्टधर थे। इन्द्रभूति और सुधर्मा को छोड़कर शेष ९ गणधरों का निर्वाण महावीर के सामने ही हो चुका था। आचार्य श्री ने सुधर्मा को पट्टधर होने में दो और कारण दिये। पहला यह कि वे १४ पूर्व के ज्ञाता थे, केवली नहीं जबकि गौतम केवली थे। दूसरा कारण यह कि केवली किसी के पट्टधर या उत्तराधिकारी नहीं होते क्योंकि वे आत्मज्ञान के स्वयं पूर्ण अधिकारी होते हैं। तीर्थंकर महावीर ने निर्वाण के समय सुधर्मा को तीर्थाधिप बनाया और गौतम को गणाधिप मध्यमपावा में। (गणहरसत्तरी २, पृ. ६२)। सम्पूर्ण द्वादशांग तदनुसार सुधर्मा स्वामी से उपलब्ध माना जाता है। यद्यपि उसमें शब्दतः योगदान सभी ग्यारह गणधरों का ही रहा है। जम्बू स्वामी ४४ वर्ष तक पट्टधर रहे।

द्वादशांगों में 'आचारांग' का 'महापरिज्ञा' नामक सातवें अध्ययन का लोप आचार्य श्री की दृष्टि में नैमित्तिक भद्रबाहु (वि. सं. ५६२) के बाद हुआ। उसमें शायद मंत्रविद्याओं का समावेश था जो साधारण साधक के लिए उ...

था (पृ. ८७) यहाँ आचार्य श्री ने यह मत भी स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि 'आचारांग' का द्वितीय श्रुत स्कन्ध 'आचारांग' का ही अभिन्न अंग है। वह न 'आचारांग' का परिशिष्ट है और न पश्चाद्वर्ती काल में जोड़ा गया भाग है (पृ. ६२)। आगे उन्होंने कहा कि ऐसा प्रतीत होता है कि 'निशीथ' को 'आचारांग' की पांचवीं चूला मानने और उसके पश्चात् उसे 'आचारांग' से पृथक् किया जाकर स्वतन्त्र छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किये जाने की मान्यता के कारण पदसंख्या विषयक मतभेद और उसके फलस्वरूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध को 'आचारांग' से भिन्न उसका परिशिष्ट अथवा आचाराग्र मानने की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ (पृ. ६६)। इस कथन को लेखक ने काफी गंभीरतापूर्वक सिद्ध किया है।

श्रुतकेवली काल :

श्वे. परंपरानुसार श्रुतकेवली काल वी. नि. सं. ६४ से वी.नि.सं. १७० तक माना गया है। इस १०६ वर्ष की अवधि में ५ श्रुतकेवली हुए—प्रभवस्वामी (११ वर्ष), शय्यंभव (२३ वर्ष), यशोभद्र (५० वर्ष), संभूतिविजय (८ वर्ष) और भद्र-बाहु (१४ वर्ष)। दि. परंपरा इनके स्थान पर क्रमशः विष्णुकुमार-नंदि (१४ वर्ष) नन्दिमित्र (१६ वर्ष), अपराजित (२२ वर्ष), गोवर्धन (१६ वर्ष) और भद्रबाहु (२६ वर्ष)। कुल काल १०० वर्ष था। विष्णुनन्दि के विषय में आचार्य श्री का कहना है कि दिगम्बर परम्परा में उनका विस्तार से कोई परिचय नहीं मिलता। श्वे. परम्परा में उनका नामोल्लेख भी नहीं है (पृ. ३१६)। शय्यंभव द्वारा रचित 'दशवैकालिक' सूत्र उपलब्ध है।

इन पाँचों श्रुतकेवलियों में भद्रबाहु ही ऐसे श्रुतकेवली हैं जो दोनों परम्पराओं द्वारा मान्य हैं। परन्तु उनकी जीवनी के विषय में मतभेद हैं। आचार्य श्री ने दोनों परंपराओं की विविध मान्यताओं का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहा कि वी. नि. सं. १५६ से १७० तक आचार्य पद पर रहे हुए छेद-सूत्रकार चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को और वी. नि. सं. १०३२ (शक सं. ४२७) के आसपास विद्यमान वराहमिहिर के सहोदर भद्रबाहु को एक ही व्यक्ति मानने का भ्रम रहा है जो सही नहीं है। इसी तरह श्रुतकेवली भद्रबाहु को निर्युक्तिकार नहीं माना जा सकता (पृ. ३५६)। निर्युक्तिकार भद्रबाहु नैमित्तिक भद्रबाहु थे, वराहमिहिर के सहोदर 'तित्थोगालिपइन्ना' 'आवश्यक चूर्णि', 'आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति' और आचार्य हेमचन्द्र का 'परिशिष्ट पर्व' इन प्राचीन श्वे. परंपरा के ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर थे, उनके समय द्वादश वार्षिक दुष्काल पड़ा, वे लगभग १२ वर्ष तक नेपाल प्रदेश में रहे जहाँ उन्होंने महाप्राण-

ध्यान की साधना की, उसी समय उनकी अनुपस्थिति में आगमों की वाचना वी. नि. सं. १६० के आसपास पाटलिपुत्र नगर में हुई, उन्होंने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम १० पूर्वों का सार्थ और शेष पूर्वों का केवल मूल वाचन दिया, उन्होंने चार छेद सूत्रों की रचना की (पृ. ३७७)।

दशपूर्वधर काल :

वी. नि. सं. १७० में श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गारोहण के बाद दशपूर्वधरों के काल का प्रारम्भ होता है। श्वे. परंपरा वी. नि. सं. १७० से ५८४ तक कुल मिलाकर ४१४ वर्ष का और दि. परंपरा वी. नि. सं. १६२ से ३४५ तक कुल मिलाकर १८३ वर्ष का दशपूर्वधर काल मानती है।

आर्य स्थूलभद्र गौतम गोत्रीय ब्राह्मण नंद साम्राज्य के महामात्य शकटाल के पुत्र थे। वररुचि भी इसी समय का प्रकाण्ड विद्वान था। नन्दवंश का अभ्युदय और अन्त तथा मौर्यवंश का अभ्युदय भी इसी काल में हुआ। सिकन्दर, चन्द्रगुप्त और चाणक्य से सम्बद्ध घटनाओं का भी यही काल था। आचार्य श्री ने अनेक प्रमाण देकर चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक काल वी. नि. सं. २१५ अर्थात् ई. पू. ३१२ निश्चित किया है। आर्य महागिरि के समय सम्राट बिन्दुसार और आर्य सुहस्ति के समय सम्राट अशोक और सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। 'कल्पसूत्र' की स्थविरावली आर्य सुहस्ती से सम्बद्ध रही है। आर्य बलिस्सह के समय कलिंग, खारवेल और पुष्पमित्र शुंग का राज्य था। आर्य समुद्र के समय कालकाचार्य और सिद्धसेन हुए। इसके बाद आर्य वज्रस्वामी और आर्य नागहस्ति हुए। दिगम्बर परंपरा में भी एक वज्रमुनि हुए हैं जो विविध विद्याओं के ज्ञाता और धर्म-प्रभावक थे। वज्रस्वामी और वज्रमुनि एक ही व्यक्तित्व होना चाहिए जिनके स्वर्गारोहण के बाद वी. नि. सं. ६०९ में और दिगम्बर परम्परानुसार वी. नि. सं. ६०६ में दिगम्बर-श्वेताम्बर परंपरा का स्पष्ट भेद प्रारम्भ हुआ (पृ. ५८५)।

सामान्य पूर्वधर काल :

वी. नि. सं. ५८४ से वी. नि. सं. १००० तक सामान्य पूर्वधर काल रहा। आर्यरक्षित के पश्चात् भी पूर्वज्ञान की क्रमशः परि हानि होती रही और वी. नि. सं. १००० तक संपूर्ण रूपेण एक पूर्व का और शेष पूर्वों का आंशिक ज्ञान विद्यमान रहा। आर्यरक्षित सामान्य पूर्वधर आचार्यों में प्रधान हैं। वे अनुयोगों के पृथक्कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं।

आर्य सुधर्मा से लेकर आर्य वज्रस्वामी तक जैन शासन विना किसी भेद के चलता रहा। उसे 'निर्ग्रन्थ' के नाम से कहा जाता था। परन्तु वी.नि.सं. ६०...

में यह स्थिति समाप्त हो गई और दिगम्बर-श्वेताम्बर के नाम से सम्प्रदाय-भेद प्रकट हो गया। दि० परम्परा के अनुसार यह काल वी० नि० सं० ६०६ हो सकता है। आचार्य श्री ने दोनों परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है (पृ० ६१३)।

समग्र कथानकों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भद्रबाहु की परम्परा दि० सम्प्रदाय से और स्थूलभद्र की परम्परा श्वे० सम्प्रदाय से जुड़ी हुई है। अर्धफलक सम्प्रदाय का यहां उल्लेख दिखाई नहीं दिया जो मथुरा कंकाली टीले से प्राप्त शिलापट्ट में अंकित एक जैन साधु की प्रतिकृति में दिखाई देता है। संभव है, श्वे० सम्प्रदाय का यह प्राक्‌रूप रहा है। इस प्रसंग में 'सान्तरोत्तर' शब्द का भी अर्थ द्रष्टव्य है। शीलांक के शब्दों में जो आवश्यकता होने पर वस्त्र का उपयोग कर लेता है अन्यथा उसे पास रख लेता है। 'उत्तराध्ययन' की टीकाओं में 'सान्तरोत्तर' का अर्थ महामूल्यवान और अपरिमित वस्त्र मिलता है। किन्तु 'आचारांग' सूत्र २०९ में आये 'सन्तरुत्तर' शब्द का अर्थ भी द्रष्टव्य है। वहाँ कहा गया है कि तीन वस्त्रधारी साधुओं का कर्तव्य है कि वे जब शीत ऋतु व्यतीत हो जाये, ग्रीष्म ऋतु आ जाये और वस्त्र यदि जीर्ण न हुए हों तो उन्हें कहीं रख दे अथवा सान्तरोत्तर हो जाये।

'सान्तरोत्तर' के इन अर्थों पर विचार करने पर लगता है, अचेल का अर्थ वस्त्राभाव के स्थान में क्रमशः कुत्सितचेल, अल्पचेल और अमूल्यचेल हो गया है। 'आचारांग' सूत्र १८२ में अचेलक साधु की प्रशंसा तथा अन्य सूत्रों (५-१५०-१५२) में अपरिग्रही होने की आवश्यकता एवं 'ठाणांग' सूत्र १७१ में अचेलावस्था की प्रशंसा के पांच कारण भी इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं।[1]

धीरे धीरे यापनीय और चैत्यवासी जैसे सम्प्रदायों का उदय हुआ। आचार्य श्री ने इन सम्प्रदायों के इतिहास पर भी यथासम्भव प्रकाश डाला है। उनकी दृष्टि में यापनीय संघ वि० की द्वितीय शताब्दी में दिगम्बर सम्प्रदाय से और चैत्यवासी सम्प्रदाय सामन्तभद्र सूरि के वनवासीगच्छ से वि० सं० ८०० के आसपास अस्तित्व में आया। हरिभद्रसूरि ने चैत्यवासियों की शिथिलता की अच्छी खासी आलोचना की है। यहाँ आचार्यश्री ने दिगम्बर सम्प्रदाय में जाने माने आचार्य समन्तभद्र (द्वितीय शताब्दी) को समन्तभद्र सूरि होने की संभावना व्यक्त की है (पृ० ६३३) जो विचारणीय है।

वाचक वंश परम्परा में हुए आचार्य स्कन्दिल (वी० नि० सं० ८२३) के नेतृत्व में मथुरा में आगमिक वाचना हुई। स्कन्दिल और नागार्जुन (वल्लभी)

१. देखिए लेखक का ग्रन्थ "जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास" पृ० ३७-५६.

आगम-वाचनाओं के पश्चात् मिल नहीं सके, इस कारण दोनों वाचनाओं में रहे हुए पाठ-भेदों का निर्णय अथवा समन्वय नहीं हो सका (पृ० ६५३)। लगभग १५० वर्ष बाद आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वी० नि० सं० ९८० में वल्लभी में आगमों को लिपिबद्ध कराया। उनके स्वर्गारोहण के बाद पूर्वज्ञान का विच्छेद हो गया। परन्तु दिगम्बर परम्परा में पूर्वज्ञान का विच्छेद अन्तिम दश पूर्वधर धर्मसेन के स्वर्गस्थ होते ही वी० नि० सं० ३४५ में हुआ। दोनों परम्पराओं की मान्यताओं में यह ६५५ वर्ष का अन्तर विचारणीय है (पृ० ७००)।

आचार्य श्री की समन्वयात्मक दृष्टि में दि० परम्परा में द्वादशांगी की तरह अंगबाह्य आगम भी विच्छिन्न की कोटि में गिने जाते हैं पर अंगबाह्य आगमों की विलुप्ति का कोई लेख देखने में उन्हें नहीं आया। स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि छोटे-बड़े ८४ मतभेदों के अतिरिक्त शेष सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन दोनों परम्पराओं में पर्याप्तरूपेण समान ही मिलता है। उनमें जो अंतर है वह नाम, शैली और क्रम का है। इसी क्रम में उन्होंने यहाँ दिगम्बर परम्परा में मान्य आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को वी० नि० सं० ८०० से भी पश्चाद्वर्ती बताया है और आर्यश्याम (पन्नवणा सूत्र के रचयिता) को वी० नि० सं० ३३५ से ३७६ के बीच प्रस्थापित किया है। (पृ० ७२३)। यहीं उन्होंने पन्नवणा और षट्खण्डागम की तुलना भी प्रस्तुत की है।

इस भाग की निम्नलिखित विशेषताएँ अब हम इस प्रकार देख सकते हैं—

१. एक हजार वर्ष का राजनीतिक और सामाजिक इतिहास जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में।

२. निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहु नहीं थे, निमित्तज्ञ भद्रबाहु (द्वितीय) थे।

३. अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु दुष्काल के समय दक्षिण की ओर नहीं, नेपाल की ओर गये थे।

४. अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के पास मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त का दीक्षित बताया जाना भ्रमपूर्ण है। छठी शताब्दी में हुए आचार्य भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्ति की दक्षिण विहार की घटना को भूल से इसके साथ जोड़ दिया गया है। श्रवण बेलगोला की पार्श्वनाथ वसति पर प्राप्य शिलालेख इसका प्रमाण है।

५. प्रधानाचार्य, वाचनाचार्य, गणाचार्य की परम्पराओं पर सयुक्तिक प्रकाश डाला गया है।

६. नन्दि स्थविरावली और कल्पसूत्रीया स्थविरावली का आधार लेकर मथुरा के कंकाली टीला में प्राप्त शिलालेखों की सामग्री पर अभिनव प्रकाश।

७. कनिष्क के राज्य के चौथे वर्ष वी० नि० सं० ६०६ से पूर्व की कोई जैनमूर्ति मथुरा के राजकीय संग्रहालय में नहीं है।

८. विशुद्ध परम्परा की वाचनाचार्य, गणाचार्य और युगप्रधानाचार्य की परम्पराओं की क्षीणता चैत्यवासी परम्परा की लोकप्रियता के कारण।

९. चैत्यवासी परम्परा का वर्चस्व और शिथिलाचार से जैनधर्म में संकटों का आना।

१०. मुखवस्त्रिका का ऐतिहासिक उल्लेख।

११. विशुद्ध परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का अभियान प्रारम्भ।

तृतीय खण्ड

तृतीय खण्ड के दोनों भाग भी आगमों में प्रतिपादित जैनधर्म के मूल स्वरूप को ही प्रमुख आधार बनाकर लिखे गये हैं क्योंकि आगमेतर धर्मग्रन्थों में एतद्विषयक एकरूपता के दर्शन दुर्लभ हैं (सम्पादकीय, पृ० १०)। इस खण्ड के लेखन में 'तित्थोगालि पइन्ना, महानिशीथ, सन्दोह दोहावलि, संघपट्टक, आगम अष्टोत्तरी आदि ग्रन्थों तथा शिलालेखों का विशेष उपयोग किया गया है। इस खण्ड में वी० नि० सं० १००१ से १४७५ तक का इतिहास आकलित हुआ है। आचार्यश्री के मार्गदर्शन में श्री गजसिंह राठौड़ ने इस भाग को तैयार किया है। लेखक को इसमें अधिक श्रम करना पड़ा है।

प्रारम्भ में वीरनिर्वाण से देवर्द्धिकाल तक की परम्परा को मूल परम्परा कहकर उसे संक्षिप्त रूप में लेखक ने प्रस्तुत किया है और बाद में उत्तरकालीन धर्मसंघ में चैत्यवासियों के कारण जो विकृतियां आयीं, उनकी विकासात्मक पृष्ठभूमि को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

भट्टारक परम्परा :

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में भट्टारक परम्परा वी० नि० सं०

की ११वीं शताब्दी में प्रतिफलित हुई। उसने मध्यम मार्ग को अपनाकर मठ, नसियां, बस्तियां आदि बनाईं, शिक्षण संस्थाएँ शुरू कीं, ग्रन्थरचना की, विधि-विधान, कर्मकाण्ड, मन्त्र-तन्त्र तैयार हुए। फलतः भट्टारक परम्परा की लोकप्रियता काफी बढ़ गई। इस परम्परा के शिथिलाचार की भर्त्सना आचार्य कुन्दकुन्द ने भी की है जिनका समय आचार्य श्री ने ई० सन् ४७३ अनुमानित किया है।

भट्टारक परम्परा के प्रथम रूप को लेखक के अनुसार दिगम्बर:श्वेताम्बर-यापनीय संघों के श्रमणों के बीच ही वी० नि० सं० ६४० से लेकर ८८० तक देखा जा सकता है। इन भट्टारकों ने भूमिदान, द्रव्यग्रहण आदि परिग्रह रखना प्रारम्भ कर दिया था। दूसरे रूप को नन्दिसंघ की पट्टावली में खोजा। इस परम्परा के पूर्वाचार्य प्रारम्भ में प्रायः नग्न तदनन्तर अर्ध नग्न और एकवस्त्र-धारी रहते थे। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से सवस्त्र रहने लगे। तीसरे रूप में तो ये आचार्य गृहस्थों से भी अधिक परिग्रही बन गये (पृ० १४३)। राजाओं के समान वे छत्र, चमर, सिंहासन, रथ, शिविका, दास, दासी, भूमि, भवन आदि चल-अचल सम्पत्ति भी रखने लगे। श्वेताम्बर परम्परा में भट्टारक परम्परा को श्रीपूज्य परम्परा अथवा यति परम्परा कहा जाने लगा। इस परम्परा पर यापनीय परम्परा का प्रभाव रहा है। लेखक ने "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक पाण्डुलिपि के आधार पर अपना विवरण प्रस्तुत किया है।

यापनीय संघ की उत्पत्ति दिगम्बर आचार्य श्वेताम्बर परम्परा से और श्वे० आचार्य दिग० परम्परा से मानते हैं। यह संघ भेद वी० नि० सं० ६०६ में हुआ। उनकी विभिन्न मान्यताओं का भी उल्लेख लेखक ने किया है। अप्रतिहत विहार को छोड़कर नियतनिवास, मन्दिर-निर्माण, चरणपूजा आदि शुरू हुए। इस प्रसंग में अनेक नये तथ्यों का उल्लेख यहाँ मिलता है।

लेखक ने इन सभी परम्पराओं को द्रव्य-परम्परा कहा है जो मूल (भाव) परम्परा के स्थान पर प्रस्थापित हुई हैं। भावपरम्परा के पुनः संस्थापित करने के लिए अनेक मुमुक्षुओं ने प्रयत्न किया। 'महानिशीथ' सूत्र ने इन दोनों परम्पराओं का समन्वय किया है। आचार्य हरिभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी-जिनदासगणिमहत्तर, नेमिचंद्र, सिद्धान्त चक्रवर्ती आदि आचार्यों ने समन्वय पद्धति का जो प्रयास किया, उसका विशेष परिणाम नहीं आया। फलस्वरूप उन विधि-विधानों को सुविहित परम्परा के गण-गच्छों ने तो अपना लिया परन्तु द्रव्य परम्पराओं ने समन्वय की दृष्टि से 'महानिशीथ' में स्वीकृत भाव परम्परा द्वारा निहित श्रमणाचार को नहीं अपनाया।

आगमानुसार श्रमण-वेश-धर्म-आचार की चर्चा करते हुए लेखक ने 'आचारांग' सूत्र, 'प्रश्न व्याकरण' और 'भगवती सूत्र' के आधार पर यह सिद्ध किया है कि मुखवस्त्रिका, वस्त्र-पात्र आदि धर्मोपकरणों का प्रमुख स्थान था। दूसरी परम्परा सवस्त्र अवस्था में मोक्ष प्राप्ति को स्वीकार नहीं करती थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'आचारांग' के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी आचार्य श्री उतना ही प्राचीन मानते रहे हैं जितना प्रथम श्रुतस्कन्ध को जो साधारणतः कोई स्वीकार नहीं कर सकेगा। वे सम्पूर्ण आगम शास्त्रों के विलुप्त होने की बात को भी अस्वीकार करते हैं (पृ० ३७६)। और यह भी प्रश्न खड़ा करते हैं कि दूसरी परम्परा के पास फिर कोई सर्वज्ञ या गणधरों या चतुर्दश/दस पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ कोई धर्मग्रन्थ सर्वमान्य है ? यह प्रश्न विचारणीय है।

उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा (वी० नि० सं० १००० के बाद) :

तीर्थंकर महावीर के बाद यथासमय परिस्थितियों के अनुसार आचार-नियमों में परिवर्तन होता गया। शिथिलाचार के साथ ही अन्य धर्मों के आकर्षक आयोजनों और आरतियों के तौर तरीकों को अपनाया जाने लगा। लोक-प्रवाह को दृष्टि में रखते हुए धर्मसंघ को जीवित रखने के लिए धर्म के स्वरूप में समयानुकूल परिवर्तन होता रहा। इस अध्याय में लेखक ने २७वें पट्टधर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल की मूल श्रमण परम्परा के आचार्यों को प्रमुख स्थान देते हुए क्रमबद्ध युगप्रधानाचार्यों का विवरण प्रस्तुत किया है जिसे सामान्य श्रुतधरकाल (१) माना है और २७वें युगप्रधानाचार्य तक के विवरण को सामान्य श्रुतधरकाल (२) के अन्तर्गत नियोजित किया है।

भ० महावीर के २८वें पट्टधर आचार्य वीरभद्र के समकालीन २९वें युग प्रधानाचार्य श्री हारिल्ल सूरि, भद्रबाहु (द्वितीय)—(वी० नि० सं० १०००-१०४५) और मल्लवादी (वि० की छठी शताब्दी) का मूल्यांकन किया। आचार्य सामन्तभद्र और समन्तभद्र को अभिन्न व्यक्तित्व मानकर उन्हें वि० की ७वीं शताब्दी में रखा है (पृ० ४३३)। इसी क्रम में बट्टकेर (पांचवीं-छठी शती ई०) शिवार्य, सर्वनन्दि और यतिवृषभाचार्य का भी काल निर्णय किया है। २९वें पट्टधर शंकरसेन, ३०वें पट्टधर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तथा आगे के क्रमशः पट्टधर आचार्य वीरसेन, वीरजस, जयसेन, हरिषेण आदि का विवरण दिया है। यही जैनधर्म दक्षिणापथ में किस प्रकार संकटापन्न स्थिति में रहा, इसका भी अच्छा विवेचन किया है (पृ० ४७४)।

तृतीय भाग की विशेषताओं का आकलन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

१. दिगम्बर संघ की भट्टारक परम्परा का रोचक और तथ्यपूर्ण इतिहास।

२. माघनन्दि की दूरदर्शिता पर प्रकाश।

३. यापनीय परम्परा पर अभिनव प्रकाश।

४. चोल, चेर, पाण्ड्य, गंग, होयसल, राष्ट्रकूट, चालुक्य आदि राजाओं का जैनधर्म के लिए आश्रयदान।

५. ४७५ वर्षों के तिमिराच्छन्न इतिहास पर नये शोधपूर्ण तथ्यों का आकलन।

६. जैनधर्म संघ पर संक्रान्ति के भयानक बादलों का उद्घाटन।

७. द्रव्य परम्परा का प्रचार-प्रसार और भाव परम्परा की वर्चस्वता के ह्रासीकरण पर प्रकाश।

८. अभिलेखों पर नया विचार।

९. नयी पट्टावलियों की खोज—जैतारण भण्डार से प्राप्त देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की पट्टावली का आधार ग्रहण।

१०. चैत्यवासी परम्परा का क्रमबद्ध इतिवृत्त और उसकी शिथिलाचार-वृत्ति पर अभिनव प्रकाश।

११. जैनाचार्य चरितावली और पट्टावली प्रबन्ध संग्रह ग्रन्थों में निहित ऐतिहासिक तथ्यों पर पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता।

इसके बाद लेखक ने हरिभद्रसूरि (वि० सं० ७५७-८२७), अकलंक (ई० ७२०-७८०), अपराजितसूरि (वि० की ८वीं शती), चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि (वी० नि० की १३वीं शती) बप्पभट्टसूरि (वि० सं० ८००-८९५), उद्योतनसूरि (८वीं शती), जिनसेन (वि० की ९वीं शती), वीरसेन (वि० सं० ७३८), शाकटायन (शक सं० ७७२), शीलांकाचार्य, यशोभद्रसूरि, गुणभद्र, स्वयंभू, विद्यानन्द आदि आचार्यों का विवरण देते हुए काष्ठा संघ, माथुर संघ, सांडेरगच्छ, हथूंडीगच्छ, वडगच्छ आदि की उत्पत्ति और उनके समकालीन राजवंशों के योगदान की भी चर्चा की है।

चतुर्थ खण्ड

श्री गजसिंह राठोड़ द्वारा लिखित इतिहास के इस चतुर्थ भाग में वि० सं० १४७६ से २००० तक के इतिहास को समाविष्ट किया गया

काल में जैनधर्म पर अनेक संकट आये राजनीतिक और सांस्कृतिक जिनका क्षोभपूर्ण ढंग से इस भाग में विवरण दिया गया है। इसी समय ई० सन् ९७७ में गजनवी सुलतान का आक्रमण हुआ। चैत्यवासी परम्परा सशक्त हुई। आचार्य वर्धमानसूरि से लेकर जिनपतिसूरि तक सभी आचार्यों ने ११वीं से १३वीं शताब्दी के बीच चैत्यवासी परम्परा से घनघोर संघर्ष किया। वर्धमानसूरि (वी० नि० की १६वीं शती) के प्रयत्न से चैत्यवासी परम्परा का ह्रास हुआ। उन्होंने दुर्लभराज की सभा में जाकर सूराचार्य और उनके शिष्यों को पराजित किया। और क्रियाद्धारों की शृंखला का सूत्रपात हुआ। जिनेश्वरसूरि और अभयदेवसूरि ने भी यह क्रम जारी रखा। पर अभयदेवसूरि ने कुछ समन्वयात्मक पद्धति का आश्रय लिया। चैत्यवासी परम्परा के आचार्य द्रोणाचार्य ने भी इस पद्धति को स्वीकार किया। बाद में उत्तरकालीन आचार्य जिनवल्लभसूरि, जिनदत्त सूरि, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्रसूरि, कुमारपाल आदि के योगदान पर विशद प्रकाश डाला गया है।

जिनदत्तसूरि से वि० सं० १२०९ में खरतरगच्छ का प्रारम्भ हुआ। चैत्यवासियों को पराजित कर दुर्लभराज का उसे आश्रय मिला। बाद में उपकेशगच्छ, अंचलगच्छ, तपागच्छ, बड़गच्छ आदि का वर्णन लेखक ने अच्छे ढंग से किया है और बताया है कि चैत्यवासी परम्परा द्वारा आविष्कृत अनेक मान्यताओं का प्रभाव सुविहित परम्पराओं पर अनेक प्रकार के क्रियाद्धारों के उपरान्त भी बना रहा। (पृ० ६३३)।

इसके बाद लगभग २०० पृष्ठों में अध्यात्मिक साधक लोंकाशाह की जीवनी और साधना पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

कुल मिलाकर इस खण्ड में निम्नलिखित विशेषतायें द्रष्टव्य हैं—

१. जैनधर्म के विरोध में लिंगायत सम्प्रदाय का उद्भव और जैनों का सामूहिक बध जैसे अत्याचार का प्रारम्भ। फलतः दक्षिण में जैन संख्या का कम हो जाना।

२. चैत्यवासियों का वि० सं० १०८० से ११३० तक अधिक प्रभुत्व और फिर क्रमशः ह्रास।

३. चालुक्कराज बुक्कराय द्वारा जैनों का वैष्णवों और शैवों के साथ समझौता कराकर उनकी रक्षा करना।

४. क्रियोद्धार का प्रारम्भ वि० सं० १०८० से १५३० के बीच और

अनेक गच्छों का उद्‌भव। उनमें पारस्परिक खण्डन-मण्डन की परम्परा ने भी जन्म लिया।

५. लोंकाशाह द्वारा जैनाचार का उद्धार।

इस प्रकार 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' ग्रन्थ के चारों खण्ड आगमिक परम्परा की पृष्ठभूमि में लिखे गये हैं। लेखन में उन्मुक्त चिन्तन दिखाई देता है। भाषा सरल और प्रभावक है, साम्प्रदायिक कटुता से मुक्त है। लेखकों ने आचार्यश्री के मार्गदर्शन में इतिहास के सामने कतिपय नये आयाम चिन्तन के लिए खोले हैं।

—अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभान, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

अमृत-कण

□ आचार्य श्री हस्ती

- शस्त्र का प्रयोग रक्षण के लिए होना चाहिए, भक्षण के लिए नहीं।
- भवसागर जिससे तरा जाये, उस साधना को तीर्थ कहते हैं।
- मानसिक चंचलता के प्रधान कारण दो हैं—लोभ और अज्ञान।
- नोटों को गिनने के वजाय भगवान् का नाम गिनना श्रेयस्कर है।
- जो खुशी के प्रसंग पर उन्माद का शिकार हो जाता है और दुःख में आपा भूलकर विलाप करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों का नहीं रहता।
- मिथ्या विचार, मिथ्या आचार और मिथ्या उच्चार असमाधि के मूल कारण हैं।

इतिहास-दर्शन, संस्कृति-संरक्षण और आचार्य श्री

☐ डॉ. प्रेम सुमन जैन

अतीत की घटनाएँ, विचार-दर्शन, सभ्यता के वदलते प्रतिमान एवं संस्कृति के विभिन्न उन्मेष सब मिलकर किसी युग विशेष के इतिहास का निर्माण करते हैं। अतः इतिहास वह दर्पण है, जहाँ सभ्यता और संस्कृति के प्रतिविम्व झलकते हैं। ऐसे इतिहास की विभिन्न कड़ियों को मिलाकर उसे एक सुनिश्चित स्वरूप प्रदान करने से इतिहासकार की वहुश्रुतता एवं कठोर परिश्रम का दिग्दर्शन होता है। इतिहास–रत्न आचार्य श्री स्व. पूज्य हस्तीमलजी महाराज सा. ने **"जैन धर्म का मौलिक इतिहास"** के चार भागों का निर्माण कर जैन संस्कृति के क्षेत्र में ऐतिहासिक कार्य किया है। जैन संघ और संस्कृति की परम्परा हजारों वर्ष प्राचीन है। देश-विदेश के विस्तृत भू-भाग में फैली हुई है। सैकड़ों आचार्यों एवं संघों के उपभागों में बंटी हुई है। विभिन्न भाषाओं के, कला-साधनों के घटकों में अन्तर्निहित है। उन सबको एक सूत्र में बाँधकर जैन धर्म के इतिहास के भवन को निर्मित करना पूज्य आचार्य श्री जैसे महारथी, मनीषी सन्त के पुरुषार्थ की ही बात थी, अन्य सामान्य इतिहासकार इसमें समर्थ नहीं होता। आचार्य श्री के पुरुषार्थ और इतिहास-दर्शन से जो यह "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" लिखा गया है, वह जैन संस्कृति का संरक्षण-गृह बन गया है। यह एक ऐसी आधारभूत भूमि बनी है, जिस पर जैन संस्कृति के विकास के कितने ही भवन निर्मित हो सकते हैं।

देश-विदेश के मूर्धन्य विद्वानों ने आचार्य श्री द्वारा निर्मित इस इतिहास ग्रन्थरत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उस सबको संक्षेप में समेटना चाहें तो इस ग्रन्थ की निम्नांकित विशेषताएँ उजागर होती हैं—

१. जैन धर्म का यह तटस्थ और प्रामाणिक इतिहास है।

—पं. दलसुख भाई मालवणिया (अहमदाबाद)

२. जैन धर्म के इतिहास सम्बन्धी आधार-सामग्री का जो संकलन इसमें हुआ है, वह भारतीय इतिहास के लिए उपयोगी है।

—डॉ. रघुबीरसिंह (सीतामऊ)

३. दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के प्रसिद्ध पुरुषों के चरित्रों का इसमें दोहन कर लिया गया है।

—स्व. पं. हीरालाल शास्त्री (ब्यावर)

४. इतिहास के अनेक नये तथ्य इसमें सामने आये हैं।

—स्व. श्री अगरचन्द नाहटा (बीकानेर)

५. चौवीस तीर्थंकरों के चरित को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

—स्व. डॉ. श्री ज्योतिप्रसाद जैन (लखनऊ)

६. इस इतिहास से अनेक महत्त्वपूर्ण नई बातों की जानकारी होती है।

—प्रो. डॉ. के. सी. जैन (उज्जैन)

७. जैन तीर्थंकर-परम्परा के इतिहास को तुलनात्मक और वैज्ञानिक पद्धति से मूल्यांकित किया गया है।

—डॉ. नेमीचन्द जैन (इन्दौर)

८. ऐतिहासिक तथ्यों की गवेषणा के लिए ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य का भी उपयोग किया गया है।

—श्रमण (वाराणसी) में समीक्षा

९. फुटनोट्स के मूल ग्रन्थों के सन्दर्भ से यह कृति पूर्ण प्रामाणिक बन गई है।

—डॉ. कमलचन्द सोगानी (उदयपुर)

१०. इस ग्रन्थ में शास्त्र के विपरीत न जाने का विशेष ध्यान विद्वान् लेखक ने रखा है।

—डॉ. भागचन्द जैन भास्कर (नागपुर)

इन मन्तव्यों से स्पष्ट है कि आचार्य श्री ने इस इतिहास के निर्माण में विभिन्न आयामों का ध्यान रखा है। यह केवल किसी धर्म विशेष का इतिहास नहीं है अपितु जैन धर्म की परम्परा में हुए धार्मिक महापुरुषों, आचार्यों और लेखकों ने अपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये, उन सबका इतिवृत्त ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें प्रस्तुत किया गया है। आचार्य श्री का यह कथन सत्य है कि "धार्मिक पुरुषों में आचार-विचार, उनके देश में प्रचार एवं प्रसार तथा विस्तार का इतिवृत्त ही धर्म का इतिहास है।" अत: 'जैन धर्म के मौलिक इतिहास' के इन चार भागों में जैन धर्म के आदि प्रवर्तक, कुलकर और उनके वंशज आदिदेव ऋषभ तीर्थंकर से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के धार्मिक क्रान्ति-प्रवर्तक लोंकाशाह के समय तक का जैन संघ का इतिहास उपलब्ध जैन

स्रोतों के आधार पर, प्रस्तुत किया गया है। इस इतिहास में प्रस्तुत सामग्री धर्म, दर्शन, साहित्य, समाज एवं संस्कृति के लिये कई दृष्टियों से उपयोगी है।

इस इतिहास के प्रथम भाग में जैन परम्परा में कुलकर-व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। भगवान् ऋषभ देव से लेकर भगवान् महावीर तक के चौबीस तीर्थंकरों का जीवन चरित इसमें वर्णित है। प्रसंगवश सिन्धु सभ्यता, वैदिक काल एवं महाकाव्य युग के इतिहास की प्रमुख घटनाओं, राजाओं एवं समाज का विश्लेषण भी इसमें हुआ है। ग्रन्थ के द्वितीय भाग में महावीर के निर्वाण से लेकर १००० वर्ष तक का धार्मिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवलिकाल, दस पूर्वधरकाल, श्रुतकेवलिकाल एवं सामान्य पूर्वधरकाल का विवरण है। यह सामग्री दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के उद्भव एवं विकास को जानने के लिये महत्त्वपूर्ण है। आगम साहित्य एवं उसके व्याख्या साहित्य पर भी इससे प्रकाश पड़ता है। मौर्ययुग और उसके परवर्ती राजवंशों, विदेशी आक्रान्ताओं तथा विचारक आचार्यों के सम्बन्ध में भी यह ग्रन्थ कई नये तथ्य प्रस्तुत करता है। प्राकृत एवं संस्कृत में लिखित मौलिक ऐतिहासिक सामग्री के परिज्ञान के लिए यह खण्ड विशेष महत्त्व है। इस खण्ड की कतिपय मान्यताएँ एवं निष्कर्ष इतिहासज्ञों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं, जिन पर अभी भी गहन चिन्तन-मनन की आवश्यकता है।

'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' का तृतीय भाग किन कठिनाइयों में लिखा गया, इसका विवरण सम्पादक महोदय श्री गजसिंह राठौड़ ने प्रस्तुत किया है। देवर्द्धि क्षमा श्रमण के स्वर्गारोहण के उपरान्त ४७५ वर्षों के जैन धर्म का इतिहास इस भाग में है। अर्थात् ईसा की लगभग चतुर्थ शताब्दी से नवीं शताब्दी तक की ऐतिहासिक घटनाएँ इसमें समायी हुई हैं। यह काल साहित्य और दर्शन का उत्कर्ष काल है, किन्तु इस समय में ऐतिहासिक सामग्री की प्रचुरता नहीं है। इसलिये यह खण्ड विभिन्न तुलनात्मक सन्दर्भों से युक्त है। यह भाग यापिनी संघ, भट्टारक परम्परा, दक्षिण भारत में जैन धर्म, दार्शनिक जैनाचार्यों के योगदान, गुप्त युग के शासकों आदि पर विशेष सामग्री प्रस्तुत करता है। साहित्यिक सन्दर्भों से इतिहास के तथ्य निकालना दुष्कर कार्य है, जिसे आचार्य श्री जैसे खोजक सन्त ही कर सकते हैं। स्वभावतः इस खण्ड में प्रस्तुत कई निष्कर्ष विभिन्न परम्पराओं के इतिहासज्ञों एवं धार्मिक पाठकों को पुनः चिन्तन-मनन की प्रेरणा देते हैं। इतिहास का अध्ययन करवट बदले, यही इस खण्ड की सार्थकता है।

वीर निर्वाण सम्वत् १४७६ से २००० वर्ष तक अर्थात् लगभग ईसा की दसवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक के जैन धर्म के इतिहास को इतिहास

ग्रन्थमाला के चतुर्थ भाग में प्रस्तुत किया गया है। आचार्य श्री की प्रेरणा और मार्गदर्शन में इस भाग का लेखन श्री गजसिंह राठौड़ ने किया है। जैन धर्म और इतिहास के मर्मज्ञ लेखक ने इस भाग को बड़े श्रमपूर्वक लिखा है और उपयोगी सामग्री प्रस्तुत की है। इस भाग में सामान्य श्रुतधर जैन आचार्यों का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध है। जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, जिनप्रभसूरि आदि अनेक प्रभावक आचार्यों के योगदान की इसमें चर्चा है। किन्तु सम्भवतः विस्तार भय से दिगम्बर जैनाचार्यों का उल्लेख नहीं है। यह खण्ड श्वे० परम्परा के प्रमुख जैन गच्छों और संघों का इतिहास प्रस्तुत करता है। प्रसंगवश मुगल शासकों, प्रमुख जैन शासकों और श्रावकों का विवरण भी इसमें दिया गया है। मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के लिए इस खण्ड की सामग्री बहुत उपयोगी है। यह युग धार्मिक क्रान्तियों का युग था। जैन धर्म और संघ के अनुयायियों में भी उस समय पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एवं उथल-पुथल थी। इतिहास लेखक इसके प्रभाव से बच नहीं सकता। अतः इस खण्ड में वही सामग्री प्रस्तुत की जा सकी है, जिससे जैन धर्म के इतिहास की कड़ियाँ जुड़ सकें और उसके सिद्धान्त/स्वरूप में कोई व्यवधान न पड़े। ग्रन्थ के आकार की, समय की भी सीमा होती है अतः बहुत कुछ जैन इतिहास के वे तथ्य इसमें रह भी गये हैं, जिनसे जैन परम्परा की कई शाखाएँ—प्रशाखाएँ पल्लवति—पुष्पित हुई हैं।

"जैन धर्म का इतिहास" विभिन्न आयामों वाला है। तीर्थंकरों, महापुरुषों, प्रभावक श्रावक-श्राविकाओं, राजपुरुषों, दार्शनिकों, साहित्यकारों, संघों-गच्छों, आचार्यों आदि को दृष्टि में रखकर इतिहास लिखा जा सकता है। यह सुनियोजित एवं विद्वानों के समूह के अथक श्रम की अपेक्षा रखता है। पूज्य आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा. ने "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" के चार भागों का निर्माण एवं प्रकाशन कराकर एक ऐतिहासिक कार्य किया है। तीर्थंकरों एवं उनके शिष्यों/पट्टधरों को आधार बनाकर यह इतिहास लिखा गया है। प्रसंगवश इसमें सम्पूर्ण जैन संस्कृति का संरक्षण हो गया है। आचार्य श्री ने समाज को वे इतिहास चक्षु प्रदान कर दिये हैं जो और गहरे गोते लगाकर जैन धर्म के इतिहास को पूर्ण और विविध आयाम वाला बना सकते हैं।

जैन धर्म के इतिहास का अध्ययन-अनुसंधान गतिशील हो, इसके लिए निम्नांकित आधुनिक ग्रन्थ उपयोगी हो सकते हैं :—

१. जैन परम्परानो इतिहास, भाग १-२, (त्रिपुटी)
२. जैन शिलालेख संग्रह भाग १, २, ३, ४, बम्बई

३. भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास (मुनि ज्ञानसुन्दर), फलौदी
४. जैनिज्म इन साउथ इण्डिया (देसाई), शोलापुर
५. दक्षिण भारत में जैन धर्म (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री), वाराणसी
६. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग १-४
   (डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री) सागर
७. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य (साध्वी संघमित्रा), लाडनूं
८. जैन धर्म नुं प्राचीन इतिहास (पं. हीरालाल श्रावक), जामनगर
९. जैन साहित्य और इतिहास (पं. नाथूराम प्रेमी), बम्बई
१०. जैन साहित्य व इतिहास पर विशद प्रकाश (पं. जुगलकिशोर मुख्तार)
११. जैन परम्परा का इतिहास (मुनि नथमल), चूरू
१२. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग १ (पं बलभद्र जैन) दिल्ली
१३. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग २ (पं. परमानन्द शास्त्री), दिल्ली
१४. त्रिपिटक और आगम–एक परिशीलन (मुनि नगराज)
१५. जैनिज्म इन राजस्थान (डॉ. के. सी. जैन), शोलापुर
१६. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग १-४ (आचार्य हस्तीमल), जयपुर
१७. जैन सोर्जेज ऑफ द हिस्ट्री ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया
   (डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन), दिल्ली
१८. जैन संस्कृति और राजस्थान (डॉ. नरेन्द्र भानावत), जयपुर

जैन धर्म के इतिहास से सम्बन्धित उक्त ग्रन्थों की सूची में अनेक ग्रन्थ अभी और जुड़ सकते हैं। इतिहास विषयक सामग्री से युक्त सैकड़ों प्राचीन जैन ग्रन्थ हैं, कुछ ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थ हैं एवं कतिपय साहित्यिक ग्रन्थों में, प्रशस्तियों में इतिहास की सामग्री गुंथी हुई है। इधर जैन साहित्य के जो ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, उनके सम्पादकों ने इतिहास विषयक सामग्री का मूल्यांकन भी किया है। इस सब ऐतिहासिक सामग्री का तुलनात्मक विश्लेषण और अध्ययन किया जाना आवश्यक है। "जैन धर्म का बृहत इतिहास" कई भागों में निष्पक्ष रूप में लिखे जाने की अपेक्षा है, तब कहीं जैन संस्कृति के सभी पक्ष विभिन्न आयामों में उद्घाटित हो सकेंगे। आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज के इस इतिहास ग्रन्थ के भागों के नये संस्करणों में भी अद्यावधि प्रकाशित एवं उपलब्ध नवीन तथ्यों के समावेश से ग्रन्थ की उपयोगिता द्विगुणित होगी। ऐसे महत्त्वपूर्ण और विशालकाय ग्रन्थों की प्रकाशन संस्था एवं अनुदाता धर्मप्रेमी बन्धु बधाई के पात्र हैं।

—विभागाध्यक्ष–जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग,
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

आचार्य श्री हस्ती : वचन और प्रवचन

☐ डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया

चन्दन और चाँदनी में शीतलता तो है पर उष्णता नहीं, आदित्य और अनल में उष्णता तो है पर शीतलता नहीं। सागर में गहराई तो है पर ऊँचाई नहीं, अद्रि में ऊँचाई तो है पर गहराई नहीं। आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी महाराज में शीतलता, उष्णता, गहराई और ऊँचाई समान रूप से विद्यमान रही है। उनमें तपश्चरण की उष्णता, आत्मानुभूति की शीतलता तथा चारित्र की ऊँचाई तो ज्ञान-गहराई एक साथ मुखर हो उठी थी।

वे जब चले तो सन्मार्ग के चरण चल पड़े परन्तु वे लीक पर कभी नहीं चले। उन्होंने स्व-पर कल्याण के लिए नये-नये पंथों को प्रकाशित किया। वे जितना जिये स्वावलम्बी बनकर ठाठ से जिये और जब मरण को प्राप्त हुए तो उसे मृत्यु-महोत्सव मनाते हुए। अद्भुत किन्तु अनुकरणीय जीवनादर्श स्थापन करने में आचार्य श्री सचमुच साकार अनन्वय अलंकार थे।

ऐसे जनवंद्य पूजनीय आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज ने स्व-पर कल्याणार्थ जब-जब 'वचन' उचारे वे तब-तब 'प्रवचन' बनकर जन-जन के कण्ठहार बन गये। यहाँ उनके कतिपय 'वचन' और 'प्रवचन' के सन्दर्भ में संक्षिप्त चर्चा करना हमें मूलतः अभिप्रेत है।

सामान्यतः 'वचन' शब्द का तात्पर्य है—बोलने की क्रिया अथवा आदमी के मुख से निकले हुए सार्थक शब्दों का समूह। धार्मिक सन्दर्भ में यदि 'वचन' का अर्थ लिया जाय तो वह होगा—शास्त्र आदि का वाक्य। बोलना एक कला है। इसी कला का परिणाम है—'वचन'। भाषा समिति से अनुप्राणित जो बोला जाता है वह 'वचन' वस्तुतः विशिष्ट होता है और उसका प्रयोजन होता है कल्याणकारी। साधु समुदाय में 'समिति' का प्रयोग सामान्य बात है। चलना, बोलना, खाना, उठाना-रखना, मलमूत्र का निक्षेपण करना इन सभी क्रियाओं में कर्ता जब सावधानी रखता है तो दृष्ट और अदृष्ट जीवों की विराधना से बचा जा सकता है। संतों के वचन वस्तुतः होते हैं—विशिष्ट।

सुख और समृद्धि से सम्पृक्त जीवन जीने के लिए सन्त के सभी कार्य 'समिति' पूर्वक सम्पन्न हुआ करते हैं। इन सभी क्रियाओं के करते समय

सन्त प्रायः मूर्च्छा-मुक्त रहता है। यम, नियम पूर्वक उठाये गये चरण वस्तुतः सदाचरण का प्रवर्तन करते हैं। उनकी जीवन-चर्या यम, नियमों, आचार संहिता की प्रयोगशाला होती है। ज्ञानपूर्वक जो 'वचन' प्रयोग शाला में आकर परिमार्जित होता है, उसकी अभिव्यक्ति वस्तुतः 'प्रवचन' का रूप धारण करती है। 'वचन' जब 'प्रवचन बन जाते हैं तब बौद्धिक प्रदूषण समाप्त हो जाता है।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० जैन संतों में एक जागरूक, क्रांतिकारी सन्त के रूप में समाहृत रहे हैं। वे सदा लीक से हटकर चले और उन्होंने सदा भोगे हुए यथार्थ को आडम्बर विहीन अर्थात् आर्जवी चर्या में चरितार्थ किया। चरित्रवान पूज्यात्माओं की वाणी विमल और विशिष्ट हुआ करती है। वाणी चरित्र की प्रतिध्वनि हुआ करती है। आचार्य श्री की वाणी सदा संयत और सार्थ हुआ करती थी। असंयत आलाप शस्त्र की वाणी को जन्म देता है जबकि संयत और सधे हुए वचन-प्रवचन शास्त्र की वाणी कहलाते हैं। आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज की वाणी शास्त्र की वाणी है। उसमें प्राणी मात्र के कल्याण की भावना और कामना विद्यमान है।

प्रवचन शाला में उनकी वाणी को जिन्होंने सुना, वे धन्य हो गये और जिन्होंने उसको जीवन में उतारा वे वस्तुतः अनन्य हो गये। उनके समग्र प्रवचन को जितने प्रमाण और परिमाण में संकलन किया, वह सारा का सारा शास्त्र बन गया। उसी के आधार पर उनकी प्रवचन-पटुता का संक्षेप में अनुशीलन करना यहाँ हमारा मूल अभिप्रेत है।

'गजेन्द्र व्याख्यान माला' भाग ३ में आचार्य श्री द्वारा पर्युषण काल में दिये गये सात प्रवचनों का संकलन है। दर्शन से लेकर दान पर्यन्त आपने जिस बारीकी के साथ धार्मिक लक्षणों पर विवेचन किया है, वस्तुतः वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। प्रस्तुत प्रवचनों में प्रत्येक साधक को प्रारम्भिक साधना से लेकर चरम लक्ष्य प्राप्त कराने वाली साधना तक का मार्गदर्शन मिलेगा। इसके साथ ही उसमें आदर्श गृहस्थ बनने, आदर्श समाज का निर्माण करने और धर्म की आधार-शिला को सुदृढ़ एवं सुदीर्घ काल तक स्थायी बनाने के उपायों पर भी विशद प्रकाश डाला गया है।

'बोध करो, बंधन को तोड़ो' नामक प्रसंग में आचार्य श्री फरमाते हैं—"बोध करो कि भगवान् महावीर ने बंधन किसे कहा है और किन-किन बातों को जानकर उस बंधन को तोड़ा जाता है। बंधन और बंधन को तोड़ने का ज्ञान प्राप्त कर बंधन को तोड़ो। सचित्त अथवा अचित्त वस्तु को पकड़ कर जो कोई थोड़े से भी परिग्रह को लेता है, उस पर मूर्च्छा ममता करता है अथवा उस पर

मूर्च्छा ममता करने वाले का अनुमोदन करता है, वह व्यक्ति दुःख से मुक्त नहीं होता।" (गजेन्द्र व्याख्यान माला, भाग ३, पृष्ठ ३४)

इसी प्रकार 'दान प्रकरण' में आचार्य श्री सात्विक दान का प्रवचन के द्वारा स्वरूप स्थिर करते हैं—"बिना किसी उपकार—प्रत्युपकार एवं फल की आकांक्षा करते हुए इसी निःस्वार्थ उदार भाव से कि मुझे देना है, जो दान उचित, देश, काल में योग्य पात्र को दिया जाता है, उसी दान को भगवान महावीर ने सात्विक दान कहा है।" (गजेन्द्र व्याख्यान माला, भाग ३, पृष्ठ १४८)

'गजेन्द्र व्याख्यान माला' भाग ६ में आचार्य श्री के जलगाँव (महाराष्ट्र) में वर्षा-वास के अवसर पर दिये गये प्रवचनों पर आधारित कतिपय प्रवचनों का व्यवस्थित संकलन है। ज्ञान की सार्थकता क्रिया अथवा आचरण में है, अतः आचार्य श्री ने ज्ञान के साथ आचरण और आचरण के साथ ज्ञान को जोड़ने की दृष्टि से जन-जन को सामायिक और स्वाध्याय की प्रेरणा दी। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप समाज और देश में स्वाध्याय के प्रति विशेष जागृति पैदा हुई। इन प्रवचनों में मुख्यतः संस्कार-निर्माण, व्यवहार शुद्धि और स्वाध्यायशीलता पर विशेष बल दिया गया है। वे तो आचार निष्ठ जीवन, लोक मंगल भावना और तपःपूत चिन्तन का पावन उद्गार हैं', इसीलिए वस्तुतः वे प्रवचन हैं जो श्रद्धालु जन-जन के मार्गदर्शन के लिए प्रस्फुटित हुए हैं।

चातुर्मास वस्तुतः दोष-परिमार्जन और सुख-प्राप्ति का अवसर प्रदान करते हैं। इस अवसर पर साधक को व्रत-साधना में तल्लीन होने का अवसर मिलता है।

"व्रत करने वाले भाई पौषध करना नहीं छोड़ें। यदि परिस्थितिवश नहीं करें तो भी ध्यान रखें कि वे बोलचाल में उत्तेजना की भाषा नहीं बोलेंगे। गुस्सा नहीं करेंगे, गाली-गलौज नहीं करेंगे। अपने तन-मन का संयम करके रहेंगे तो उनका व्रत या उपवास सफल होगा।" (गजेन्द्र व्याख्यान माला, भाग ६, पृष्ठ १६)

परिग्रह का विश्लेषण करते हुए आचार्य श्री की प्रवचन-पटुता श्रोता के मन को छूने में सर्वथा समर्थ है। यथा—"बहुत ऊँचा आदमी शासन में या उद्योग में यदि यह सोचे कि दूसरों के वाहन लकड़ी के तख्तियों के होते हैं तो मैं सोना, चांदी के पाटियों का जहाज बनाऊँ। चांदी-सोने की पाटियों के जहाज पर बैठकर भाई साहब यात्रा करें तो भाई साहब की कैसी गति बनेगी—डूब जाएंगे। आप इससे अनुभव कर लेंगे और हृदय में चिन्तन करेंगे कि ये जगत,

स्वर्ण, हीरे और जवाहरात के परिग्रह भार हैं। इधर दरिया में डुबोते हैं और उधर भवसागर की दरिया में भी डुबोते हैं। तो माई का लाल ! यदि परिग्रह कुटुम्ब की आवश्यकता के लिए रखना जरूरी है तो ऐसा करो कि उस पर तुम सवारी करो लेकिन तुम्हारे पर वह सवार न हो। सोना, चाँदी, हीरे-जवाहरात के ऊपर, तुम सवार रहो लेकिन तुम्हारे ऊपर धन सवार नहीं हो। यदि धन तुम पर सवार हो गया तो वह तुमको नीचे डुबो देगा। यह है अरिहंत भगवान की शिक्षा।" (गजेन्द्र व्याख्यान माला, भाग ६, पृष्ठ ४३)

'प्रार्थना प्रवचन' नामक ग्रन्थ का प्रथम संस्करण १९६२ में प्रकट हुआ था, उसी का दूसरा संस्करण १९९० में प्रकाशित किया गया। इन प्रवचनों में आचार्य श्री के प्रार्थना पर दिये गये प्रवचनों का अमूल्य संकलन है। प्रार्थना को लेकर अभी तक पारदर्शी दृष्टि से बहुत कम विवेचन हो पाया है। 'प्रार्थना प्रवचन' उस कमी की पूर्ति की दिशा में एक स्तुत्य कदम है। इन प्रवचनों में आचार्य श्री ने प्रार्थी और प्रार्थना का विवेचन करते हुए जनता के सम्मुख प्रार्थना की महत्ता का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है।

विवेच्य कृति में आचार्य श्री प्रार्थना के स्वरूप को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

"प्रार्थना का प्राण भक्ति है। जब साधक के अन्तःकरण में भक्ति का तीव्र उद्रेक होता है तब अनायास ही जिह्वा प्रार्थना की भाषा का उच्चारण करने लगती है। इस प्रकार अन्तःकरण से उद्‌भूत प्रार्थना ही सच्ची प्रार्थना है।" (प्रार्थना-प्रवचन, पृष्ठ २)

काव्य शास्त्रीय निकष पर यदि विचार करें तो प्रवचन निबन्ध के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं किन्तु यह निबन्ध से भिन्न सर्वथा मौलिक काव्य रूप है। 'प्रवचन' व्यक्ति प्रधान होते हैं। उनमें प्रवाचक के गहन अध्ययन और अनुभूति का अद्‌भुत संगम होता है। पूज्य आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज के प्रवचनों में उनके धर्मग्रन्थों का व्यापक अध्ययन और गहन अनुभूति का अद्‌भुत समन्वय विद्यमान है। मनुष्य को मनुष्य बनने के लिए छोटे-छोटे धार्मिक संकल्पों को लेकर आचार्य श्री ने इस प्रकार व्यंजित किया है कि उनमें श्रोता अथवा पाठक का अन्तरंग प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इनके प्रवचनों में प्रभावना का अतिरेक सर्वत्र विद्यमान है।

दुरुह से दुरुह विषय को आचार्य श्री जीवन की प्रयोगशाला में चरितार्थ कर दृष्टान्तों के रूप में इस प्रकार शब्दायित करते हैं कि वर्ण्य विषय का काठिन्य काफूर हो जाता है और श्रोता अथवा पाठक के लिए विषय-कलेवर का बोध सुगम

और सहज हो जाता है। इस प्रकार इन प्रवचनों की अतिरिक्त विशेषता है—प्रभाव की अन्विति।

विवेच्य प्रवचनों में आर्षग्रन्थों की सूक्तियों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। उन सूक्तियों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जीवंत प्रायोगिक बाना पहिनाकर इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उनकी अर्थ-सम्पदा सहज और सरल प्रतीत हो उठती है साथ ही उनकी प्रासंगिकता भी प्रमाणित हो जाती है।

प्रवचनों की भाषा प्रायोगिक है। उसमें छोटे-छोटे वाक्यों, शब्द युग्मों के विरल किन्तु सरल प्रयोग अभीष्ट अर्थ-अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में सर्वथा सक्षम हैं। प्रवाचक के चारित्रिक बातायन से शब्द, वाक्य इस प्रकार फूटते चलते हैं कि श्रोता के चंचल चित्त को एकाग्र होकर सुनने के लिए विवश कर देते हैं। मंत्रमुग्ध की नाईं प्रवचनों की शैली का अद्भुत सम्मोहन सर्वथा उल्लेखनीय है। यही दशा होती है प्रवचन-अनुवाचनकर्ता की।

इस प्रकार सार में सारांश में कहा जा सकता है कि आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी महाराज के प्रवचन, प्रभावक, पटुतापूर्ण तथा अर्थ-अभिप्राय से सर्वथा सम्पृक्त हैं जिनके पारायण अथवा श्रवन-मनन से प्राणी को सधने और सुधरने की बेजोड़ प्रेरणा प्राप्त होती है।

—३९४, मंगल कलश, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़ (उ.प्र.)

अनुभव - मित्र

अनुभव तुम सम मित्र न कोय ।। टेर ।। अनुभव० ।।
सेण सखाई तुम सम नाहीं, अन्तस् करने जोय ।। अनुभव० ।।१।।

सत्य धरम की गैल चलाओ, दुर्मति भुरकी धोय।
अन्तर न्याय निचोकर काढ़ो, तार ज्ञान को सोय ।। अनुभव० ।।२।।

त्याग, भाग, वैराग, अमर फल, वगस-वगस अब मोय।
'सुजाण' सुरत-ज्ञान मोतियन की, अनुभव लड़ियां पोय ।। अनुभव० ।।३।।

—मुनि श्री सुजानमलजी म. सा.
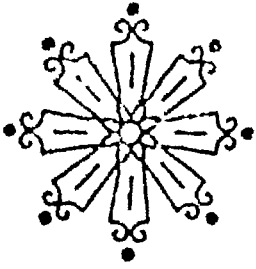
आचार्य श्री और उनके प्रवचन

☐ प्रो० महेन्द्र रायजादा

आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी महाराज जैनाचार्य होने के साथ ही भारतीय श्रमण परम्परा के आध्यात्मिक—सन्त, ज्ञानी-साधक, बहुज्ञ-विद्वान् तथा प्रतिभा सम्पन्न मूर्धन्य मनीषी थे। उनका सम्पूर्ण जीवन तप, त्याग एवं संयम के सौरभ से आवेष्टित रहा। उन्होंने अपनी ज्ञान-ज्योति से हजारों-लाखों आत्माओं के जीवन को आलोकित किया। आधुनिक श्रमण-सन्तों में वे शीर्षस्थ एवं शिरोमणि थे। जितना आदर एवं सम्मान जैन जगत् में उन्होंने अर्जित किया अन्य कोई भी श्रमण नहीं कर सका।

आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी ने भारत के विविध प्रान्तों में यायावरी जीवन व्यतीत करते हुए अनेक स्थानों पर चातुर्मासों के दौरान अपने प्रेरणादायी प्रवचन किये। सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर ने आचार्य श्री के उन प्रवचनों का 'गजेन्द्र व्याख्यान माला' के रूप में प्रकाशन किया है। आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी के उन प्रवचनों की कतिपय पुस्तकों को पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। 'प्रार्थना-प्रवचन' शीर्षक पुस्तक में आचार्य श्री के प्रार्थना पर दिए गए प्रवचनों का एक महत्त्वपूर्ण आकलन है। इन प्रवचनों में प्रार्थी और प्रार्थना का सुन्दर विवेचन किया गया है। प्रार्थना का मूल केन्द्र, प्रार्थना की महत्ता, प्रार्थना का जीवन के दैनिक चिन्तन में क्या महत्त्व है आदि अनेक विषयों का इन प्रबचनों में विज्ञान-सम्मत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य श्री के अनुसार आत्मा अपने मूल रूप में अनन्त चेतना, ज्ञान-दर्शन युक्त, निर्विकार और निरंजन है। आत्मोपलब्धि की तीव्र अभिलाषा आत्म-शोधन के लिए प्रेरणा जागृत करती है। किसी ने ज्ञान के द्वारा आत्म-शोधन की आवश्यकता बतलाई है, किसी ने कर्म-योग की अनिवार्यता बतलाई है, तो किसी ने भक्ति मार्ग के सरल मार्ग का अवलम्बन करने की बात कही है। जैन धर्म किसी भी क्षेत्र में एकान्तवाद को प्रश्रय नहीं देता और ज्ञान और कर्म के समन्वय द्वारा आत्म-शुद्धि होना प्रतिपादित करता है। प्रभु की प्रार्थना ही आत्म-शुद्धि की पद्धति का अंग है।

अपने एक प्रवचन में आचार्य श्री कहते हैं कि "प्रभु की प्रार्थना आत्म-शुद्धि की पद्धति का एक आवश्यक अंग है।.......प्रार्थना का प्राण भक्ति है। जब साधक के अन्तःकरण में भक्ति का तीव्र उद्रेक होता है, तब अनायास ही जिह्वा प्रार्थना की भाषा का उच्चारण करने लगती है।"

आचार्य प्रवर ने प्रार्थना का वर्गीकरण तीन विभागों में किया है—(१) स्तुति-प्रधान (२) भावना-प्रधान (३) याचना-प्रधान। इन तीनों प्रकारों की सुन्दर व्याख्या सरल भाषा में की है। वे उदाहरणों द्वारा अपनी बात को सुस्पष्ट कर समझाते जाते हैं। उनका कथन है कि जैन धर्म की मान्यता है कि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से समान है। चाहे सिद्ध परमात्मा हो या संसार में परिभ्रमण करने वाला साधारण जीव, दोनों में समान गुण-धर्म विद्यमान हैं। अन्तर है तो केवल विकास के तारतम्य का। आचार्य श्री के अनुसार प्रार्थना के रहस्य एवं प्रार्थनाओं के तारतम्य को समझ कर स्तुति-प्रधान प्रार्थना से भावना-प्रार्थना में आना चाहिये और जीवन के छिपे हुए तत्त्व को, आत्मा की सोई हुई शक्तियों को जगाना चाहिए। इससे अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है।

आचार्य श्री हस्तीमलजी ने अपने इन प्रवचनों में यह भी बतलाया है कि प्रार्थना कैसी होनी चाहिए, प्रार्थना का लक्ष्य क्या है, प्रार्थना अन्तःकरण से हो, प्रार्थ्य और प्रार्थी कैसे होने चाहिए आदि बातों का बोधगम्य, सुन्दर विवेचन एवं निरूपण किया है। समाज में व्याप्त रूढ़ियों तथा अंध-विश्वासों का खण्डन करते हुए आचार्य प्रवर ने प्रार्थना करने हेतु व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि का प्रतिपादन किया है।

'गजेन्द्र व्याख्यान माला' तृतीय भाग में आचार्य श्री महाराज के सन् १९७६ में बालोतरा चातुर्मास के समय पर्युषण-पर्व के सात दिन के व्याख्यानों को संकलित किया गया है। जैन समाज के सर्वांगीण विकास एवं अभ्युदय हेतु आचार्य श्री हस्तीमलजी ने इन सात दिनों में जो प्रवचन किये, वे अत्यन्त मार्मिक, प्रेरणात्मक तथा पथ-प्रदर्शक हैं। ये व्याख्यान प्रायः सरल भाषा में दिए गए हैं, किन्तु इनमें निहित भाव एवं विचार गुरु गम्भीर हैं। "इन प्रवचनों में साधनापूत आध्यात्मिक चिंतन-मनन किया गया है। आचार्य की आत्मानुभूति से युक्त पावन वाणी का पीयूष इन उद्गारों में निहित है।" इन प्रवचनों में कहा गया एक-एक शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो श्रोता या पाठक की हृदय-तंत्री को झंकृत कर देता है। पाठक के अन्तःचक्षुओं को उन्मीलित कर व्यक्ति को साधना के सद्पथ पर अग्रसर होने को उत्प्रेरित करता है।

आचार्य श्री के इन प्रवचनों में प्रारम्भिक साधना से लेकर चरम लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु साधना का उचित मार्ग दर्शाया गया है। साथ ही प्रवृत्ति मार्ग का निषेध न करते हुए एक आदर्श समाज के निर्माण हेतु मार्ग बतलाया गया है। व्यक्ति गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अपने जीवन को धर्म की सुदृढ़ नींव पर आधारित कर परमार्थ के मार्ग पर चल सकता है। सुविज्ञ पाठक इन प्रवचनों का पारायण कर अपने जीवन को उन्नत बना सकता है। अपने एक प्रवचन में आचार्य श्री ने 'परिग्रह' के प्रकारों का सुन्दर विवेचन करते हुए परिग्रह की प्रवृत्ति को समाज-विरोधी एवं समस्त अवगुणों की जड़ बतलाया है जो व्यक्ति को विनाश की ओर ले जाती है।

इन प्रवचनों में साधारण गृहस्थ के लिए आदर्श गृहस्थ बनने के उपायों पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रारम्भिक साधना से लेकर चरम लक्ष्य तक ले जाने वाली साधना का निरूपण किया गया है। धर्मानुसार आचरण करते हुए व्यक्ति आदर्श समाज के निर्माण में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान कर सकता है। पर्युषण पर्व के दिनों में आत्म-निरीक्षण कर अपनी कमियों को दूर करने हेतु आत्म-चिन्तन पर विशेष बल देने की आवश्यकता है—यही आचार्य श्री का मन्तव्य है।

श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी आधुनिक जैन सन्त-परम्परा के पुरोधा हैं। आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करना आपके प्रवचनों का मूल लक्ष्य रहा है। सन् १९७९ का चातुर्मास आचार्य श्री ने महाराष्ट्र के जलगांव में किया था। इस चातुर्मास के दौरान आपने अपने प्रवचनों में मुख्य रूप से संस्कार-निर्माण, व्यवहार-शुद्धि और स्वाध्याय-शीलता पर विशेष बल दिया। इन प्रवचनों में से प्रमुख २६ प्रवचनों का चयन कर 'गजेन्द्र व्याख्यान माला'—भाग ६ में संकलन किया गया है। इस पुस्तक का कुशल सम्पादन डॉ० हरिराम आचार्य ने किया है।

डॉ० हरिराम ने अपने सम्पादकीय में लिखा है—'यह तो आचारनिष्ठ जीवन, लोक मंगल भावना और तपःपूत चिन्तन का पावन उद्गार है—इसलिये 'प्रवचन' है, जो श्रद्धालु जन-जन के मार्ग-दर्शन के लिए प्रस्फुटित हुआ है। जिन्होंने आचार्य प्रवर के श्रीमुख से सुना है, वे धन्य हैं। जिन्हें यह अवसर नहीं मिला, वे भी इन प्रवचन-मुक्ताओं का पारायण कर लाभ उठा सकें—इसीलिए यह प्रकाशन है।' निःसंदेह डॉ० आचार्य का यह कथन सर्वथा उचित है। आचार्य श्री हस्तीमलजी ने अपने इन प्रवचनों में मानव जीवन सम्बन्धी महत्वपूर्ण तत्त्वों एवं अनेक विषयों का बोधगम्य भाषा में सरल विवेचन किया है। धर्म-साधना के लिए शारीरिक निरोगता तथा पारिवारिक अनुकूलता

आवश्यक है। सद् कर्म, ज्ञान, धर्म, साधना, विवेक तथा संयम द्वारा मनुष्य अपने जीवन को उन्नत कर सकता है। आहार-शुद्धि, आचार-विचार शुद्धि, परमार्थ-चिंतन तथा समाज-सेवा आदि विषयों की सरल एवं सार्थक व्याख्या करते हुए आचार्य श्री ने अपने इन प्रवचनों में मानव जीवन की सार्थकता का मूल मंत्र बतलाया है।

आचार्य प्रवर के इन प्रवचनों के मुख्य विषय हैं—मोक्ष मार्ग के दो चरण-ज्ञान और क्रिया, परिग्रह-निवृत्ति, साधन-संयम, विकार-विजय से आत्म-शक्ति का विकास, सदाचार और सद् विचार ही धर्म का आधार, आहार-शुद्धि से आचार-शुद्धि, वास्तविक त्याग का स्वरूप, परिग्रह दुःख का मूल, सच्चा त्याग ही धर्म साधना का आधार, चंचल मन को साधना में लगाने के उपाय और पंच महाव्रत, राग-शमन के उपाय और आत्म-साधना से लाभ तथा कामना का शमन, सच्चा श्रावक धर्म आदि। आचार्य श्री ने इन सभी विषयों की व्यावहारिक दृष्टि से विशद व्याख्या करते हुए हजारों-लाखों श्रोताओं तथा पाठकों को लाभान्वित किया है। विश्वास है, इस व्याख्यानमाला के प्रवचन-पराग से मुमुक्षु पाठक अपने अंतरमन को सुवासित कर अपने जीवन को सार्थक एवं सफल बनाने की दिशा में अग्रसर होंगे।

सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर ने आचार्य श्री के विभिन्न स्थानों पर दिये गये प्रवचनों को अनेक भागों में पुस्तकाकार रूप में सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित ढंग से प्रकाशित करने का श्लाघनीय कार्य किया है। अतः इस प्रकाशन से जुड़े हुए सभी लोग साधुवाद के पात्र हैं।

—५-ख-२०, जवाहर नगर, जयपुर-४

अमृत-कण

- व्रत के समय की कीमत नहीं, उसमें कीमत है चित्त की निर्विकारता की।
- जिनका चित्त स्वच्छ नहीं है वे परमात्म-सूर्य के तेज को ग्रहण नहीं कर सकते।
- तप के कारण आदमी जप के लायक बनता है।
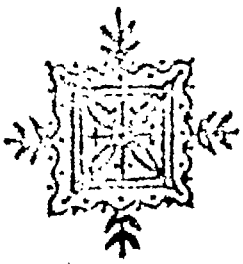
—आचार्य श्री

आचार्यश्री का प्रवचन साहित्य : एक मूल्यांकन

☐ डॉ० पुष्पलता जैन

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० एक कुशल प्रवचनकार थे। उनकी प्रवचन शैली अत्यन्त प्रभावक और झकझोरने वाली थी। श्रोता उन्हें सुनकर कभी ऊबते नहीं थे और अपने व्यक्तित्व-विकास के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ से बन जाते थे। उनकी भाषा, शैली और विषय-प्रस्तुतिकरण में ऐसा आकर्षण था कि साधक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन किये बिना नहीं रहता।

आचार्य श्री के बहु-आयामी व्यक्तित्व में से हम उनके समन्तभद्र प्रवचनशील व्यक्तित्व को समझने का प्रयत्न करेंगे जिसमें बालकों और युवा पीढ़ी के साथ ही वृद्धों की चेतना को जाग्रत करने की अहम भूमिका रही है। हमारे सामने उनके प्रवचन साहित्य में से 'गजेन्द्र व्याख्यान माला' शीर्षक से प्रकाशित दो भाग (तीसरा और छठा) तथा 'जिनवाणी' में प्रकाशित कतिपय प्रवचन हैं-जिनके आधार पर हम उसका मूल्यांकन कर रहे हैं और उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाल रहे हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से—आचार्य श्री आध्यात्मिक क्षेत्र में रचे-पचे साधक थे। स्वाध्याय और सामायिक आन्दोलन के प्रवर्तक थे इसलिए उनके प्रवचन का अधिकांश भाग अध्यात्म से अधिक सम्बद्ध है। अध्यात्म का ही एक भाग नैतिक तत्त्व है और दूसरा उसका विकसित रूप दर्शन है। अतः इन तीनों तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है। चूंकि आचार्य श्री आगम के मर्मज्ञ थे, उनके विचार और प्रवचन, आगम की सीमा से बाहर जाते दिखाई नहीं देते। उन्होंने आत्मा, कर्म, स्वाध्याय, पर्युषण, तप, त्याग, दान जैसे उपयोगी विषयों पर सरल भाषा में सोदाहरण अच्छा प्रकाश डाला है और आबाल वृद्धों को धर्म और अध्यात्म की ओर आकर्षित कर जीवन के मूल्य को सही ढंग से पहचानने का पथ प्रशस्त किया है। उनका समर्पित व्यक्तित्व अध्यात्म साधक था और वे समाज के उन्नयन में क्रांतिकारी परिवर्तक थे।

जिनवाणी और श्रावक—आचार्य श्री जिनवाणी को ज्ञानगंगा कहा करते थे जो मन-शुद्धि और आत्म-शुद्धि करती है। वाणी की निर्मलता वक्ता पर निर्भर करती है। चूंकि जिनवाणी का वक्ता राग-द्वेष से मुक्त वीतरागी सर्वज्ञ है अतः

उसकी वाणी का निर्मल और सर्वतोभद्र होना स्वाभाविक है। जिनवाणी का अवगाहन करने से हमारा पारस्परिक स्नेह बढ़ेगा और जीवन शांतिमय रहेगा। (जिनवाणी, पृ. १, अप्रेल १९८९, मई १९९०)।

उपदेशक के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी को असत्य मार्ग न बताये। यह मार्ग तब तक नहीं हो सकता जब तक वह वीतरागी न हो। साधक का भी कर्तव्य है कि वह सत्य के पीछे कड़वापन बरदाश्त करे। जड़ को छोड़कर त्याग और गुण की उपासना जब तक नहीं होगी, तब तक सच्चा उपासक नहीं कहा जा सकता (जिनवाणी, मई, १९९०)। कामनाओं का शमन ही सच्चा श्रावक धर्म है—'कामेण कमाही कमियं खु दुक्खं'—दसवेयालिय। अगन्धन सर्प के समान छोड़ी हुई वस्तु को ग्रहण मत करो—'णिच्छंति वंत यं भुत्तुं कुले जाया अगन्धणे'। सही श्रावक के लिए शास्त्रों की सही जानकारी होना चाहिये। श्रावक माता-पिता, भाई के समान हैं जो परस्पर विचार-विनिमय कर तथ्य को समझने का प्रयत्न करते हैं। यही सम्यक्दर्शन है। (जिनवाणी, जून, १९८३)

'स्थानांग सूत्र' के आधार पर आचार्य श्री ने श्रावक के तीन भेद किये—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य श्रावक वह है जो स्थूल हिंसा का त्यागी हो, मदिरा-मांस-अंडे का सेवन न करे और नमस्कार मंत्र का धारक हो। मध्यम श्रावक वह है जो २१ गुणों का धारक, षट्कर्मों का साधक और १२ व्रतों का पालक हो। उत्कृष्ट श्रावक ही पडिमाधारी और वानप्रस्थाश्रमी कहा गया है। (जिनवाणी, जून, १९८३)

आत्म-साधना—'आचारांग-सूत्र', के 'पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खापमोक्खसि' के आधार पर आचार्य श्री ने आत्मा को ही अपना तारक माना है। सुख-दुःख का कारण हमारे भीतर ही है। बस, उसकी अनुभूति होनी चाहिए। मनुष्य की बुद्धि और भावना ही बंध और मोक्ष का कारण है। वह स्वयं ही तारण, मारण मंत्र का विधाता है।

आत्मा के द्वारा ही आत्मोद्धार होता है। आगम आत्मा की एकता प्रतिपादन करता है—'एगे आया।' सभी आत्मायें अपने मूल स्वरूप में एक-सी हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। उनमें जो विविधता है वह वाह्य निमित्त से हैं, कर्मों की विचित्रता के कारण हैं। आत्मा की ज्ञान-सुख रूप शक्तियां कर्मों से दूर हो जाने पर प्रकट हो जाती हैं। आभ्यन्तर और वाह्य परिग्रह की सीमा का भी यदि निर्धारण कर लिया तो प्रशस्त मार्ग प्राप्त हो सकता है। "इच्छा हु आगास समा अणंतिया" (उत्तराध्ययन) अतः परिग्रह की सीमा निर्धारित हो और आवश्यकता से अधिक धन का संचय न हो। आत्मज्ञान अनन्तशक्ति का स्रोत है। उसे प्राप्त किया जा सकता है (जिनवाणी, अगस्त, १९७५)।

और श्रद्धा को सुरक्षित रखने के लिए हिंसादिक कार्यों से दूर रहना चाहिये और आत्म-निरीक्षण करना चाहिये। (जिनवाणी, फरवरी, ८४)।

धर्म का स्वरूप—आचार्य श्री ने धर्म को मांगलिक एवं उत्कृष्ट माना है—"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं" और यह धर्म है अहिंसा, संयम और तप। किसी भी प्राणी को किसी भी तरह न सताना ही अहिंसा है—'सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा' (आचारांग)। इस अहिंसा का पालन संयम से ही हो सकता है। रेशम, कुसुम, चमड़ा आदि हिंसा जन्य हैं अतः इनका उपयोग नहीं करना चाहिए। (जिन., सितम्बर, ८१)। धर्म के स्वरूप का वर्णन करने के पूर्व आचार्य श्री ने विनय पर चिंतन किया और उसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आधारभूत तत्त्व बताया। ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टि में विनय धर्म का एक अपरिहार्य अंग है। यह ठीक भी है। पंच परमेष्ठियों को हमारा नमन हमारी विनय का प्रतीक है। उनकी दृष्टि में धर्म की दूसरी विशेषता है समदृष्टित्व, जिसके अन्तर्गत उन्होंने निश्छल हृदय से अपनी भूल की स्वीकृति, मर्यादा, मधुकरी वृत्ति द्वारा यथोचित आदान-प्रदान को रखा है (जिन. जुलाई, ८३)। आचार्य श्री मर्यादा पर अधिक ध्यान देते थे। इसलिए धर्म पर विचार करते समय उन्होंने मर्यादा को अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि शक्ति के अनुसार हमारी क्रिया हो, पर आचरण प्रामाणिक हो (जिन., अप्रेल, ८२)। यह धर्म इहभव और परभव में कल्याणकारी होता है। वह पैसे से नहीं खरीदा जा सकता। क्रोध से निवृत्ति पैसे से नहीं हो सकती। धर्म कभी किसी को दुःख नहीं देता। दुःख का अन्त धर्म से होता है, मृत्यु से नहीं। धर्म नहीं तो कुछ नहीं (जिन. जुलाई, ८५)।

धार्मिकों की तीन श्रेणियाँ हैं—सम्यक्दृष्टि, देशव्रती और सर्वव्रती। इनमें सबसे मुख्य बात है अचरण में कदम रखना। सदाचरण को आचरण में लाने के दो रास्ते हैं—बुराई के अपथ्य को छोड़ देना और पथ्य को ग्रहण करना। आत्म-शान्ति के लिए धर्माचरण आवश्यक है। धर्माचरण के लिए कामनाओं का शांत होना आवश्यक है। दृढ़ता के बिना तपस्या हो ही नहीं सकती। उसमें न मत्सर होता है और न मन का कच्चापन। सेवा ही वस्तुतः सही तप है। सेवा ही धर्म है। धर्म वह है जो आत्मा को पतन से रोके। कुसंगति पतन का कारण है (जिनवाणी, जनवरी, ८२)।

मन के नियमन की बात करते हुए आचार्य श्री ने धर्म-साधना की बात कही है और उसे लोक-साधना से जोड़ दिया है। लोक-साधना भौतिकवादी प्रवृत्ति है पर उसका नियमन धर्म से होना चाहिए। आंतरिक परिष्कार के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। श्रेणिक की साधना को लोक साधना

कहा जा सकता है जिसमें धर्म और अर्थ के बीच सामंजस्य था। आज भी उसकी आवश्यकता है। सद्गुण हममें उसी तरह विद्यमान है जिस तरह लकड़ी में अग्नि। गृहिणी सुयोग्य हो और सदाचरण पूर्वक सन्तति निरोध का ध्यान रखे, यह आज की आवश्यकता है (जिन० अक्टूबर, ९०)। इसलिए धर्म शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है, सत्पुरुषार्थ ही प्रगति का संबल है, तन से पहले मन का चिंतन आवश्यक है, अपने अर्थार्जन के अनुसार व्यय करने की प्रवृत्ति हो, धन का प्रदर्शन न हो, मधुकरी वृत्ति हो, सामुदायिक चेतना के आधार पर मुनाफाखोरी संयमित हो, तप विवेकपूर्वक हो, स्वार्थ प्रेरित न हो (जिनवाणी, फरवरी, ८३)।

कर्मादान (कर्माश्रव के कारण)—जैन धर्म कर्म को पौद्गलिक मानता है इसलिए उसकी निर्जरा को संभवनीय बताता है। आचार्य श्री ने कर्मों के स्वरूप को सुन्दर ढंग से विश्लेषित किया, जिसका प्रकाशन 'कर्मादान' के नाम से 'जिनवाणी' के अनेक अंकों में लगातार होता रहा है। कर्मादान से तात्पर्य है जिस कार्य या व्यापार से घनघोर कर्मों का बंध हो, जो कार्य महारम्भ रूप हो ऐसे कर्मों की संख्या आगम में १५ बतायी गयी है जिनमें दस कर्म से सम्बद्ध हैं और ५ व्यापार से। भोगोपभोग परिमाण व्रत में इन्हीं कर्मों के सम्बन्ध में मर्यादा की जाती है। इस सन्दर्भ में उन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा की ओर अपना रुझान वताते हुए उसे स्वास्थ्यप्रद, उपयोगी और अहिंसक चिकित्सा प्रणाली के रूप में देखा है (जिनवाणी, नवम्बर, ८७)।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—मृदु कर्म और खर कर्म। जिस कर्म में हिंसा न वढ़ जाये, यह विचार रहता है वह मृदु कर्म है और जो आत्मा के लिए और अन्य जीवों के लिए कठोर वने, वह खर कर्म है। मृदु कर्म सद्गति की ओर ले जाता है और खर कर्म दुर्गति की ओर। कर्मादान का संदर्भ खर कर्म से अधिक है। यह कर्मादान १५ प्रकार का है—१. अंगार कर्म, २. वन कर्म, ३. साड़ी कम्म (शकट कर्म—गाड़ी चलाना), ४. भाड़ी कम्म (जानवरों द्वारा भाड़ा कमाना), ४. फोड़ी कम्म (भूमि को खोदना), ६. दंत वाणिज्य (दांतों का व्यापार करना), ७. लक्ख वाणिज्य (लाक्षा का व्यापार करना), ८. विप वाणिज्य, ९. केश वाणिज्य, १०. जंत पीलण कम्म (यन्त्र पीड़न कर्म), ११. निल्लंछण कम्म (पशुओं को नाथने का कार्य करना), १२. दवग्गि दावणिया (खेत या चरागाह में आग लगा देना) १३. सरदह तलाय सोसणया कम्म (तालाव को सुखाने का काम करना) और १४. असईजन पोसणया कम्म (व्यभिचार जैसे घृणित कर्म) जिसका अर्थ कुछ लोगों ने किया कि साधुओं के अतिरिक्त किसी भूखे को रोटी देना पाप है। आचार्य श्री ने इस अर्थ की आलोचना की है (जिन. नवम्बर ८७, अक्टूबर ८८)।

स्वाध्याय - कर्मज्ञान की चर्चा करते हुए आचार्य श्री ने कहा कि मनुष्य जन्म पाकर भी यदि अभी कुछ नहीं किया तो कब करोगे ? (जिन. दिसम्बर, ८६)। मनुष्य अपने जीवन में चाहे जैसा काम करे, किन्तु यदि वह अपना अन्त समय सम्भाल लेता है तो सब कुछ सम्भल जाता है। चिलाती पुत्र की कथा का उदाहरण देकर उन्होंने अपने कथ्य को स्पष्ट किया। इसके लिए आचार्य श्री ने विशेष रूप से दो उपाय बताये—प्रथम प्रवृत्ति विवेकपूर्ण हो और द्वितीय स्वाध्याय—प्रवृत्ति हो। 'जयं चरे जयं चिट्ठे' का उद्घोष करके उन्होंने निष्काम सेवा पर अधिक बल दिया और ज्ञान-क्रिया पूर्वक साधना को सुख-शान्ति और आनन्द-प्राप्ति का उपाय बताया।

पर्युषण के षष्ठ दिवस को 'स्वाध्याय दिवस' मनाये जाने की संकल्पना के साथ आचार्य श्री ने 'अन्तगड सूत्र' का उदाहरण देकर सर्वप्रथम तो यह कहा कि जैन धर्म वर्ण, जाति आदि जैसी सीमाओं को बिल्कुल नहीं मानता। जो भी जिन-प्रभु को भजे, वही जैन है। तप, भक्ति, आचरण सभी साधनाओं का मूल आधार स्थल उन्होंने स्वाध्याय को माना। चूँकि वे आगम-परम्परा पर अधिक बल देते थे, इसलिए स्वाध्याय की परिभाषा "सुयधम्मो सज्झायो" (स्थानांग सूत्र) के रूप में स्वीकार की। यह स्वाध्याय धर्म का एक प्रकार है जिसमें स्वयं का अध्ययन और आत्म-निरीक्षण करना (स्वस्य अध्ययन स्वाध्याय) तथा साथ ही सद्ग्रन्थों का समीचीन रूप से पठन-पाठन करना। समीचीन का तात्पर्य है जिस ग्रंथ को पढ़ने से तप, क्षमा और अहिंसा की ज्योति जगे। 'दशवैकालिक' में ऐसे स्वाध्याय को समाधि की संज्ञा दी गई है। इसके चार लाभ हैं—सूत्र का ज्ञान, चित्त की एकाग्रता, धर्मध्यान तथा संत-समागम का लाभ (जिन. फरवरी, ८१) जिससे ग्रंथि भेद करने में सहायता मिलती है। इसे आचार्य श्री ने दैनिक क्रिया का अंग तथा समाज धर्म बनाने की प्रेरणा दी। इससे व्यक्ति या साधक का सर्वतोमुखी विकास हो सकेगा।

'स्वाध्याय' स्व-पर बोधक की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। केवलज्ञान के बाद श्रुतज्ञान का क्रम आता है जो स्वाध्याय का आलम्बन है, चारित्र का मार्ग-दर्शक है और षडावश्यकों को पालने के लिए सोपान है (जिन. जून, ८२)। इसे आचार्य श्री ने जीवन-निर्माण की कला के रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें विषमतायें विराम ले लेती हैं, आहार शुद्धि को आधार मिलता है, भ्रातृत्व भावना पनपती है, अनुशासन बढ़ता है। इसलिए उन्होंने इसका प्रशिक्षण देने की पेशकश की जिससे सामायिक, प्रतिक्रमण और शास्त्रीय स्वाध्याय की परम्परा को विकसित किया जा सके। 'स्थानांग सूत्र' के आधार पर उन्होंने पुनः स्वाध्याय के पाँच लाभ बताये—ज्ञान-संग्रह, परोपकार, कर्मनिर्जरा, शास्त्रीय ज्ञान की निर्मलता और शास्त्र-संरक्षण (जिनवाणी, अगस्त, ८७)। 'ठाणांग'

में लाभ के रूप में पाँच कारण दिये हैं—ज्ञान-वृद्धि, दर्शन-विशुद्धि, चारित्र-विशुद्धि, कषाय-विशुद्धि तथा पदार्थ ज्ञान (जिन. सितम्बर, ८७)। 'भगवती सूत्र' (२५.७) और 'औपपातिक' में स्वाध्याय के ५ भेद बताये हैं—वाचना, प्रतिपृच्छा, अनुप्रेक्षा, परिवर्तना और धर्मकथा।

आचार्य जी के सान्निध्य में स्वाध्याय शिक्षण का मनोहारी कार्यक्रम चलता रहा है। इस शिक्षण में विचार-गोष्ठी, प्रश्नोत्तर, कविता पाठ, स्तुति पाठ, विचार-विनिमय, स्वाध्याय, ध्यान, चिंतन, मनन आदि कार्यक्रम रखे जाते थे। इससे अध्येताओं और स्वाध्याय-प्रेमियों के लिए उसमें अभिरुचि जाग्रत हो जाती थी। इस सन्दर्भ में रायचूर में हिन्दी और जैन संस्कृति के विशेषज्ञ तथा कर्मठ कार्यकर्ता डॉ० नरेन्द्र भानावत के कुशल संयोजन में एक त्रिदिवसीय 'स्वाध्याय संगोष्ठी' का आयोजन भी किया गया था जिसमें स्वाध्याय के विविध आयामों पर विचार-विमर्श हुआ (जिन., नवम्बर, ८१)।

अशांति का मूल क्रोध-लोभादि विकारी भाव हैं। विशाखभूति और विश्वभूति का उदाहरण हमारे सामने है। इनसे मुक्त होने के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त जैसे साधन स्वाध्याय के साथ बहुत उपयोगी होते हैं और फिर सामायिक तो विशेष रूप से कषाय-भावों पर नियन्त्रण प्रस्थापित करने का अमोघ साधन है। 'भावी-विलोड़े का पट्टा आसानी से नहीं मिलता' वाली कहावत उसके साथ जुड़ी हुई है। बिना पुरुषार्थ के वह सम्भव नहीं होता (जिनवाणी, जनवरी, ८३)। आत्म स्नान ही प्रतिक्रमण है।

ज्ञान और सदाचरण—आत्म चिंतन और स्वाध्याय से मुमुक्षु भाव जाग्रत होता है, सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है, पुरुषार्थ में प्रवृत्ति होती है, वृद्धमति के समान जड़मति भी अग्रगण्य बन जाता है। इसलिए आचार्य श्री ने कहा कि हमें शस्त्रधारी नहीं, शास्त्रधारी सैनिक बनना चाहिए जिससे स्व-पर का भेद-विज्ञान हो जाये और आत्म-नियन्त्रण पूर्वक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें। तभी परिज्ञा की उपलब्धि हो सकती है, संयम की सही साधना हो सकती है (जिन., अगस्त, ८२)। सम्यग्ज्ञान मुक्ति का सोपान है (बुज्झिज्ज त्ति उट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया, सूय. प्रथम गाथा)। उसके साथ सम्यक्क्रिया शाश्वत सुख देने वाली होती है। ज्ञान शून्य चरित्र भव-भ्रमण का कारण है, असंयम का जनक है। भवभ्रमण को दूर करने के लिए शारीरिक शक्ति की नहीं, आत्मशक्ति और शील की आवश्यकता होती है (जिन., अक्टूबर, ८३)। आत्मिक शक्ति बिना आहार-शुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती (आहार मिच्छे मियमेसणिज्जे, उत्तरा. ३२.४)। आहार शुद्धि ही जीवन शुद्धि है। उससे ज्ञान और क्रिया की ज्योति जगती है। [illegible] के सही आभूषण हैं, (जिन., मार्च, ८६), मोक्षमार्ग के दो चरण (गजेन्द्र, भाग ६, पृ. १०)।

आत्मशुद्धि के उपाय—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के परिपालन से आत्मा पवित्रता की ओर बढ़ती है। ऐसी पवित्रता की ओर बढ़ने के लिए पर्युषण जैसे आध्यात्मिक पर्व अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। आचार्य श्री इस पर्व पर यथासमय प्रवचन करते रहे हैं और तप-त्यागादि के स्वरूप पर चिंतन करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में तपश्चरण का सार है—कषाय-विजय और कषाय-विजय मानवता की निशानी है (जिन., अगस्त, ८०)। अहिंसा और क्षमा सभी समस्याओं के समाधान के लिए अमोघ अस्त्र हैं। खमत-खामणा पर्व भी व्यक्तिगत विद्वेष की शांति के लिए मनाया जाता है (जिन., अगस्त, ८६)।

पर्युषण पर्व में तपोसाधना की जाती है। यह तप हिंसा नहीं, दया है, व्रतों की आराधना करने का उत्तम साधन है। तप ज्वाला भी है और दिव्य ज्योति भी। वह आत्मा के शत्रुओं-काम-क्रोधादि वृत्तियों को तपाता है। शरीर के प्रति ममत्व न रखने और अनासक्ति भाव होने से यह तप कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है (जिन., अक्टूबर, ८०)। अकेला ज्ञान कार्यकारी नहीं होता, उसके साथ दर्शन और चारित्र भी होना चाहिए। यह तपस्या प्रदर्शन का मुद्दा न बने बल्कि आत्म-विशुद्धि और मोक्ष का साधक बनना चाहिए।

दान आत्म-पवित्रता के साथ दिया जाना चाहिए। ऐसा दान स्व-पर कल्याणक होता है इसलिए वह गृहस्थ-धर्म का प्रमुख अंग है जिसे आचार्य श्री ने द्रमक का उदाहरण देकर समझाया है। दान से ही वस्तुतः परिग्रह-त्याग की भावना की सार्थकता है। त्याग निरपेक्ष होता है पर दान में प्रतिलाभ की भावना सन्निहित होती है (जिन., मई, ८१)। त्याग ममत्वहीनता से पलता है, ममता-विसर्जन से पुष्पित होता है। इसके लिए वे ज्ञान-सरोवर में डुबकी लगाने के पक्ष में रहे हैं जिसे उन्होंने 'स्वाध्याय' की संज्ञा दी थी। प्रार्थना और भाव-भक्ति को आत्म-शोधन का मार्ग बताकर वे आत्म-शुद्धि को और भी पुष्ट करने के पक्षधर थे (जिन., सितम्बर, ७४, दि. ८०)।

भाषा-शैली—आचार्य श्री की भाषा संस्कृतनिष्ठ न होकर जन-साधारण के समझने लायक थी। उनकी भाषा में उर्दू शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, पर अधिक नहीं। व्यास शैली में दिये गये उनके प्रवचनों में बड़ी प्रभावकता दिखाई देती है। आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, ठाणांग आदि आगमों से उद्धरण देकर अपनी बात को कहने में वे सिद्धहस्त रहे हैं। भृगु पुरोहित, आनंद, अनाथीमुनि, भर्तृहरि, हरिकेशी, श्रेणिक, राजा वेणु, सुदर्शन आदि की कथाओं का उद्धरण देकर प्रवचन को सरस और सरल बना देते थे। 'ठकुर सुहाती', 'भाई का माना भाई', 'पठितव्यं तो भी मर्तव्यं, न हि पठितव्यं तो भी मर्तव्यं, तर्हि वृथा दंद खटाखट किं कर्तव्यं' (जिन., अगस्त, ८७), 'भावी बिलाड़े का पट्टा

आसानी से नहीं मिलता' 'अछूते का त्यागी' आदि कहावतों का प्रयोग कर उसे और भी सरल और आकर्षक बना देते थे।

आचार्य श्री एक दूरदर्शी संत थे। वे परम्परा के पोषक थे पर सुधारवादी भी कम नहीं थे। सामंजस्य और समन्वय के आधार पर वे समाज को विघटन और टूटन से बचाते रहे हैं। आचार्य श्री की दृष्टि में सत्य, शांति और लोक-कल्याण के लिए परम्परा और सुधारवादी प्रयोग दोनों का उचित समन्वय होना आवश्यक है। उनकी समन्वयवादिता तब भी दिखाई दी जब उन्होंने स्थानकवासी समाज के विभिन्न सम्प्रदायों को यथावत रखते हुए एक संयुक्त संघ बनाने की पेशकश की जो पृथक् नेतृत्व की स्थिति में भी परस्पर मधुर सम्बन्धों को कायम रख सके (जिन., मार्च-मई, ७१)।

इस प्रकार आचार्य श्री के प्रवचन साहित्य का मूल्यांकन करते समय हमें ऐसा अनुभव हुआ कि एक आध्यात्मिक सन्त अपने पवित्र हृदय से संसारी प्राणियों को भौतिकतावादी वृत्ति से विमुख कर उनके व्यक्तित्व का विकास करने के लिए कमर कसे हुए थे। उनकी प्रवचन-शैली में आगमन पद्धति का प्रयोग अधिक दिखाई देता है जहाँ वे केन्द्रीय तत्त्व को सूत्र रूप में रखते थे और फिर उसकी व्याख्या करते चले जाते थे। वे अपने प्रवचनों में राजस्थानी शैली के 'फरमाया' जैसे शब्दों का प्रयोग भी करते थे। वक्ता और श्रोता के बीच इतनी आत्मीयता स्थापित कर देते थे कि श्रोता मंत्रमुग्ध-सा होकर उनके वचनामृतों का पान करता था। यही कारण है कि उनके श्रावकों की संख्या अनगिन-सी हो गयी। श्रावकों के मन में उनके प्रति जो अपार भक्ति है, वह आचार्य श्री की लोकप्रियता का उदाहरण है।

—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एस. एफ. एस. कॉलेज, नागपुर (महाराष्ट्र)

अमृत-कण

मन की ममता जमीन से, जायदाद से, पैसे से छूटे तभी दान दिया जा सकता है, गरीबों की, जरूरतमन्दों की स्वधर्मियों की सेवा की जा सकती है। अगर परिग्रह पर से मन की ममता नहीं छूटती तो दान, सेवा आदि कोई शुभ कार्य नहीं हो सकता।

—आचार्य श्री हस्ती

आचार्य श्री की दार्शनिक मान्यताएँ

☐ डॉ० सुषमा सिंघवी

श्रमण संस्कृति के अमर गायक आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज के जीवन जीने की कला ही उनकी दार्शनिक मान्यताओं का प्रतिविम्ब थी। इतिहास के मर्मज्ञ आचार्य श्री ने इतिवृत्तों के मर्मस्पर्शी दर्शन को जन-जन तक पहुँचा कर चैतन्य उजागर करने का अदभुत् शंखनाद फूंका। सूक्ष्म-व्यवहित और विप्रकृष्ट का साक्षात्कार कराने हेतु अपनी व्यापक समग्र दृष्टि, निरावृत्त आग्रह शून्य दृष्टि और संयममयी करुणा के सान्निध्य की दृष्टि के निमित्त से आपने जो दर्शन की धारा प्रवाहित की उसमें मज्जन कर जन-जन आह्लादित हुआ; स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण हुआ, आवरण को काटकर स्वाधीन आत्म-दर्शन करने की चेतना जागी और परोक्ष को प्रत्यक्ष करने का पुरुषार्थ जागा।

आचार्य श्री ने बृहस्पति, अक्षपाद, गौतम, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनी और बादरायण महर्षियों की तरह किसी चार्वाक, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त) दर्शन का प्रणयन नहीं किया तथापि श्रमण-परम्परा के वाहक भगवान् बुद्ध और महावीर द्वारा प्ररूपित श्रमण-संस्कृति के मूल दर्शन को जिस प्रकार परवर्ती आचार्यों ने सींच कर जीवित रखा, उसी क्रम में आचार्य श्री ने ज्ञान की कुदाल से आवरण हटाकर श्रद्धा के जल से सिंचन कर चारित्र की निगरानी में जैन दर्शन के पादप को सुशोभित किया। गुरुदेव के शब्दों में—साधनाबीज सभी तीर्थंकरों में समान होता है। उनका जीवन अलग-अलग होता है परन्तु अलग-अलग प्रकार का नहीं होता।

आचार्य श्री की समस्त दार्शनिक मान्यताएँ जैन दर्शन की दार्शनिक मान्यताएँ हैं। दर्शन कैसे जीवन बन गया, इसका अद्वितीय उदाहरण आचार्य श्री स्वयं हैं। जो दर्शन पुस्तकों में सिमट कर पुस्तकालय की शोभा बढ़ावे वह कैसा दर्शन? जो दर्शन अपनी मान्यताओं के आग्रह में वाद-विवाद

को जन्म दे, वह कैसा दर्शन ? जो दर्शन ज्ञाता के अहंकार को जगाकर अधोगति का कारण बने, वह कैसा दर्शन ? जो दर्शन हिंसा और छल को अवकाश दे, वह कैसा दर्शन ? आचार्य श्री ने उस दर्शन की प्ररूपणा की जो स्वयं के दर्शन करा दे 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम् ।' जीवन इतना निर्मल हो कि जीवन नियन्ता आत्म तत्त्व का दर्शन सहज सुलभ हो जाय, यही तो दार्शनिक जीवन जीने की कला है और इसमें सिद्धहस्त थे हमारे आचार्य प्रवर । इसीलिये आचार्य प्रवर की दार्शनिक मान्यताएँ मिथ्या ज्ञान के आडम्बर बोझ से भारी नहीं हैं, काव्य-कला के परिधानों से सजी नहीं हैं, लवणाम्बुज की अपार निधिवत् केवल सञ्चय-साधन नहीं हैं अपितु निर्मल जिनवाणी की वह सरिता है जिसका अजस्र पान कर मानव-मात्र की जन्म-जन्म की प्यास बुझी है, तापत्रय से शान्ति मिली है, स्वतंत्रता की श्वास सधी है ।

जैन दर्शन के गूढ़ मंतव्यों को व्यवहार और क्रिया की मथनी-डोरी से मथकर जो स्निग्ध नवनीत गुरुदेव ने प्रस्तुत किया, वही **आचार्य श्री की दार्शनिक मान्यताएँ** हैं ।

नव शीर्षकों के अन्तर्गत आचार्य श्री की दार्शनिक मान्यताओं का आकलन करने का प्रयास करूँगी—

(१) विज्ञान अधूरा, जिनवाणी पूर्ण है । (गजेन्द्र व्याख्यान माला भाग ६, पृ० ३४९) ।

(२) प्रार्थना आत्म-शुद्धि की पद्धति है । (प्रार्थना प्रवचन, पृ० २) ।

(३) ज्ञान का प्रकाश अभय बना देता है ।

(४) जो क्रियावान् है वही विद्वान् है । स्वाध्याय से विचार-शुद्धि और सामायिक से आचार-शुद्धि साधना-रथ के दो पहिये हैं ।

(५) आत्मशुद्धि हेतु प्रतिक्रमण नित्य आवश्यक अन्यथा संथारा कल्पना मात्र ।

(६) परिग्रह उपकरण बने, अधिकरण नहीं ।

(७) अप्रमत्त रह कर ही धर्माचरण सम्भव ।

(८) वीतरागता प्राप्त करने के लिये जीवन में पैठी हुई कुटेवों को बदलना आवश्यक । साथ ही अंधविश्वासों से ऊपर उठना भी आवश्यक है । (प्रार्थना प्रवचन, पृ० ७३) ।

(९) धर्म मार्ग की सीख पण्डित को देने से अनुयायी स्वतः परिवर्तित होते हैं। (ग० व्या० भा० ६/२७८)।

नवपद आराधन के पुनीत पर्व के उपलक्ष में, अन्याय पर न्याय की विजय के विजयादशमी पर्व के उपलक्ष में, भक्ति और शक्ति के संयोग की घड़ी में आचार्य श्री की दार्शनिक मान्यताओं की नवविध किरणें हमारे अनन्तकालीन मोहांधकार को विनष्ट कर आत्म-प्रकाश उजागर करें, इसी श्रद्धांजलि के साथ पूज्य आचार्य प्रवर के चरण कमलों में कोटिशः वन्दन।

१. **विज्ञान अधूरा, जिनवाणी पूर्ण है**—वैज्ञानिक की शोध नियंत्रित परिस्थिति में परिस्थितियों को नियंत्रित करने के लिये की जाती है। उनका परीक्षण अनुमान तथा बाह्य उपकरणों पर आधारित होता है। विज्ञान के निष्कर्ष सार्वभौमिक और सार्वकालिक नहीं होते। वैज्ञानिक 'पर' के माध्यम से 'पर' की खोज करता है और 'पर' के सुख की व्यवस्था कर अपनी इति स्वीकारता है, उसे आत्मिक-ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। वैज्ञानिक शोध के माध्यम से भौतिक सत्य और तथ्य को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है किन्तु उसकी शोध का परिणाम उपभोक्ता के राग और द्वेष का जामा धारण कर भौतिक उपयोग की वस्तु या भौतिक विनाश का साधन बन जाता है। इसीलिये विज्ञान अधूरा है। वीतराग पदार्थों के सत्य और तथ्य को प्रस्तुत करते हैं किन्तु राग और द्वेष को जीत लेने वाले वीतराग की वाणी में भौतिकता से शून्य आत्म-लाभ के अतिरिक्त सर्वस्व अनुपादेय है। वीतराग ने अपने अनुभव की प्रयोगशाला में शोधित निष्कर्षों को स्याद्वाद के तर्क पुरस्सर वाणी से प्रस्तुत किया। सापेक्ष सत्य और सापेक्ष तथ्य ही वीतरागियों की वाणी की पूर्णता है।

विज्ञान ने एक ओर सर्दी, गर्मी आदि के प्रकोप से होने वाले प्रतिकूल वेदनीय दुःख से निजात दिलाई, दूरी कम करदी, आवागमन आदि के साधन सुलभ करा दिये, औद्योगीकरण, शहरीकरण, भौतिक साम्राज्यीकरण ने जो वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण आदि समस्याएँ दीं, वे मानवमात्र ही नहीं प्राणीमात्र के जीवन को खतरे में डाले हुए हैं। परिस्थिति नियंत्रण का यह प्रतिफल हम भोग रहे हैं।

जिनवाणी ने मनःस्थिति नियंत्रण का शंखनाद फूंका जिससे लोभ और मोह पर विजय कर स्वयं वीतराग पद पाया जा सकता है।

२. **प्रार्थना आत्म-शुद्धि की पद्धति है**—आत्मोपलब्धि की तीव्र अभिलाषा वाले मुमुक्षु, वीतराग को प्रार्थ्य मानकर 'अरिहन्तो मह देवो' के माध्यम से

निर्मोह दशा में प्रार्थी अत्यन्त भाव-विभोर हो तादात्म्यता का अनुभव करने लगे, ऐसी प्रार्थना आत्म-शुद्धि की पद्धति है । आंतरिक गुणों को दृष्टि में रखकर प्रार्थनीय (प्रार्थ्य) अरिहन्त, सिद्ध या साधना पथ पर अग्रसर हुए निर्ग्रन्थ महात्मा कोई भी हो सकता है । वह आध्यात्मिक वैभव, जो परमात्मवाद को प्राप्त करता है उसे विकसित करने का साधन प्रार्थना है । वीतराग की प्रार्थना से आत्मा को एक सम्बल मिलता है, शक्ति प्राप्त होती है ।

एक प्रश्न उपस्थित होता है कि स्तुति-प्रार्थना की परम्परा वैदिक परम्परा का अनुकरण है; जैन दर्शन के अनुसार वीतरागी पुरस्कर्ता या दण्डदाता नहीं है फिर प्रार्थना का क्या प्रयोजन ?; याचना कभी श्रेष्ठ नहीं होती आदि-आदि । आचार्य श्री ने एक-एक प्रश्न उठा कर उनका समाधान प्रस्तुत किया और ग्रन्थिभेद करते हुए निर्ग्रन्थ हो जाने की कला को अनावृत्त कर दिया ।

गणधर रचित साहित्य में, 'सूत्रकृतांग' आदि आगम में, 'विशेषावश्यक भाष्य' में स्तुति-प्रार्थना के बीज विद्यमान हैं । **'सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु, तित्थयरा मे पसीयंतु'** प्रार्थना ही है ।

तीर्थंकरों की जिनवाणी की आज्ञा का मैं पालन करूं यही तो व्यवहार से तीर्थंकरों का प्रसन्न होना है । जिसकी आज्ञा मानी जाती है वह प्रसन्न होता ही है ।

कर्तृत्व दो प्रकार का होता है—(१) साक्षात्कर्तृत्व, जिसमें कर्ता के मन-वचन-काया का सीधा प्रयोग हो और (२) कर्ता के योगों का सीधा व्यापार नहीं होता किन्तु उसकी दृष्टि या कृपा से कार्य हो जाता है । (प्रार्थना प्रवचन, पृ० ४४) सूर्य या वायु के साक्षात्कर्ता होने की आवश्यकता नहीं है तथापि उनका सेवन नीरोगता प्रदान करता है और सेवन न करने वाले उस लाभ से वंचित रहते हैं ।

याचना वह हेय है जो राग-द्वेष से आवेपित हों । जहां व्यवहार भाषा से याचना हो और प्रार्थी तथा प्रार्थ्य के भेद का अवकाश ही निश्चय नय की दृष्टि से न हो, ऐसी प्रार्थना स्वयं की ही प्रार्थना होती है, याचना नहीं ।

प्रार्थना का जितना स्पष्ट और हृदयहारी निरूपण गुरुदेव ने प्रस्तुत किया, वह आचार्य श्री के संगीत साधक तथा भक्त हृदय, अनन्य करुणामूर्ति होने का निदर्शन प्रस्तुत करता है ।

३. ज्ञान का प्रकाश अभय बना देता है—अपने स्वाधीन स्वरूप को जानना आवश्यक है । आचार्य श्री भेड़ों के बच्चों के बीच पलने वाले सिंह-शावक का दृष्टांत देकर यह स्पष्ट करते थे कि बोध करो । 'सूत्रकृतांग' की प्रथम गाथा का उद्धरण आचार्य श्री की इस दार्शनिक मान्यता का मूल था कि ज्ञान बिना नहीं भान ।

बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो ? किं वा जाणं तिउट्टइ ॥

(ग० व्या० मा० ३/७)

बंधन को जानो, बंधन को काटो । स्व-पर विवेक-ज्ञान का अभाव होने से ही मानव भोगोपभोग सामग्री के विछोह-भय से भयभीत रहता है । आचार्य श्री ने समझाया कि जिस सामग्री में स्वभाव से ही सुख विद्यमान नहीं है वह प्राप्त हो अथवा छूट जाय, साधक इससे प्रभावित नहीं होता, भय का तो अवकाश ही नहीं । 'मेरे अन्तर भया प्रकाश, मुझे अब नहीं की आश ।' ज्ञान का प्रकाश मोह का नाश करता है । मोह शब्द के मूल में 'मुह' धातु है । 'मुह' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगकर शब्द बनता है 'मूढ़' । 'मूढ़' का अर्थ है मिथ्यात्वी, अज्ञानी, मूर्ख, अविवेकी । जीव को अजीव जानना किसी और अजीव को जीव जानना मिथ्या-ज्ञान है । क्या हम इसी मिथ्या-ज्ञान में जीकर तो मोह नहीं बढ़ा रहे हैं ? मुझे शरीर से मोह है, पुत्र-परिवार, मित्र-सम्पत्ति-सत्ता से मोह है, इसका तात्पर्य है कि शरीरादि समस्त परपदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं इन सबसे भिन्न हूँ यह बोध-ज्ञान मुझे नहीं है । यह मोह तभी छूटेगा जब यह ज्ञान दृढ़ हो जावे कि—'जो मेरो है सो जावे नहीं, जो जावे है सो मेरो नहीं ।' वस्तु के स्वभाव को जान लेना ही ज्ञान है और इसी से अभय प्राप्त होता है । जो क्षणिक है वह तो छूटता ही है, इसमें भय कैसा ? यही अभय अहिंसा का जनक है । इसी से मोह-विजय संभव है ।

४. **जो क्रियावान् है वही विद्वान् है**—आचार्य श्री का समस्त चिंतन आत्मपरक था । उनकी दार्शनिक मान्यता थी कि शुष्क तर्क के बल पर बुद्धि के प्रयोगों से सभा को विस्मित कर देने वाला विद्वान् नहीं है, शास्त्रों का वक्ता, श्रोता या पाठक विद्वान् नहीं है, शास्त्रों का संचय कर पुस्तकालय निर्माण करने वाला विद्वान् नहीं है, अनेकानेक डिग्रियों से स्वयं को मण्डित करने वाला विद्वान् नहीं है, शोध के क्षेत्र में वर्षों प्रयोगशालाओं में जीवन खपा देने वाला भी विद्वान् नहीं है, यदि इनके जीवन में स्वयं की पहचान

कराने वाले चारित्र का पालन नहीं हो, यदि ज्ञान के साथ क्रिया का संयोग नहीं हो, यदि विद्वान् क्रियावान् न हो।

ज्ञान और क्रिया में अन्तर है। क्रिया के बिना प्रयोजन लाभ नहीं होता। बंधन-मुक्ति, स्वरूप-प्राप्ति सर्वप्रिय होने पर भी उसके ज्ञान मात्र से प्राप्ति नहीं होती। बिना पुरुषार्थ किये स्वतंत्रा प्राप्ति नहीं, आत्मानंद प्राप्ति नहीं, मुक्ति लाभ नहीं, बंधन-मुक्ति नहीं। चारित्र के बिना ज्ञान और दर्शन का रथ मंजिल तय नहीं कर सकता।

यह पुरुषार्थ तप और संयम पूर्वक होना चाहिये। व्रत और तप तभी कीमती हैं जब उनके पीछे संयम हो, चारित्र-पालन हो।

(ग० व्या० मा० ६/१२)

आज आधुनिक युग त्वरा का युग है। गति की गति इतनी तेज हो गई है कि आधुनिकता का पर्यायवाची ही बन गया है—त्वरा। मन-वचन और काया के व्यापार त्वरित उपकरणों की सहायता से इतने अग्रगामी हो गये हैं कि विश्व ने भौतिक क्षेत्र में तीव्र गति को पकड़ लिया है। इस त्वरा के युग में यदि आत्मा के आवरण को काटने हेतु उतनी ही तीव्रता से तप का ताप और संयम की अनिल नहीं बहेगी तो संतुलन असम्भव है। हमें गुरुदेव का सन्देश समझना होगा। विद्वत्ता में क्रिया का संयोग करना होगा।

इस अन्तरिक्ष रण के युग में, अन्तर को समता से भर लें।
त्वरित काल के विषम भाव को, तप संयम से पूत करें॥

विभाव में गति की इतनी तेजी और स्वभाव में एक कदम भी आगे नहीं बढ़े तो सन्तुलन असम्भव होगा। ज्ञान को आचरण में ढालना ही विद्वत्ता की कसौटी है।

आचार्य श्री ने अपने साधनामय सम्पूर्ण जीवन के अनुभवों से हमारे समक्ष सामायिक और स्वाध्याय को जीवन उन्नत करने की कुञ्जी के रूप में प्रस्तुत किया—"जीवन उन्नत करना चाहा तो सामायिक साधन करलो।" "स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो।" यही वह क्रिया है जिसकी आचार्य श्री को विद्वानों से अपेक्षा है। स्वाध्याय से विचार-शुद्धि और सामायिक से आचार-शुद्धि होती है। साधना-रथ को साध्य तक पहुँचाने हेतु सामायिक और स्वाध्याय ये दो सबल पहिये हैं। साक्षरता और भौतिकता के अत्यधिक विकास के समय सामायिक और स्वाध्याय अधिक आवश्यक है।

५. आत्म-शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण—आचार्य श्री ने नित्य प्रतिक्रमण करने पर बहुत बल दिया। मरण की साधना ही जीवन का प्रयोजन होना चाहिये। गुरुदेव का दृढ़ संकल्प था कि मृत्यु महोत्सव बन जाय, राग-द्वेष की ग्रन्थि खुल जाय, समत्व की शय्या प्राप्त हो और निस्पृह भाव से प्रयाण हो इसके लिये सम्पूर्ण जीवन में संयम का अभ्यास अपेक्षित है। जीवन-पर्यन्त साधना का विलक्षण साधन है प्रतिक्रमण के माध्यम से आलोचना। आलोचना और प्रतिक्रमण आत्मा का स्नान है। बहुत से लोग कहा करते हैं कि गलती करते जाते हैं फिर प्रतिक्रमण क्यों करना? झूठ, हिंसा आदि छोड़ा नहीं, केवल 'मिच्छामिदुक्कड़' कर गये। कल फिर ऐसा ही करना है तो प्रतिक्रमण का क्या लाभ? मैं उन भाइयों से कहता हूँ कि नहाने के बाद मैल आना निश्चित है फिर रोज क्यों नहाते हैं? कमरे में झाड़ू रोज लगता है, क्यों? इसीलिए कि अधिक जमाव न हो।

क्या यह सोच लें कि मरने के समय जब संथारा करेंगे तब सब साफ कर लेंगे? ऐसा सोचकर ५०-६० वर्ष तक गलतियों को यूं ही दबाये रखेंगे तो वे गलतियाँ परेशान करेंगी। तन की तरह मन और आत्मा की शुद्धि भी आवश्यक है। इस शुद्धि के लिए भगवान् महावीर ने दुनिया को प्रतिक्रमण करने का आदेश दिया।

(गजेन्द्र व्याख्यान माला भाग ६, पृ० ६-७)

प्रतिक्रमण का अर्थ है पीछे हटना अर्थात् दोषों से हटकर आत्मा को मूल स्थिति में ले आना। (वही पृ० ५) कपड़े पर धूलि लग जाय उसे कपड़े पर रखना नहीं है। प्रतिक्रमण साधन है जाति-स्मरण ज्ञान का। अपना पूर्व भव दिखा देने की अद्‌भुत कला भगवान् महावीर के पास थी। साधक के वैराग्य की पुष्टि होती है जब वह पीछे लौटकर यह देख लेता है कि सत्ता-सम्पत्ति-सुख सभी नश्वर थे, चिरस्थायी तो आत्मा की मूल स्थिति है। इसीलिये गुरुदेव ने प्रातः-संध्या प्रतिक्रमण करने पर बल दिया।

जीवन जीने की शैली ही जब तक साधनामय नहीं हो जायेगी तब तक अन्त समय मृत्यु उपस्थित होने पर संथारा साधना कल्पना मात्र ही है। जैन दर्शन की विलक्षण देन संथारा-समाधिमरण का जीवन्त निदर्शन आचार्य श्री थे। आपने अप्रमत्त संयमी जीवन के अन्तिम क्षणों की अनुपम समाधि साधना से अलौकिक दिव्य मरण का आदर्श प्रस्तुत किया। आचार्य श्री जैसे श्रमण श्रेष्ठों को लक्ष्य कर ही कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

समसत्तुबंधुवग्गो, समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
सम लोट्ठकंचणो पुण, **जीविद मरणे समो समणो ।।**

समत्व ही धर्म है और समत्व की साधना करने वाला ही धार्मिक । यह थी आचार्य श्री की दार्शनिक मान्यता ।

६. **परिग्रह उपकरण बने अधिकरण नहीं** – अपरिग्रही मोह विजय कर आत्म-लाभ करता है इस उद्देश्य से आचार्य श्री ने अपरिग्रही बनने हेतु सार्थक सन्देश प्रदान किया । अपरिग्रह की जैसी व्याख्या आचार्य श्री ने प्रस्तुत की वह आगम-सम्मत तत्त्व-निरूपण की अनूठी शैली का निदर्शन है ।

भगवान् महावीर ने परिग्रह को बंध का कारण कहा अतः न तो परिग्रह करना चाहिये और न ही करने वाले का अनुमोदन करना चाहिये । अन्यथा दुःख मुक्ति सम्भव नहीं । आचार्य श्री 'सूत्रकृतांग' की साक्षी प्रस्तुत करते हैं—

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अण्णं वा अणु जाणाइ, एवं दुक्खा न मुच्चइ ।।

विचारणीय है कि मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति को परिग्रह कहा गया है । प्रस्तुत उद्धरण में मूर्च्छा-परिग्रह न करने तथा करते हुए का अनुमोदन नहीं करने का उपदेश है, यह उचित ही है क्योंकि अन्य को पदार्थ दिये जा सकते हैं पर मूर्च्छा नहीं दी जा सकती । मूर्च्छा तो स्वयं ही कोई करता है या मूर्च्छित परिग्रही का अनुमोदन कर सकता है । परिग्रह के दो योग ही कहना इसीलिये सार्थक प्रतीत होता है ।

आचार्य श्री ने स्पष्ट कहा कि आरम्भ और परिग्रह को जाने बिना धर्म-श्रवण लाभ भी नहीं होता । परिग्रह आत्मा को जकड़ने वाला है । 'सूत्रकृतांग' में परिग्रह के सचित्त, अचित्त और मिश्र त्रिविध भेद किये हैं तथा 'स्थानांग' में कर्म-परिग्रह, शरीर-परिग्रह और भाण्डोपकरण परिग्रह यह त्रिविध विभाजन है । आचार्य श्री ने स्पष्ट किया कि परिग्रह-उपधि या उपकरण भी होते हैं यदि परिग्रह साधना हेतु उपयोगी बन जाय । जो सामग्री या साधन काम में लिए जाते हैं, संग्रह नहीं किए जाते वे अपरिग्रह ही हो जाते हैं क्योंकि वे उपकरण बन जाते हैं । आचार्य श्री का उद्घोष था कि परिग्रह उपकरण बने, अधिकरण नहीं । अधिकरण बंध का कारण होता है, शुभ मार्ग में उपयोगी उपधि-उपकरण बन्ध कारण नहीं, इसीलिए साधु १४ उपकरण रखने पर भी अपरिग्रही होते हैं ।

कितना मार्मिक विश्लेषण किया है आचार्य श्री ने—मूर्च्छा हटी तो बेड़ी कटी । जो धन तुमने जुटाया है उसे यह समझो कि वह मेरी निश्रा में है । वस्तु मेरी नहीं, मेरी निश्रा में है, यह कहने, सोचने, समझने से ममत्व विसर्जन होता है । जहां ममत्व नहीं, वहां दुःख नहीं ।

संचय से लवणाम्बुज का अथाह जल भी अनुपयोगी और खारा हो जाता है, संचित लक्ष्मी भी स्वामी के कलंक का कारण बन जाती है । आचार्य श्री ने कितना सुन्दर कहा—'धन-सम्पत्ति के गुलाम मत बनो, सम्पत्ति के स्वामी बनो । संचित सम्पत्ति की सुरक्षा में चिंतित स्वामी सचमुच उस सम्पत्ति का दास है और ममत्व हटाकर सम्पत्ति का शुभोपयोग में विसर्जन करने वाला ही सम्पत्ति का स्वामी ।'

सम्पत्ति के सदुपयोग से सेवा का अमृत फल भी उपलब्ध होता है । सेवा के क्षेत्र का जितना-जितना विस्तार होता है, राग-द्वेष विजय होती है । प्राणिमात्र के प्रति करुणा विसर्जित होना ही तो वीतरागी होना है क्योंकि सेवा के विस्तार से राग पतला होकर टूट जाता है । राग का घेरा टूटा और वीतरागता प्रकट हुई ।

परिग्रह को उपकरण बना कर ही यह सम्भव है, अधिकरण मान कर नहीं ।

७. **अप्रमत्त रह कर ही धर्माचरण सम्भव**—आचार्य श्री का सम्पूर्ण जीवन अप्रमत्त भाव में रहने की सीख देता है । 'समयं गोयम मा पमायए' का संदेश आचार्य श्री के जीवन में पैठ गया था । आचार्य श्री अप्रमत्त रह कर ही धर्माचरण को सम्भव मानते थे । समय का दुरुपयोग आपके लिये हिंसा के समान त्याज्य था । मौन-साधना में रत, काल की सूक्ष्मतम इकाई समय भर भी प्रमाद न करने में कुशल, जीवन की हर क्रिया को धर्म-सूत्र में पिरोकर बहुमूल्य बनाने में सिद्धहस्त आचार्य श्री की यह मान्यता थी कि गृहस्थ संसारी के अर्थ और काम पुरुषार्थ यदि धर्म-सम्मत हों तभी वह श्रावक की भूमिका का निर्वाह कर सकता है । नीति पूर्वक अर्जन श्रावक के लिये परम आवश्यक है । असंयम को रोक कर ही धर्म सम्भव है । अपने जीवनकाल में आचार्य श्री ने सैकड़ों मनुष्यों को संयम-पथ पर अग्रसर किया । सामूहिक चेतना में संयम फूंकने वाले साधक को कोटिशः वन्दन ।

साधना हेतु दुःख सहन का अभ्यास आवश्यक—

'आयावयाही चय सोग मल्लं । कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।।'

शरीर की कोमलता को ऐसे साधो कि किसी भी परिस्थिति में वह प्रसन्न रहे। मन चंचल न बने इसका अभ्यास करने पर ही अप्रमत्त सामायिक सधती है। दुष्कृत निन्दा और सुकृत अनुमोदना से अभ्यास पूर्वक अप्रमत्त भाव का विकास करना चाहिये।

अप्रमत्त दशा के विकास हेतु श्रोता को चाहिये कि वह अपने अनुकूल वस्तु को पकड़ने का दृष्टिकोण त्याग कर श्रवण लाभ करे।

८. **कुटेवों को बदलना आवश्यक**—'प्रार्थना प्रवचन' पृ० ७३ के अनुसार आचार्य श्री की मान्यता रही कि वीतरागता प्राप्त करने के लिये जीवन में पैठी हुई कुटेवों को बदलना आवश्यक है। साथ ही अंध-विश्वासों से ऊपर उठना भी आवश्यक है। आचार्य श्री ने जन-जागरण की दिशा में **व्यसन-मुक्ति और अंध-विश्वास मुक्ति** का जो शंखनाद फूंका उससे हजारों की संख्या में मानवों का जीवन-सुधार हुआ। करोड़ों की राशि व्यय करके अनेक वर्षों के अनवरत प्रयास से सरकार भी जितनी लक्ष्य-पूर्ति इस क्षेत्र में नहीं कर पाई होगी जितनी आचार्य श्री जैसे दिव्य व्यक्तित्व ने अपने जीवन-काल में हजारों व्यक्तियों को व्यसन-मुक्त किया तथा देवी-देवताओं और अरिहंत के स्वरूप की व्याख्या कर मनौतियों, ठण्डा भोजन-प्रयोग, बलि चढ़ाना, कायक्लेश के आडम्बर करना आदि अंध-विश्वासों से जन-मानस को मुक्त कराया। देवी-देवताओं और पर्वों के धार्मिक स्वरूप की कल्पना प्रस्तुत कर जन-जागरण किया और कहा कि रूढ़ि और कुरीति में मत उलझो। आचार्य श्री जन-समुदाय को छोटे-छोटे व्रतों की दीक्षा देते और उन व्रतों को दृढ़तापूर्वक आजीवन पालन करने की सीख देते थे। व्रत-पालन में दोष उपस्थित होने पर प्रायश्चित्त का विधान भी बताते थे। प्रायश्चित्त विधान-ज्ञान में आचार्य श्री सिद्धहस्त माने जाते थे।

छोटे-छोटे व्रतों के माध्यम से पाँच इन्द्रिय विजय, चार कषाय विजय आदि के पालन की प्रेरणा करते थे। जीवन में पैठी हुई एक भी कुटेव साधना में बाधक है अतः उसे बदलना आवश्यक है। आचार्य श्री की प्रेरणा से जितनी भी संस्थाएं आज सेवारत हैं चाहे वे बालकों को संस्कारित करने में प्रयासरत हों, चाहे युवकों में स्वाध्याय प्रवृत्ति प्रचाररत हों, चाहे प्रौढ़ों की साधना के मार्ग-दर्शन में रत हों, चाहे महिलाओं के सर्वांगीण विकास हेतु सजग हों, सभी संस्थाओं के संचालकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे व्यसनमुक्त हों। आचार्य श्री की दीर्घ दृष्टि राष्ट्रीय विकास के नये आयाम प्रस्तुत करने में बहुत सहायक बनी है। इस दृष्टि से जीवनपर्यन्त साधना समर्पित गुरुदेव राष्ट्रीय सन्त की पंक्ति में आ विराजे हैं।

कितना मार्मिक विश्लेषण किया है आचार्य श्री ने—मूर्च्छा हटी तो मेरी कहाँ । जो धन तुमने जुटाया है उसे यह समझो कि वह मेरी निश्रा में है । धन तु मेरी नहीं, मेरी निश्रा में है, यह कहने, सोचने, समझने से ममत्व विसर्जन होता है । जहां ममत्व नहीं, वहां दुःख नहीं ।

संचय से लवणाम्बुज का अथाह जल भी अनुपयोगी और खारा हो जाता है, संचित लक्ष्मी भी स्वामी के कलंक का कारण बन जाती है । आचार्य श्री ने कितना सुन्दर कहा—'धन-सम्पत्ति के गुलाम मत बनो, सम्पत्ति के स्वामी बनो । संचित सम्पत्ति की सुरक्षा में चिंतित स्वामी सचमुच उस सम्पत्ति का दास है और ममत्व हटाकर सम्पत्ति का शुभोपयोग में विसर्जन करने वाला ही सम्पत्ति का स्वामी ।'

सम्पत्ति के सदुपयोग से सेवा का अमृत फल भी उपलब्ध होता है । सेवा के क्षेत्र का जितना-जितना विस्तार होता है, राग-द्वेष विजय होती है । प्राणिमात्र के प्रति करुणा विसर्जित होना ही तो वीतरागी होना है क्योंकि सेवा के विस्तार से राग पतला होकर टूट जाता है । राग का घेरा टूटा और वीतरागता प्रकट हुई ।

परिग्रह को उपकरण बना कर ही यह सम्भव है, अधिकरण मान कर नहीं ।

७. **अप्रमत्त रह कर ही धर्माचरण सम्भव**—आचार्य श्री का सम्पूर्ण जीवन अप्रमत्त भाव में रहने की सीख देता है । 'समयं गोयम मा पमायए' का संदेश आचार्य श्री के जीवन में पैठ गया था । आचार्य श्री अप्रमत्त रह कर ही धर्माचरण को सम्भव मानते थे । समय का दुरुपयोग आपके लिये हिंसा के समान त्याज्य था । मौन-साधना में रत, काल की सूक्ष्मतम इकाई समय भर भी प्रमाद न करने में कुशल, जीवन की हर क्रिया को धर्म-सूत्र में पिरोकर बहुमूल्य बनाने में सिद्धहस्त आचार्य श्री की यह मान्यता थी कि गृहस्थ संसारी के अर्थ और काम पुरुषार्थ यदि धर्म-सम्मत हों तभी वह श्रावक की भूमिका का निर्वाह कर सकता है । नीति पूर्वक अर्जन श्रावक के लिये परम आवश्यक है । असंयम को रोक कर ही धर्म सम्भव है । अपने जीवनकाल में आचार्य श्री ने सैकड़ों मनुष्यों को संयम-पथ पर अग्रसर किया । सामूहिक चेतना में संयम फूंकने वाले साधक को कोटिशः वन्दन ।

साधना हेतु दुःख सहन का अभ्यास आवश्यक—

'आयावयाही चय सोग मल्लं । कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।।'

शरीर की कोमलता को ऐसे साधो कि किसी भी परिस्थिति में वह प्रसन्न रहे। मन चंचल न बने इसका अभ्यास करने पर ही अप्रमत्त सामायिक सधती है। दुष्कृत निन्दा और सुकृत अनुमोदना से अभ्यास पूर्वक अप्रमत्त भाव का विकास करना चाहिये।

अप्रमत्त दशा के विकास हेतु श्रोता को चाहिये कि वह अपने अनुकूल वस्तु को पकड़ने का दृष्टिकोण त्याग कर श्रवण लाभ करे।

८. **कुटेवों को बदलना आवश्यक**—'प्रार्थना प्रवचन' पृ० ७३ के अनुसार आचार्य श्री की मान्यता रही कि वीतरागता प्राप्त करने के लिये जीवन में पैठी हुई कुटेवों को बदलना आवश्यक है। साथ ही अंध-विश्वासों से ऊपर उठना भी आवश्यक है। आचार्य श्री ने जन-जागरण की दिशा में **व्यसन-मुक्ति** और **अंध-विश्वास मुक्ति** का जो शंखनाद फूंका उससे हजारों की संख्या में मानवों का जीवन-सुधार हुआ। करोड़ों की राशि व्यय करके अनेक वर्षों के अनवरत प्रयास से सरकार भी जितनी लक्ष्य-पूर्ति इस क्षेत्र में नहीं कर पाई होगी जितनी आचार्य श्री जैसे दिव्य व्यक्तित्व ने अपने जीवन-काल में हजारों व्यक्तियों को व्यसन-मुक्त किया तथा देवी-देवताओं और अरिहंत के स्वरूप की व्याख्या कर मनौतियों, ठण्डा भोजन-प्रयोग, बलि चढ़ाना, कायक्लेश के आडम्बर करना आदि अंध-विश्वासों से जन-मानस को मुक्त कराया। देवी-देवताओं और पर्वों के धार्मिक स्वरूप की कल्पना प्रस्तुत कर जन-जागरण किया और कहा कि रूढ़ि और कुरीति में मत उलझो। आचार्य श्री जन-समुदाय को छोटे-छोटे व्रतों की दीक्षा देते और उन व्रतों को दृढ़तापूर्वक आजीवन पालन करने की सीख देते थे। व्रत-पालन में दोष उपस्थित होने पर प्रायश्चित्त का विधान भी बताते थे। प्रायश्चित्त विधान-ज्ञान में आचार्य श्री सिद्धहस्त माने जाते थे।

छोटे-छोटे व्रतों के माध्यम से पाँच इन्द्रिय विजय, चार कषाय विजय आदि के पालन की प्रेरणा करते थे। जीवन में पैठी हुई एक भी कुटेव साधना में बाधक है अतः उसे बदलना आवश्यक है। आचार्य श्री की प्रेरणा से जितनी भी संस्थाएँ आज सेवारत हैं चाहें वे बालकों को संस्कारित करने में प्रयासरत हों, चाहे युवकों में स्वाध्याय प्रवृत्ति प्रचाररत हों, चाहे प्रौढ़ों की साधना के मार्ग-दर्शन में रत हों, चाहे महिलाओं के सर्वांगीण विकास हेतु तत्पर हों, सभी संस्थाओं के संचालकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सप्तव्यसन मुक्त हों। आचार्य श्री की दीर्घ दृष्टि राष्ट्रीय विकास के नये आयाम प्रस्तुत करने में बहुत सहायक बनी है। इस दृष्टि से जीवनपर्यन्त साधना संघर्षरत गुरुदेव राष्ट्रीय सन्त की सरणि में आ बिराजे हैं।

९. धर्म मार्ग की सीख पण्डितों को दें—आचार्य श्री की पुष्ट मान्यता थी कि यदि पण्डितों को सन्मार्ग और धर्म मार्ग की सीख दी जाय तो उनके अनुगामी स्वतः ही परिवर्तित हो जायेंगे। भगवान् महावीर का आदर्श प्रस्तुत कर आचार्य श्री ने कहा कि भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति आदि पण्डित नेताओं को अहिंसा का उपदेश दिया, उनके अनुगामी जन-समूह ने तो अनुकरण मात्र किया और महावीर के अनुयायी बन गये।

अन्त में निष्कर्ष यही है कि आचार्य श्री के उपदेश 'परोपदेशे-पाण्डित्यम्' के हेतु नहीं हैं वरन् आप श्री ने स्वयं समभाव में स्थित होकर मोह और क्षोभ से रहित आत्म-परिणाम में रमण कर समभाव रूप सामायिक और चारित्र धर्म का उपदेश दिया। वही उपदेश आज स्वाध्याय का साधन बन गया।

—निदेशिका, क्षेत्रीय केन्द्र, कोटा खुला विश्वविद्यालय, उदयपुर

अमृत-कण

❖ सम्यक् चारित्र के दो रूप हैं—संयम और तप। संयम नवीन कर्मों के आस्रव-बंध को रोकता है और तप पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन दोनों की अनिवार्य आवश्यता है।

❖ हमें शरीर बदलने का दुःख नहीं होना चाहिए। दुःख इस बात पर होना चाहिए कि ज्ञान गुण घट गया, श्रद्धा घट गई।

❖ हमारे आत्म-गुणों को हीरा, स्वर्ण, भूमि आदि नहीं ढकते। मोह और आसक्ति ही आत्म-गुणों को ढकते हैं।

—आचार्य श्री हस्ती

आत्मधर्मी आचार्य श्री की लोकधर्मी भूमिका

☐ डॉ. संजीव भानावत

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. उत्कृष्ट संयम-साधना के आत्मधर्मी आचार्य थे, पर लोकधर्म और लोकमंगल के प्रति कभी उन्होंने उपेक्षा का भाव नहीं रखा। आत्म-चैतन्य जागृत कर लोक में व्याप्त अज्ञान अंधकार और तन्द्रा को मिटाने की वे सतत प्रेरणा देते रहे। चाहे साधना का पक्ष हो, चाहे साहित्य-सृजन की वात या इतिहास-लेखन का प्रसंग, आचार्य श्री लोकहित को सदैव महत्त्व देते थे, पर यह लोकहित आत्मानुशासित और आत्म-जागरण प्रेरित हो, इस ओर वे सदा सजग और सचेष्ट रहते।

आचार्य श्री का व्यक्तित्व बहुमुखी और कृतित्व बहुआयामी था। समाज में ज्ञान और क्रिया का सम्यक् विकास हो, इस दृष्टि से उन्होंने स्वाध्याय के साथ सामायिक और सामायिक के साथ स्वध्याय की प्रवृत्ति को जोड़ने पर बल दिया। स्वाध्याय में निरन्तर ताजगी आती रहे, मनन और चिन्तन चलता रहे, इस दृष्टि से उन्होंने साधना पर बल दिया, ज्ञान भंडार स्थापित किए, स्वयं साहित्य सृजन किया और नित नये अध्ययन-लेखन की प्रेरणा दी। आधुनिकता के साथ पारम्परिक शास्त्रीय ज्ञान जुड़े, यह उनकी समझ थी। लोक परम्परा को नकार कर पनपने वाली आधुनिकता के वे पक्षधर नहीं थे। उनका इतिहास-वोध अत्यधिक जागरूक था। धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्पराओं को समझकर नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों के निर्माण की दिशा में बढ़ने के लिए उनकी बराबर प्रेरणा रही। लोक से कटकर धर्म व्यक्ति को एकान्तवादी और अकेला बना दे, इसकी अपेक्षा अच्छा यह है कि धर्म व्यक्ति में मैत्री, सहयोग, सहिष्णुता और वात्सल्य भाव जगाये, यह उन्हें अभीष्ट था। आत्म तत्त्व को बुलन्द और जागृत रखकर ही वे समाज-धर्म को प्रतिष्ठित करना चाहते थे।

समाज के सभी अंग फले-फूलें, पुष्ट और बलिष्ट हों, स्नेह, सेवा और परस्पर सहयोग करते हुए व्यक्ति और समाज का संतुलित विकास हो, यह उन्हें इष्ट था। अपने प्रवचन और लेखन में आचार्य श्री की यही दृष्टि वनी रही।

□ □ □

अमृत-कण

- सम्यक् चारित्र के दो रूप हैं—संयम और तप । संयम नवीन कर्मों के आस्रव-बंध को रोकता है और तप पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन दोनों की अनिवार्य आवश्यता है ।

- हमें शरीर बदलने का दुःख नहीं होना चाहिए । दुःख इस बात पर होना चाहिए कि ज्ञान गुण घट गया, श्रद्धा घट गई ।

- हमारे आत्म-गुणों को हीरा, स्वर्ण, भूमि आदि नहीं ढकते । मोह और आसक्ति ही आत्म-गुणों को ढकते हैं ।

—आचार्य श्री हस्ती

तत्त्व जागृत है, वही चेतनाशील है। आचार्य श्री के शब्दों में 'ऐसा व्यक्ति जो शांत चित्त से ज्ञान की गंगा में गहराई से गोता लगाता है, वह मूक ज्ञान से भी लाभ ले लेगा। ज्ञान के जलाशय में डुबकी लगाने से राग-द्वेष रूपी ताप मन्द पड़ता है।' आज ज्ञान के साथ हिंसा और क्रूरता जुड़ गयी है क्योंकि ज्ञान के साथ सत्संग का वल नहीं है। आचार्य श्री ने एक जगह कहा है—'सत्संग एक सरोवर के सदृश्य है जिसके निकट पहुँचने से ही शीतलता, स्फूर्ति तथा दिमाग में तरी आ जाती है।' भक्त के हृदय में बहता हुआ विशुद्ध भक्ति का निर्भर उसके कलुष को धो देता है और आत्मा निष्कलुष बन जाता है।' पर सत्संग और विवेक का अभाव व्यक्ति को ममता और आसक्ति में बांध देता है। वह अनावश्यक धन संग्रह और परिग्रह में उलझ जाता है। इस सत्य को आचार्य श्री यों व्यक्त करते हैं—'रजत, स्वर्ण, हीरे और जवाहरात का परिग्रह भार है। भार नौका को दरिया में डुबोता है और यह परिग्रह रूपी भार आत्मा को भव-सागर में डुबोता है।'

अग्नि तत्त्व ज्ञान और तप का प्रतीक है पर जब यह तत्त्व क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों में मिल जाता है तब प्रकाश न देकर संताप देता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'जैसे गर्म भट्टी पर चढ़ा हुआ जल बिना हिलाए ही अशांत रहता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक कषाय की भट्टी पर चढ़ा रहेगा तब तक अशांत और उद्विग्न बना रहेगा।' समता भाव लाकर ही उसे शांत किया जा सकता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'भट्टी पर चढ़ाए उबलते पानी को भट्टी से अलग हटा देने से ही उसमें शीतलता आती है। इसी प्रकार नानाविध मानसिक संताप से संतप्त मानव सामायिक-साधना करके ही शांति लाभ कर सकता है।'

शरीर और आत्मा भिन्न हैं, इस तथ्य को समझाते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'चकमक से अलग नहीं दिखने वाली आग भी जैसे चकमक पत्थर से भिन्न है, वैसे आत्मा शरीर से भिन्न नहीं दिखने पर भी वस्तुतः भिन्न है।' यह ज्ञान चेतना का विकास होने पर ही संभव है। आचार्य श्री के शब्दों में—'हृदय में व्याप्त अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए चेतना की तूली जलानी होगी।' ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर पुरातन कर्म दग्ध हो जाते हैं। इसी दृष्टि से तपस्या को अग्नि कहा गया है। आचार्य श्री के शब्दों में—'जैसे आग की चिनगारी मनों भर भूसे को जलाने के लिए काफी है, वैसे ही तपस्या की चिनगारी कर्मों को काटने के लिए काफी है।'

आचार्य श्री ने कृषि एवं पशु-पक्षी जगत् से भी कई उपमान लिए हैं। काल अर्थात् मृत्यु पर किसी का वश नहीं चलता। काल को शेर की उपमा

आचार्य श्री प्राकृत-संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। न्याय, व्याकरण, दर्शन व इतिहास में उनकी गहरी पैठ थी। वे शास्त्रीयता के संरक्षक माने जाते थे पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की यह विशेषता थी कि वे मन, वचन, कर्म में सहज-सरल थे, एकरूप थे। लोकधर्म, लोकसंस्कृति और लोकजीवन से वे कटकर नहीं चले। इस सबसे उनका गहरा जुड़ाव था अपने शास्त्रीय ज्ञान को उन्होंने कभी अपने प्रवचनों में आरोपित नहीं किया वे सहृदय कवि थे। उनकी कविताओं में आत्मानुभूति के साथ-साथ लोकजीव और लोकधर्म की गहरी पकड़ थी। छंद शास्त्रीय न होकर लोकव्यवहार व्यवहृत विभिन्न राग-रागिनियाँ हैं।

आचार्य श्री के प्रवचन आत्म-धर्म और आत्म-जागृति की गुरु गंभी बात लिए हुए होते थे, पर होते थे सहज-सरल। तत्त्वज्ञान की बात वे लोकध और लोकजीवन से जुड़कर / जोड़कर समझाते थे। प्रवचनों के बीच-बीच स्वत साधना में पकी हुई सूक्तियाँ अवतरित होती चलती थीं। सूक्तियों का निर्मा वे शास्त्र के आधार पर न कर लोकानुभव के आधार पर करते थे। यहाँ ह उनकी सूक्तियों में निहित लोकधर्मी तत्त्वों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

दार्शनिक स्तर पर संतों ने यह अनुभव व्यक्त किया है कि जो पिण्ड में है वह ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। जैसा हम भीतर सोचते हैं वैस बाहर प्रकट होता है और जैसा बाहर है वैसा भीतर घटित होता है। इस संदर्भ मे विचार करें तो सृष्टि में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि जो पंचतत्त्व हैं, वही पंचतत्त्व हमारे भीतर भी हैं। आचार्य श्री ने बाहर और भीतर के इन पंचतत्त्वों को समन्वित करते हुए उपमान के रूप में इन्हें प्रस्तुत करते हुए जीवन-आदर्शों और सांस्कृतिक मूल्यों को निरूपित किया है। विचार की नींव पर ही आचार का महल खड़ा होता है। इस संदर्भ में आचार्य श्री का कथन है—'विचार की नींव कच्ची होने पर आचार के भव्य प्रासाद को धराशायी होते देर नहीं लगती।'

विचार तभी परिपक्व बनते हैं जब उनमें साधना का बल हो। साधना के अभाव में जीवन का कोई महत्त्व नहीं। साधना रहित जीवन विषय-वासना में उलझ जाता है, अधर्म का रास्ता अपना लेता है, स्वार्थ केन्द्रित हो जाता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'उसको दूसरों का अभ्युदय कांटा सा कलेजे में चुभेगा, तरह-तरह की तदबीर लगाकर वह दूसरों का नुकसान करेगा और निष्प्रयोजन निकाचित कर्म बांधेगा।'

जल तत्त्व, करुणा, सरसता और सहृदयता का प्रतीक है। जिसका यह

तत्त्व जागृत है, वही चेतनाशील है। आचार्य श्री के शब्दों में 'ऐसा व्यक्ति जो शांत चित्त से ज्ञान की गंगा में गहराई से गोता लगाता है, वह मूक ज्ञान से भी लाभ ले लेगा। ज्ञान के जलाशय में डुबकी लगाने से राग-द्वेष रूपी ताप मन्द पड़ता है।' आज ज्ञान के साथ हिंसा और क्रूरता जुड़ गयी है क्योंकि ज्ञान के साथ सत्संग का बल नहीं है। आचार्य श्री ने एक जगह कहा है—'सत्संग एक सरोवर के सदृश्य है जिसके निकट पहुँचने से ही शीतलता, स्फूर्ति तथा दिमाग में तरी आ जाती है।' भक्त के हृदय में बहता हुआ विशुद्ध भक्ति का निर्झर उसके कलुष को धो देता है और आत्मा निष्कलुष बन जाता है।' पर सत्संग और विवेक का अभाव व्यक्ति को ममता और आसक्ति में बांध देता है। वह अनावश्यक धन संग्रह और परिग्रह में उलझ जाता है। इस सत्य को आचार्य श्री यों व्यक्त करते हैं—'रजत, स्वर्ण, हीरे और जवाहरात का परिग्रह भार है। भार नौका को दरिया में डुबोता है और यह परिग्रह रूपी भार आत्मा को भव-सागर में डुबोता है।'

अग्नि तत्त्व ज्ञान और तप का प्रतीक है पर जब यह तत्त्व क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों में मिल जाता है तब प्रकाश न देकर संताप देता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'जैसे गर्म भट्टी पर चढ़ा हुआ जल बिना हिलाए ही अशांत रहता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक कषाय की भट्टी पर चढ़ा रहेगा तब तक अशांत और उद्विग्न बना रहेगा।' समता भाव लाकर ही उसे शांत किया जा सकता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'भट्टी पर चढ़ाए उबलते पानी को भट्टी से अलग हटा देने से ही उसमें शीतलता आती है। इसी प्रकार नानाविध मानसिक संताप से संतप्त मानव सामायिक-साधना करके ही शांति लाभ कर सकता है।'

शरीर और आत्मा भिन्न हैं, इस तथ्य को समझाते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'चकमक से अलग नहीं दिखने वाली आग भी जैसे चकमक पत्थर से भिन्न है, वैसे आत्मा शरीर से भिन्न नहीं दिखने पर भी वस्तुतः भिन्न है।' यह ज्ञान चेतना का विकास होने पर ही संभव है। आचार्य श्री के शब्दों में—'हृदय में व्याप्त अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए चेतना की तूली जलानी होगी।' ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर पुरातन कर्म दग्ध हो जाते हैं। इसी दृष्टि से तपस्या को अग्नि कहा गया है। आचार्य श्री के शब्दों में—'जैसे आग की चिनगारी मनों भर भूसे को जलाने के लिए काफी है, वैसे ही तपस्या की चिनगारी कर्मों को काटने के लिए काफी है।'

आचार्य श्री ने कृषि एवं पशु-पक्षी जगत् से भी कई उपमान लिए हैं। काल अर्थात् मृत्यु पर किसी का वश नहीं चलता। काल को शेर की उपमा

आचार्य श्री प्राकृत-संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। न्याय, व्याकरण, दर्शन व इतिहास में उनकी गहरी पैठ थी। वे शास्त्रीयता के संरक्षक माने जाते थे पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की यह विशेषता थी कि वे मन, वचन, कर्म में सहज-सरल थे, एकरूप थे। लोकधर्म, लोकसंस्कृति और लोकजीवन से वे कटकर नहीं चले। इस सबसे उनका गहरा जुड़ाव था। अपने शास्त्रीय ज्ञान को उन्होंने कभी अपने प्रवचनों में आरोपित नहीं किया। वे सहृदय कवि थे। उनकी कविताओं में आत्मानुभूति के साथ-साथ लोकजीवन और लोकधर्म की गहरी पकड़ थी। छंद शास्त्रीय न होकर लोकव्यवहार में व्यवहृत विभिन्न राग-रागिनियाँ हैं।

आचार्य श्री के प्रवचन आत्म-धर्म और आत्म-जागृति की गुरु गंभीर बात लिए हुए होते थे, पर होते थे सहज-सरल। तत्त्वज्ञान की बात वे लोकधर्म और लोकजीवन से जुड़कर / जोड़कर समझाते थे। प्रवचनों के बीच-बीच स्वतः साधना में पकी हुई सूक्तियाँ अवतरित होती चलती थीं। सूक्तियों का निर्माण वे शास्त्र के आधार पर न कर लोकानुभव के आधार पर करते थे। यहाँ हम उनकी सूक्तियों में निहित लोकधर्मी तत्त्वों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

दार्शनिक स्तर पर संतों ने यह अनुभव व्यक्त किया है कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। जैसा हम भीतर सोचते हैं वैसा बाहर प्रकट होता है और जैसा बाहर है वैसा भीतर घटित होता है। इस संदर्भ में विचार करें तो सृष्टि में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि जो पंचतत्त्व हैं, वही पंचतत्त्व हमारे भीतर भी हैं। आचार्य श्री ने बाहर और भीतर के इन पंचतत्त्वों को समन्वित करते हुए उपमान के रूप में इन्हें प्रस्तुत करते हुए जीवन-आदर्शों और सांस्कृतिक मूल्यों को निरूपित किया है। विचार की नींव पर ही आचार का महल खड़ा होता है। इस संदर्भ में आचार्य श्री का कथन है—'विचार की नींव कच्ची होने पर आचार के भव्य प्रासाद को धराशायी होते देर नहीं लगती।'

विचार तभी परिपक्व बनते हैं जब उनमें साधना का बल हो। साधना के अभाव में जीवन का कोई महत्त्व नहीं। साधना रहित जीवन विषय-वासना में उलझ जाता है, अधर्म का रास्ता अपना लेता है, स्वार्थ केन्द्रित हो जाता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'उसको दूसरों का अभ्युदय कांटा सा कलेजे में चुभेगा, तरह-तरह की तदबीर लगाकर वह दूसरों का नुकसान करेगा और निष्प्रयोजन निकाचित कर्म बांधेगा।'

जल तत्त्व, करुणा, सरसता और सहृदयता का प्रतीक है। जिसका यह

तत्त्व जागृत है, वही चेतनाशील है। आचार्य श्री के शब्दों में 'ऐसा व्यक्ति जो शांत चित्त से ज्ञान की गंगा में गहराई से गोता लगाता है, वह मूक ज्ञान से भी लाभ ले लेगा। ज्ञान के जलाशय में डुबकी लगाने से राग-द्वेष रूपी ताप मन्द पड़ता है।' आज ज्ञान के साथ हिंसा और क्रूरता जुड़ गयी है क्योंकि ज्ञान के साथ सत्संग का बल नहीं है। आचार्य श्री ने एक जगह कहा है—'सत्संग एक सरोवर के सदृश्य है जिसके निकट पहुँचने से ही शीतलता, स्फूर्ति तथा दिमाग में तरी आ जाती है।' भक्त के हृदय में बहता हुआ विशुद्ध भक्ति का निर्झर उसके कलुष को धो देता है और आत्मा निष्कलुष बन जाता है।' पर सत्संग और विवेक का अभाव व्यक्ति को ममता और आसक्ति में बांध देता है। वह अनावश्यक धन संग्रह और परिग्रह में उलझ जाता है। इस सत्य को आचार्य श्री यों व्यक्त करते हैं—'रजत, स्वर्ण, हीरे और जवाहरात का परिग्रह भार है। भार नौका को दरिया में डुबोता है और यह परिग्रह रूपी भार आत्मा को भव-सागर में डुबोता है।'

अग्नि तत्त्व ज्ञान और तप का प्रतीक है पर जब यह तत्त्व क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों में मिल जाता है तब प्रकाश न देकर संताप देता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'जैसे गर्म भट्टी पर चढ़ा हुआ जल बिना हिलाए ही अशांत रहता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक कषाय की भट्टी पर चढ़ा रहेगा तब तक अशांत और उद्विग्न बना रहेगा।' समता भाव लाकर ही उसे शांत किया जा सकता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'भट्टी पर चढ़ाए उबलते पानी को भट्टी से अलग हटा देने से ही उसमें शीतलता आती है। इसी प्रकार नानाविध मानसिक संताप से संतप्त मानव सामायिक-साधना करके ही शांति लाभ कर सकता है।'

शरीर और आत्मा भिन्न हैं, इस तथ्य को समझाते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'चकमक से अलग नहीं दिखने वाली आग भी जैसे चकमक पत्थर से भिन्न है, वैसे आत्मा शरीर से भिन्न नहीं दिखने पर भी वस्तुतः भिन्न है।' यह ज्ञान चेतना का विकास होने पर ही संभव है। आचार्य श्री के शब्दों में—'हृदय में व्याप्त अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए चेतना की तूली जलानी होगी।' ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर पुरातन कर्म दग्ध हो जाते हैं। इसी दृष्टि से तपस्या को अग्नि कहा गया है। आचार्य श्री के शब्दों में—'जैसे आग की चिनगारी मनों भर भूसे को जलाने के लिए काफी है, वैसे ही तपस्या की चिनगारी कर्मों को काटने के लिए काफी है।'

आचार्य श्री ने कृषि एवं पशु-पक्षी जगत् से भी कई उपमान लिए हैं। काल अर्थात् मृत्यु पर किसी का वश नहीं चलता। काल को शेर की उपमा

आचार्य श्री प्राकृत-संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। आगम, न्यायशास्त्र, दर्शन व इतिहास में उनकी गहरी पैठ थी। वे शास्त्रीयता के संरक्षक माने जाते थे पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की यह विशेषता थी कि वे मन, वचन, कर्म से सहज-सरल थे, एकरूप थे। लोकधर्म, लोकसंस्कृति और लोकजीवन से वे कभी दूर नहीं रहे। इन सबसे उनका गहरा जुड़ाव था। अपने शास्त्रीय ज्ञान को उन्होंने कभी अपने प्रवचनों में आरोपित नहीं किया। वे सहृदय कवि थे। उनकी कविताओं में आत्मानुभूति के साथ-साथ लोकजीवन और लोकधर्म की गहरी पकड़ थी। छंद शास्त्रीय न होकर लोकव्यवहार में प्रचलित विभिन्न राग-रागिनियां हैं।

आचार्य श्री के प्रवचन आत्म-धर्म और आत्म-जागृति की गुरु गंभीर बात लिए हुए होते थे, पर होते थे सहज-सरल। तत्त्वज्ञान की बात वे लोकधर्म और लोकजीवन से जुड़कर / जोड़कर समझाते थे। प्रवचनों के बीच-बीच स्वतः साधना में पकी हुई सूक्तियां अवतरित होती चलती थीं। सूक्तियों का निर्माण वे शास्त्र के आधार पर न कर लोकानुभव के आधार पर करते थे। यहाँ हम उनकी सूक्तियों में निहित लोकधर्मी तत्त्वों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

दार्शनिक स्तर पर संतों ने यह अनुभव व्यक्त किया है कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। जैसा हम भीतर सोचते हैं वैसा बाहर प्रकट होता है और जैसा बाहर है वैसा भीतर घटित होता है। इस संदर्भ में विचार करें तो सृष्टि में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि जो पंचतत्त्व हैं, वही पंचतत्त्व हमारे भीतर भी हैं। आचार्य श्री ने बाहर और भीतर के इन पंचतत्त्वों को समन्वित करते हुए उपमान के रूप में इन्हें प्रस्तुत करते हुए जीवन-आदर्शों और सांस्कृतिक मूल्यों को निरूपित किया है। विचार की नींव पर ही आचार का महल खड़ा होता है। इस संदर्भ में आचार्य श्री का कथन है—'विचार की नींव कच्ची होने पर आचार के भव्य प्रासाद को धराशायी होते देर नहीं लगती।'

विचार तभी परिपक्व बनते हैं जब उनमें साधना का बल हो। साधना के अभाव में जीवन का कोई महत्त्व नहीं। साधना रहित जीवन विषय-वासना में उलझ जाता है, अधर्म का रास्ता अपना लेता है, स्वार्थ केन्द्रित हो जाता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'उसको दूसरों का अभ्युदय कांटा सा कलेजे में चुभेगा, तरह-तरह की तदबीर लगाकर वह दूसरों का नुकसान करेगा और निष्प्रयोजन निकाचित कर्म बांधेगा।'

जल तत्त्व, करुणा, सरसता और सहृदयता का प्रतीक है। जिसका यह

तत्त्व जागृत है, वही चेतनाशील है। आचार्य श्री के शब्दों में 'ऐसा व्यक्ति जो शांत चित्त से ज्ञान की गंगा में गहराई से गोता लगाता है, वह मूक ज्ञान से भी लाभ ले लेगा। ज्ञान के जलाशय में डुबकी लगाने से राग-द्वेष रूपी ताप मन्द पड़ता है।' आज ज्ञान के साथ हिंसा और क्रूरता जुड़ गयी है क्योंकि ज्ञान के साथ सत्संग का बल नहीं है। आचार्य श्री ने एक जगह कहा है—'सत्संग एक सरोवर के सदृश्य है जिसके निकट पहुँचने से ही शीतलता, स्फूर्ति तथा दिमाग में तरी आ जाती है।' भक्त के हृदय में बहता हुआ विशुद्ध भक्ति का निर्झर उसके कलुष को धो देता है और आत्मा निष्कलुष बन जाता है।' पर सत्संग और विवेक का अभाव व्यक्ति को ममता और आसक्ति में बांध देता है। वह अनावश्यक धन संग्रह और परिग्रह में उलझ जाता है। इस सत्य को आचार्य श्री यों व्यक्त करते हैं—'रजत, स्वर्ण, हीरे और जवाहरात का परिग्रह भार है। भार नौका को दरिया में डुबोता है और यह परिग्रह रूपी भार आत्मा को भव-सागर में डुबोता है।'

अग्नि तत्त्व ज्ञान और तप का प्रतीक है पर जब यह तत्त्व क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों में मिल जाता है तब प्रकाश न देकर संताप देता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'जैसे गर्म भट्टी पर चढ़ा हुआ जल बिना हिलाए ही अशांत रहता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक कषाय की भट्टी पर चढ़ा रहेगा तब तक अशांत और उद्विग्न बना रहेगा।' समता भाव लाकर ही उसे शांत किया जा सकता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'भट्टी पर चढ़ाए उबलते पानी को भट्टी से अलग हटा देने से ही उसमें शीतलता आती है। इसी प्रकार नानाविध मानसिक संताप से संतप्त मानव सामायिक-साधना करके ही शांति लाभ कर सकता है।'

शरीर और आत्मा भिन्न हैं, इस तथ्य को समझाते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'चकमक से अलग नहीं दिखने वाली आग भी जैसे चकमक पत्थर से भिन्न है, वैसे आत्मा शरीर से भिन्न नहीं दिखने पर भी वस्तुत: भिन्न है।' यह ज्ञान चेतना का विकास होने पर ही संभव है। आचार्य श्री के शब्दों में—'हृदय में व्याप्त अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए चेतना की तूली जलानी होगी।' ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर पुरातन कर्म दग्ध हो जाते हैं। इसी दृष्टि से तपस्या को अग्नि कहा गया है। आचार्य श्री के शब्दों में—'जैसे आग की चिनगारी मनों भर भूसे को जलाने के लिए काफी है, वैसे ही तपस्या की चिनगारी कर्मों को काटने के लिए काफी है।'

आचार्य श्री ने कृषि एवं पशु-पक्षी जगत् से भी कई उपमान लिए हैं। काल अर्थात् मृत्यु पर किसी का वश नहीं चलता। काल को शेर की उपमा

देते हुए आचार्य श्री कहते हैं 'ममता में मैं-मैं करने वाले को काल रूपी शेर एक दिन दबोच लेगा और इस सारे मैं-मैं के खेल को एक झटके में ही खत्म कर देगा।' एक अन्य स्थल पर उन्होंने काल को सांप एवं मानव-जीवन को मेंढक की उपमा दी है। सांप और उसकी कैंचुली के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए उन्होंने राग-त्याग की बात कही है—'सांप की तरह त्यागी हुई कैंचुली रूपी वस्तु की ओर मुड़ कर नहीं देखोगे तो जाना जाएगा कि आपने राग के त्याग के मर्म को समझा है।' मन को तुरंग और ज्ञान को लगाम की उपमा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'ज्ञान की बागडोर यदि हाथ लग जाए तो चंचल-मन-तुरंग को वश में रखा जा सकता है।' एक अन्य स्थल पर धर्म को रथ की उपमा देते हुए कहा है—'धर्म-रथ के दो घोड़े हैं—तप और संयम।'

स्वधर्म वत्सल भाव के सम्बन्ध को समझाते हुए गाय और बछड़े की सटीक उपमा दी गयी है—'हजारों बछड़ों के बीच एक गाय को छोड़ दीजिए। गाय वात्सल्य भाव के कारण अपने ही बछड़े के पास पहुँचेगी, उसी तरह लाखों-करोड़ों आदमियों में भी साधर्मी भाई को न भूलें।'

कृषि हमारी संस्कृति का मूल आधार है। कृषि में जो नियम लागू होते हैं वही संस्कृति में भी। हृदय को खेत का रूपक देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'हृदय रूप खेत में सत्य, अहिंसा और प्रभु भक्ति का वृक्ष लगाइये जिससे हृदय लहलहायेगा और मन निःशंक, निश्चिन्त और शान्त रहेगा।' आहार-विवेक की चर्चा करते हुए आचार्य श्री फरमाते हैं—'जिस तरह भंवरा एक-एक फूल से थोड़ा-थोड़ा रस लेता है और उसे पीड़ा नहीं होने देता है, उसी तरह से साधकों को भी आहार लेना चाहिए।' चरित्रवान मानव की अपनी विशिष्ट अवस्थिति और पहचान है। उसे नमक की उपमा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'चरित्रवान मानव नमक है, जो सारे संसार की सब्जी का जायका बदल देता है।' चक्की और कील के माध्यम से संसार और धर्म के सम्बन्ध को समझाते हुए आचार्य श्री फरमाते हैं—'संसार की चक्की में धर्म की कील है। यदि इस कील की शरण में आ जाओगे तो जन्म-मरण के पाटों से चकनाचूर होने से बच जाओगे।'

श्रीमन्तों को प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि उन्हें 'समाज की आंखों में काजल बनकर रहना चाहिए जो कि खटके नहीं, न कि कंकर बनकर जो खटकता हो।'

आचार्य श्री की सूक्तियाँ बड़ी सटीक और प्रेरक हैं। यथा—

१. आचरण भक्ति का सक्रिय रूप है।

२. कामना पर विजय ही दुःख पर विजय है।

३. शांति और क्षमा ये दोनों चारित्र के चरण हैं।

४. पोथी में ज्ञान है लेकिन आचरण में नहीं है तो वह ज्ञान हमारा सम्बल नहीं बन पाता।

५. जिसके मन में पर्दा है वहाँ सच्चा प्रेम नहीं है।

६. शास्त्र ही मनुष्य का वास्तविक नयन है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आचार्य श्री के प्रवचनों में कहीं आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार की दिव्य आनन्दानुभूति का उल्लास है तो कहीं समाज की विसंगतियों और विकृतियों पर किए जाने वाले प्रहार की ललकार है। उनमें जीवन और समाज को मोड़ देने की प्रबल प्रेरणा और अदम्य शक्ति है।

—सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता विभाग, राजस्थान वि. वि., जयपुर

सन्तन के दरबार में

भाई मत खेले तू माया रंग गुलाल सूं ।। टेर ।।

भाई हो रही होली, सन्त बसन्त की बहार में।
महाव्रत-पंचरंग फूल महक ले, भवि मधुकर गुंजार में ।। भाई. ।।

ज्ञान-गुलाल-लाल रंग उछरे, अनुभव अमलाकांतार में।
क्रिया-केसर रंग भर पिचकारी, खेले सुमति प्रिया संग प्यार में ।। भाई. ।।

जप तप-डफ-मृदंग-चंग बाजे, जिन-गुण गावे राग धमार में।
'सुजाण' या विधि-होली मची है, सन्तन के दरबार में ।। भाई. ।।

—मुनि श्री सुजानमलजी म. सा.

देते हुए आचार्य श्री कहते हैं 'ममता से मैं-मैं करने वाले को काल रूपी शेर एक दिन दबोच लेगा और इन सारे मैं-मैं के खेल को एक झटके में ही खत्म कर देगा।' एक अन्य स्थल पर उन्होंने काल को सांप एवं मानव-जीवन को मेंढ़क की उपमा दी है। सांप और उसकी केंचुली के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए उन्होंने राग-त्याग की बात कही है—'सांप की तरह त्यागी हुई केंचुली रूपी वस्तु की ओर मुड़ कर नहीं देखोगे तो जाना जाएगा कि आपने राग के त्याग के मर्म को समझा है।' मन को तुरंग और ज्ञान को लगाम की उपमा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'ज्ञान की बागडोर यदि हाथ लग जाए तो चंचल-मन-तुरंग को वश में रखा जा सकता है।' एक अन्य स्थल पर धर्म को रथ की उपमा देते हुए कहा है—'धर्म-रथ के दो घोड़े हैं—तप और संयम।'

स्वधर्म वत्सल भाव के सम्बन्ध को समझाते हुए गाय और बछड़े की सटीक उपमा दी गयी है—'हजारों बछड़ों के बीच एक गाय को छोड़ दीजिए। गाय वात्सल्य भाव के कारण अपने ही बछड़े के पास पहुँचेगी, उसी तरह लाखों-करोड़ों आदमियों में भी साधर्मी भाई को न भूलें।'

कृषि हमारी संस्कृति का मूल आधार है। कृषि में जो नियम लागू होते हैं वही संस्कृति में भी। हृदय को खेत का रूपक देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'हृदय रूप खेत में सत्य, अहिंसा और प्रभु भक्ति का वृक्ष लगाइये जिससे हृदय लहलहायेगा और मन निःशंक, निश्चिन्त और शान्त रहेगा।' आहार-विवेक की चर्चा करते हुए आचार्य श्री फरमाते हैं—'जिस तरह भंवरा एक-एक फूल से थोड़ा-थोड़ा रस लेता है और उसे पीड़ा नहीं होने देता है, उसी तरह से साधकों को भी आहार लेना चाहिए।' चरित्रवान मानव की अपनी विशिष्ट अवस्थिति और पहचान है। उसे नमक की उपमा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'चरित्रवान मानव नमक है, जो सारे संसार की सब्जी का जायका बदल देता है।' चक्की और कील के माध्यम से संसार और धर्म के सम्बन्ध को समझाते हुए आचार्य श्री फरमाते हैं—'संसार की चक्की में धर्म की कील है। यदि इस कील की शरण में आ जाओगे तो जन्म-मरण के पाटों से चकनाचूर होने से बच जाओगे।'

श्रीमन्तों को प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि उन्हें 'समाज की आँखों में काजल बनकर रहना चाहिए जो कि खटके नहीं, न कि कंकर बनकर जो खटकता हो।'

आचार्य श्री की सूक्तियाँ बड़ी सटीक और प्रेरक हैं। यथा—

१. आचरण भक्ति का सक्रिय रूप है।

२. कामना पर विजय ही दुःख पर विजय है।

३. शांति और क्षमा ये दोनों चारित्र के चरण हैं।

४. पोथी में ज्ञान है लेकिन आचरण में नहीं है तो वह ज्ञान हमारा सम्बल नहीं बन पाता।

५. जिसके मन में पर्दा है वहाँ सच्चा प्रेम नहीं है।

६. शास्त्र ही मनुष्य का वास्तविक नयन है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आचार्य श्री के प्रवचनों में कहीं आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार की दिव्य आनन्दानुभूति का उल्लास है तो कहीं समाज की विसंगतियों और विकृतियों पर किए जाने वाले प्रहार की ललकार है। उनमें जीवन और समाज को मोड़ देने की प्रबल प्रेरणा और अदम्य शक्ति है।

—सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता विभाग, राजस्थान वि. वि., जयपुर

सन्तन के दरबार में

भाई मत खेले तू माया रंग गुलाल सूं ।। टेर ।।

भाई हो रही होली, सन्त बसन्त की बहार में।
महाव्रत-पंचरंग फूल महक ले, भवि मधुकर गुंजार में ।। भाई. ।।

ज्ञान-गुलाल-लाल रंग उछरे, अनुभव अमलाकांतार में।
क्रिया-केसर रंग भर पिचकारी, खेले सुमति प्रिया संग प्यार में ।। भाई. ।।

जप तप-डफ-मृदंग-चंग बाजे, जिन-गुण गावे राग धमार में।
'सुजाण' या विधि-होली मची है, सन्तन के दरबार में ।। भाई. ।।

—मुनि श्री सुजानमलजी म. सा.

आत्म-वैभव के विकास हेतु—प्रार्थना

☐ डॉ० धनराज चौधरी

उपलब्ध आध्यात्मिक साहित्य को जब हम देखते हैं तो पूरी तरह प्रार्थना विषय को लेकर ही पुस्तकें नहीं के बराबर हैं, प्रार्थना पर कुछ छुट-पुट लेख मनीषियों के प्राप्य हैं मगर वे एक सामान्य साधक के लिए दुरूह, अस्पष्ट, अपूर्ण और अपर्याप्त हैं। उनसे प्रार्थी-इच्छुक का काम बनता नहीं—उसे जिज्ञासाओं का समाधान नहीं मिलता, उसे प्रार्थना करने की कोई आरंभिक उछाल भले ही मिल जाय परन्तु उस द्रव से नियमितता बनाये रखनेवाला ईंधन नहीं मिलता कि वांछित पौष्टिकता मिले और निरंतरता बनी रहे। सुमिरन, जप, भजन, शास्त्र, कीर्तन बहुत सी विविधताएँ उपलब्ध हैं कि जीव अपना आपा अरप सके, मन का संशय छूट सके, कर्मों का क्षय हो सके। अवश्य ही,

सभी रसायन हम करी, नहीं नाम सम कोय।
रंचक घट में संचरै, कंचन तव तन होय।।

दुनिया के सारे रसायनों को देख लिया, परन्तु नाम के बराबर कोई नहीं, उसकी एक बूंद भी यदि देह में रच जाय तो हमारा शरीर सोना हो जाय—जन्म लेना सार्थक हो जाय। अनूठेपन के लिए प्रसिद्ध मौलाना रूम फरमाते हैं—

'ई जहान जन्दां व माजन्दानियां।
हजरा कु जन्दां व खुद रा दार हां।।'

अर्थात् यह संसार कैदखाना है, इसमें हम कैद हैं, तू कैदखाने की छत में सुराख कर यहां से भाग छूट। निश्चय ही सुधि जन पदार्थ की कैद से परे हटना चाहता है मगर विविधताएँ इतनी हैं कि वह कभी-कभी तो अनजाने ही पुनः लिप्त हो जाता है। विधियां अनेक हैं, उन्हें दोष देना अनुचित है, हम ही भटक जाते हैं—क्षुद्रता में लक्ष्य को ओछा सीमित कर बैठते हैं। ऐसे में आगाह कौन करे, मूर्च्छा कैसे हटे?

धार्मिक साहित्य के पाठकों को एक ऐसी पुस्तक की जोरों से तलाश है जो

कि प्रार्थना, वंदना, विनती के प्रयोजन के लिए प्रेक्टिकल बुक की भांति हो। जिस पुस्तक में क्या करें, कैसे करें, क्यों नहीं करें और किस तरह करें आदि आधारभूत बातों पर लेखक के स्वयं के मौलिक अनुभव हों, वर्तमान उपभोक्ता संस्कृति में प्रार्थना-पत्र, लेखन कला या एप्लिकेशन राइटिंग पर जेबी किताबों से लेकर सजिल्द लम्बी-ठिगनी, पतली-मोटी खरीदार की गुंजाइश के अनुरूप पुस्तकें खूब मिल जायेंगी, खैर ! हमें प्रार्थनाओं का संकलन नहीं चाहिए, प्रार्थन के महत्त्व पर मन लुभावन या पाण्डित्य लिए उपदेश नहीं बल्कि प्रार्थना कर सकें, प्रयोगशाला स्वयं बन जायं कि प्रयोग कर सकें, उसकी सहज मगर सम्पूर्ण विवरणिका की टोह है। एकदम पारदर्शी कथन जैसा कि ईसा मसीह ने कहा है—'हम जो जानते हैं वही करते हैं और जिसे हमने देखा है उसी की गवाही देते हैं', या कि 'दादू देखा दीदा' सब कोई कहत सुनीदा'।

ईस्वी सन् १९६० के मार्च महीने में होली से जरा पहले मगर बसन्त की ताजगी से ओज प्राप्त किए प्रातःकालीन प्रवचन के उन श्रोताओं का जीवन धन्य हो उठा होगा जिन्होंने आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब के श्रीमुख से प्रार्थना विषय पर कहे गये शब्दों का रसपान किया होगा। आचार्य श्री के प्रभा मण्डल में बैठना अतीन्द्रिय कम्पनों से रोम-रोम जागृत हो जाना, गहन शांतिमयी व्यक्तित्व के ऐसे सद्गुरु से शिक्षित होना, जन्म-जन्मों के पुण्यों के प्रताप से ही संभव है। फिर भी उन प्रवचनों के साफ सुथरे संग्रह **"प्रार्थना प्रवचन"** जिसे सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर ने प्रकाशित किया है, का हाथ लग जाना, अच्छे प्रारब्ध का ही प्रतिफल है।

प्रार्थना को परिभाषित करते हुए महाराज साहब फरमाते हैं, "चित्तवृत्ति की तूली को परमात्मा के साथ रगड़ने का विधिपूर्वक किया जाने वाला प्रयास ही प्रार्थना है"। हमारी इच्छाएँ, मन के भटके आदि सांसारिक चीजों के साथ रगड़ खिला-खिला कर हमें लगातार शक्तिहीन किए जा रहे हैं, जरा सोचें, क्या हमने इसलिए जन्म पाया था कि हमारा लक्ष्य दुनियादारी के कबाड़े को इकट्ठा करना ही रह जाय। पंचभूतों की यह साधना-सामग्री, हमें पढ़ने हेतु जो उपलब्ध हुई थी, से अवसाद की कमाई लेकर फिर से साधारण बहुरूपिये की तरह कोई नया लिवास ओढ़ने को बाध्य हो जायं। महाराज सा० सावधान करते हैं—'अगर तूली को आगपेटी से रगड़ने के बदले किसी पत्थर से रगड़ा जाय तो कोई फल नहीं होगा बलिक उसकी शक्ति घट जायेगी। तूली और मानवीय चितवृत्ति में एक बड़ा अन्तर है कि माचिस का तेज तो जरा देर का होता है, परन्तु जब व्यक्ति के मन की अवस्था परमात्मा से रगड़ खाती है तो उससे जो तेज प्रकट होता है वह देश और काल की परिधि को तोड़ता हुआ असीम हो जाता है।' "पर्दा दूर करो" अध्याय से रहस्य खुलकर सामने आता है। आत्मा

के लिए सजातीय पदार्थ परमात्मा है और जड़ वस्तुएँ विजातीय हैं जो विष की भाँति हैं। सजातीय से मिलाप ही स्वाभाविक और स्थायी हो सकता है, इस हेतु महाराज साहब फरमाते हैं, "हमारी प्रार्थना का ध्येय है—जिन्होंने अज्ञान का आवरण छिन्न-भिन्न कर दिया है, मोह के तमस को हटा दिया है, अतएव जो वीतरागता और सर्वज्ञता की स्थिति पर पहुँचे हुए हैं, जिन्हें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल, अनन्त शांति प्राप्त हुई है, अनन्त सुख-सम्पत्ति का भण्डार जिनके लिए खुल गया है, उस परमात्मा के साण रगड़ खाना और इससे आशय है अपने अंतर की ज्योति जगाना"।

श्री तुलसी साहब की कुछ पंक्तियों का यहाँ याद आ जाना उपयुक्त ही जान पड़ता है—

जग जग कहते जुग भये, जगा न एको बार।
जगा न एको बार, सार कहो कैसे पावे।।
सोवत जुग जुग भये, संत बिन कौन जगावे।
पड़े भरम के मांहि, बंद से कौन छुड़ावे।।

वस्तुतः साधक की नींद टूट भी जाय तो अपराध बोध के मारे सांस घुट-घुट जाती है—मुझ में तो काम, क्रोध, मद, माया, मान, मोह आदि दोष भरे हुए हैं। मैं उस शिव स्वरूप सिद्ध स्वरूप से रगड़ कैसे खाऊँ? व्यावहारिकता के इस सशोपंज की स्थिति से घिरे हुए को महाराज सा० की आश्वस्ति है—"भाई, बात तुम्हारी सच्ची है, मैं अशुद्ध हूँ, कलंकित हूँ, कलमषग्रस्त हूँ, मगर यह भी सत्य है कि ऐसा होने के कारण ही यह प्रार्थना कर रहा हूँ। अशुद्ध न होता तो शुद्ध होने की प्रार्थना क्यों करता? जो शुद्ध है, बुद्ध है, पूर्ण है उसे प्रार्थना दरकार ही नहीं होती।"

निश्चय ही यहाँ प्रार्थी बड़े सुख का अनुभव करता है। होने की भावना उसमें उग आई कि प्रार्थना औषधि तो बनी ही मुझ रोगी के लिए है। दर्पण की भांति स्वच्छ हुआ प्रार्थी अब मानो हाथ जोड़े खड़ा है। पूछता हुआ—भगवन्! कृपा कर यह भी बता दीजिये कि प्रार्थना में करना क्या होता है? साफ सुथरी जिज्ञासा का सटीक ही समाधान उपलब्ध है प्रवचन में—"हमें किसी भाँति का दुराव-छिपाव न रखकर अपने चित्त को परमात्मा के विराट स्वरूप में तल्लीन कर देना है। किसी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। हमें तो परमात्मा के स्वरूप के साथ मिलकर चलना है"—

दिल का हुजरा साफ कर, जानां के आने के लिए।
ध्यान गैरों का उठा, उसको विठाने के लिए।।

कहीं यह भूल न पड़े कि मैं बड़ा ज्ञानी हूँ, बड़ा साधक हूँ, धनी हूँ, पदाधिकारी हूँ, अहंकार के ऐसे भाव हैं तो वे तूली के मसाले को गीला-नम करते हैं और तब हमारी मनोदशा परमात्मा के साथ वांछित शक्ति से रगड़ न खा पायेगी ताकि अन्दर की ज्योति प्रगट हो जाय।

यहाँ पीपाजी महाराज के एक पद को उद्धृत करना उचित जान पड़ता है जिसमें बाहरी प्रयत्नों को छोड़कर अपने अंदर की यात्रा के लिए साधक को उकसाया गया है—

कायउ देवा काइअउ देवल, काइअउ जंगम जाती,
काइअउ धूप दीप नइबेधा, काइअउ पूजा पाती।

काइआ बहुखण्ड खोजते, नवनिधि पाई,
ना कुछ आइबो ना कुछ जाइबो, राम की दुहाई।

जो ब्रह्माण्डे सोई पिण्डे जो खोजे सो पावै,
पीपा प्रणवै परम ततु है, सद्गुरु होई लखावै।

काया के अन्दर ही सच्चा देवता है, काया में ही हरि का निवास है, काया ही सच्चा यात्री है, काया ही धूप, दीप और प्रसाद है और काया में ही सच्चे फूल और पत्ते हैं। जिस वस्तु को जगह-जगह ढूंढते हैं वह काया के अन्दर मिलती है। जो अजर अविनाशी तत्त्व आवागमन से ऊपर है, वह भी काया के भीतर है। जो कुछ सारी सृष्टि में है वह सब कुछ काया के अन्दर भी है। पीपाजी कहते हैं परमात्मा ही असल सार वस्तु है। वह सार वस्तु सबके अंतर में विद्यमान है। पूरा सतगुरु मिल जाय तो वह उस वस्तु को अंदर ही दिखा देता है।

"प्राथना का अद्भुत आकर्षण" नाम अध्याय सोये हुए को जगाता ही नहीं बल्कि ऊर्जा से छलाछल भर देता है। आचार्य प्रवर वह गुर प्रदान करते हैं जिससे कि आत्मिक ऊष्मा रूबरू प्रकट हो जाय। किस प्रकार की प्रार्थना की जाय कि वह कारगर हो? निश्चय ही पहले तो बुहारी लगानी होगी कि साधक का अंतःकरण शांत, स्वच्छ और इन्द्रियाँ अपने वस में आ जायं। आचार्य श्री इस तैयारी के बाद प्रार्थी को सोदाहरण बताते हैं कि प्रार्थना में मांग हो तो भी कैसी? उदाहरण हैं मानतुंग आचार्य का निवेदन और चंदनवाला सती का द्रवित हो उठना। 'भक्तामर स्तोत्र' में, आओ मुझे बचाओ या मेरी जंजीरें काटो सी मांग नहीं है। तलघर से निकाली गई तीये के पारणे से पूर्व की चन्दनवाला सती के हाथ में दान देने के लिए बाकले हैं, उत्तम पात्र द्वार आये भी

मुड़कर जा रहे हैं बिना भिक्षा ग्रहण किये, अपनी ही किसी कमी को स्वीकारती चंदनबाला के नेत्र आर्द्र हुए और लो बरस पड़े—और भगवान प्रस्तुत हैं दान ग्रहण करने हेतु…रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'गीतांजलि' संग्रह में एक कविता है "विपदाओं से बचाओ ;" रविबाबू की विनती है—

'विपदाओं से मुझे बचाओ
यह प्रार्थना मैं नहीं करता।
प्रार्थना है, विपदाओं का भय न हो।
दुःख से पीड़ित हृदय को भले ही सांत्वना न दो,
पर शक्ति दो,
दुःखों पर हो मेरी विजय'
एक और भी कविता द्रष्टव्य है—
'विकसित करो,
हमारा अन्तरवर, विकसित करो, हे !
उज्ज्वल करो,
निर्मल करो,
सुन्दर कर दो, हे !
करो जाग्रत,
करो निर्भय,
करो उद्यत, निर्भय कर दो हे !

आप से "प्रार्थना प्रवचन" के पृष्ठ १२७ से कुछ निर्देश उद्धृत करने की अनुमति चाहता हूँ—'शब्दों का उच्चारण करते-करते इतना भावमय बन जाना चाहिए कि रोंगटे खड़े हो जायं। अगर प्रभु की महिमा का गान करें तो पुलकित हो उठें। अपने दोषों की पिटारी खोलें तो रुलाई आ जाय। समय और स्थान का खयाल भूल जाय—सुधबुध न रहे, ऐसी तल्लीनता, तन्मयता और भावावेश की स्थिति जब होती है तभी सच्ची और सफल प्रार्थना होती है।"

हिसाब लगायें तो आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज साहब ने समाज को जितना दिया उसके अंश का भी उल्लेख करें तो पर्याप्त समय चाहिए। टीका सहित प्रस्तुत करने में अच्छे शोध और श्रम की मांग है, 'पर स्वारथ के कारने संत लियौ औतार', महाराज सा० से प्रत्यक्ष बातचीत, प्रवचन या उनके कृतित्व से जो मूल स्वर प्राप्त होते हैं, उनमें से प्रमुख है परमतत्त्व का स्मरण। सूत्र कहें तो स्वाध्याय को मार्गदर्शक मानना और प्रेम ऐसा जैसे—

जल ज्यों प्यारा माछरी, लोभी प्यारा दाम।
माता प्यारा बालका, भक्त पियारा नाम ॥

मुझे उनके श्रीमुख से निकला सारतत्त्व सुनाई दिया था—नवकार मंत्र का पाठ करो। उनकी छवि का स्मरण करते मुझे जान पड़ता है कि मुंहपत्ती के पीछे जप करते हुए नहीं सी गति करते होठ हैं और तो और पूरी ही देह अजपा-जप कर रही है। प्रसादी में हमें प्रार्थना पकड़ाते हुए वे प्रतीत होते हैं। भाव-भूमि से लौट हम धरती की सांस लें तो मुझे विश्वास आता है कि उनका मिशन रहा—भटके जीव को सच्चे प्रार्थी में बदल देना—निज स्वरूप के प्रति व्यष्टि को सचेष्ट कर दें—उसे समस्त आधि, व्याधि दूर करने की जुगत बता दें—

भीखा भूखा कोई नहीं, सबकी गठरी लाल।
गिरह खोल न जानसी, ताते भये कंगाल॥

'मैं हूँ उस नगरी का भूप' नामक कविता ने कितना सबल कर दिया निराश्रित सी स्थिति में बैठे जीव को।

मैं न किसी से दबनेवाला, रोग न मेरा रूप।
'गजेन्द्र' निज पद को पहचाने, सो भूपों के भूप॥

प्रार्थना विषय पर दिये व्याख्यान सचमुच में निर्बल का बल है; एक अनाड़ी के लिए वह हितैषी पथप्रदर्शिका पुस्तक है, क्योंकि वह पुरुषार्थी बनाती है—"मेरे अन्तर भया प्रकाश, नहीं अब मुझे किसी की आश।"

मैं अपना निवेदन समाप्त करने से पूर्व कहना चाहता हूँ कि इन प्रवचनों से ईसा मसीह के ये उद्गार वास्तविकता बनकर हमारे सामने आते हैं—"जो कोई उस जल में से पियेगा, जो मैं उसे दूंगा, वह फिर कभी प्यासा न होगा। लेकिन वह जल जो मैं उसे दूंगा, उसके अंतर में जल का एक सोता बन जायेगा जो अनंत जीवन में उमड़ पड़ेगा।"

—एसोशियेट प्रोफेसर, भौतिक शास्त्र विभाग
राजस्थान वि० वि०, जयपुर

• अन्तःकरण से उद्भूत प्रार्थना ही सच्ची प्रार्थना है।

• वीतराग की प्रार्थना क्षीर सागर का मधुर अमृत है।

• प्रार्थना का प्राण भक्ति है।

—आचार्य श्री हस्ती
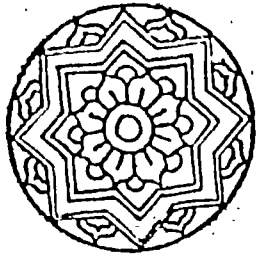
आचार्य श्री के साहित्य में साधना का स्वरूप

□ श्री केशरीकिशोर नलवाया

स्व. आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. के सत्साहित्य में और 'प्रार्थना प्रवचन' में आत्म-साधना के विषय में यत्र-तत्र बहुमूल्य विचार-बिन्दु बिखरे पड़े हैं जो पठनीय तो हैं ही आचरणीय भी हैं।

आचार्य श्री ने 'प्रार्थना प्रवचन' पृष्ठ १०२ पर निम्न विचार व्यक्त किये हैं—"आत्मा का सजातीय द्रव्य परमात्मा है। अतएव जब विचारशील मानव संसार के सुरम्य पदार्थों में और सुन्दर एवं मूल्यवान वैभव में शांति खोजते-खोजते निराश हो जाता है, तब उनसे विमुख होकर नितरते-नितरते पानी की तरह परमात्म स्वभाव में लीन होता है। वहीं उसे शांति और विश्रान्ति मिलती है।"

अनन्त काल के जिस क्षण में जड़-चेतन का संयोग हुआ होगा तब से अब तक यह आत्मा जन्म-मरण करते-करते थक गया है, श्रांत हो गया है इसलिये अब विश्रांति चाहता है। इसी बात को आचार्य श्री निम्न शब्दों में प्रकट करते हुए फरमाते हैं कि "जो आत्मा अनन्त काल से अपने स्वरूप को न समझने के कारण जड़भाव में बह रहा है, उसमें जो मुकुलिता आ गई है उसे जब परमात्मा के ध्यान से, चिन्तन से अपने वीतराग स्वरूप का ख्याल आता है तब उसकी सारी मुकुलित दशा समाप्त हो जाती है।" आत्मा अपूर्ण और परमात्मा पूर्ण है। जहाँ अपूर्णता है वहाँ प्यास है, ख्वाइश है, प्रार्थना है, अपूर्ण को जहाँ पूर्णता दिखती है, वहीं वह जाता है।"

साधना के मार्ग में जो रुकावटें आती हैं उनके निराकरण के बारे में आचार्य श्री कहते हैं कि—

"दर्पण साफ है लेकिन एक पतला सा भी कपड़ा आड़ा आ जाय तो उसमें वह चमक पैदा नहीं हो सकेगी। कपड़ा भी हटा दिया जाय और दर्पण उलटा रख दिया जाय तब भी उसमें चमक नहीं आयेगी। दर्पण सीधा है, फिर भी यदि वह स्थिर नहीं है और चलायमान है तो क्या बराबर किरणों को

फैला सकेगा ? नहीं। जब तक दर्पण में स्थिरता का अभाव है, मलिनता है और आवरण है, इन तीनों में से कोई भी दोष विद्यमान है, तब तक दर्पण सूर्य किरणों को ठीक तरह ग्रहण नहीं कर सकता।"

(प्रार्थना-प्रवचन, पृ. १०६)

दर्पण को मांजा नहीं। बिना मांजे दर्पण अपना तेज कैसे प्रगट कर सकता है ? इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रवर 'प्रार्थन-प्रवचन' पृष्ठ १०९ पर पुनः फरमाते हैं—"वीतराग स्वरूप के साथ एकाकार होने के साधन हैं—प्रार्थना, चिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग, संयम आदि। इन साधनों का आलम्बन करने से निश्चय ही वह ज्योति प्रकट होगी।" आत्मा को पतन के मार्ग पर धकेलने वाले दो प्रमुख कारण हैं—पहला अहं (मैं हूँ) और दूसरा ममकार (मेरा है)।

इसी बात को आचार्य श्री इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"आत्मा एक भाव है। यह खुद तिरने वाली है और दूसरों को तारने वाली है। लेकिन आत्मा रूपी नाव के नीचे छेद हुआ चाहना या कामना का। तब कर्मों का पानी नाव में आने लगा। नाव लबालब पानी से भर गई और डूब गई।"

(गजेन्द्र व्याख्यानमाला भाग ६ में पृष्ठ २८१)

इच्छा की बेल को काटे बिना और समभाव लाये बिना सुख की प्राप्ति हो नहीं सकती। "गजेन्द्र व्याख्यानमाला" भाग ६ में पृष्ठ २८५ पर आप बताते हैं—मन पुद्गल है, मन और जल का स्वभाव एक है। दोनों का स्वभाव नीचे जाने का है। राग में ममता है, आकर्षण है। द्वेष के साथ अहंकार जुड़ा है।" इसीलिये आचार्य श्री कहते हैं।

"ममता-विसर्जन से ही दुःख मिटता है। वस्तु मेरी नहीं, मेरी निश्रा में है" यही मानकर अपना जीवन व्यवहार कर।

पृ० २८८ पर आचार्य श्री आगे बतलाते हैं—

१. भौतिक वस्तु में ममता मत रखो।

२. विचार-शुद्धि साधना के लिये आवश्यक है।

३. शक्ति रहते त्याग करने में आनन्द है।

४. ज्ञान भाव पूर्वक राग का त्याग हो।

५. धन पराया है, रखवाली का काम अपना है।

६. मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण करो।

७. आगार धर्म को स्वीकार कर अणगार धर्म की तरफ बढ़ने का प्रयास करो।

८. बंध का कारण राग और बंध-मोचन का कारण विराग है।

पृ० १४१ पर आचार्य प्रवर फरमाते हैं—साधना तप प्रधान है। तपस्या में चिन्तन के लिये स्वाध्याय आवश्यक है। तप राग घटाने की क्रिया है। तप के साथ विवेक आवश्यक है। आध्यात्मिक साधना में दृढ़ संकल्पी होना, मत्सर भावना का त्याग करना और सम्यक्दृष्टि रखना साधक के लिये परम आवश्यक है।

—५२८/७, नेहरू नगर, इन्दौर

नश्वर काया

थांरी फूल सी देह पलक में, पलटे क्या मगरूरी राखे रे।
आतम ज्ञान अमीरस तजने, जहर जड़ी किम चाखे रे ॥ १ ॥

काल बली थांरे लारे पड़ियो, ज्यों पीसे त्यों फाके रे।
जरा मंजारी छल कर बैठी, ज्यों मूसा पर ताके रे ॥ २ ॥

सिर पर पाग लगा खुशबोई, तेवड़ा छोगा नाखे रे।
निरखे नार पार की नेणे, वचन विषय किम भाखे रे ॥ ३ ॥

इन्द्र धनुष ज्यों पलक में पलटे, देह खेह सम दाखे रे।
इण सूं मोह करे सोई मूरख, इम कहे आगम साखे रे ॥ ४ ॥

'रतनचन्द' जग इवे वर्था, फांदिए कर्म विपाके रे।
शिव सुख ज्ञान दियो मोय सतगुरु, तिण सुख री अभिलाखे रे ॥ ५ ॥

—आचार्य श्री रतनचन्दजी म. सा.
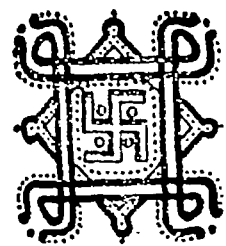
साधना, साहित्य और इतिहास के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान

□ श्री लालचन्द जैन

साधना का क्षेत्र :

जैन साधु-साध्वियों की दिनोंदिन हो रही कमी और भारत जैसे विशाल क्षेत्र में जनसंख्या के अनुपात में बढ़ रही जैनियों की संख्या के लिये जैन धर्म-दर्शन का प्रचार-प्रसार पूरा न हो सकने के कारण आचार्य प्रवर ने सोचा कि साधु-साध्वियों और गृहस्थों के बीच एक ऐसी शांति सेना को तैयार करना चाहिये जो प्रचारकों के रूप में देश के कोने-कोने में जाकर जैन धर्म-दर्शन का प्रचार-प्रसार कर सके। जब आचार्यश्री का चातुर्मास उज्जैन में था (लगभग सन् १९४३ का वर्ष) तब धार से एक श्रावक ने आकर कहा कि हमारे यहाँ कोई साधु-साध्वी नहीं है। यदि आप किसी को पर्युषण में व्याख्यान देने भेज सकें तो बड़ी कृपा होगी। उस समय मैं आचार्यश्री के पास रहकर जैन धर्म और प्राकृत भाषा का अध्ययन कर रहा था। आचार्यश्री ने मुझे आज्ञा दी कि मैं धार नगरी में जाकर पर्युषण करवाऊँ। यद्यपि मैं नया-नया था तथापि आचार्य श्री की आज्ञा को शिरोधार्य कर मैं गया और वहाँ पर्युषण की आराधना आचार्य श्री की कृपा से बहुत ही शानदार हुई। वहाँ के श्रावकजी ने वापस आकर आचार्य श्री को पर्युषण की जो रिपोर्ट दी उससे आचार्यश्री का स्वाध्याय संघ की प्रवृत्ति चलाने का विचार दृढ़ हो गया और दूसरे ही वर्ष भोपालगढ़ में स्वाध्याय संघ का प्रारम्भ हो गया।

आज तो देश के कोने-कोने में स्वाध्याय संघ की शाखाएँ खुल चुकी हैं। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल जयपुर के तत्त्वावधान में जैन स्थानकवासी स्वाध्याय संघ का मुख्य कार्यालय जोधपुर में कार्य कर रहा है। अनेक स्वाध्यायी भाई-बहिन देश के कोने-कोने में जाकर साधु-साध्वी रहित क्षेत्रों में पर्युषण की आराधना करवाते हैं। जब आचार्यश्री का चातुर्मास इन्दौर और जलगाँव में था तब इन्दौर में मध्यप्रदेश स्वाध्याय संघ की तथा जलगाँव में महाराष्ट्र स्वाध्याय संघ की स्थापना हुई। उसके बाद तो जैसे-जैसे आचार्य प्रवर का विहार होता गया, वैसे-वैसे उन-उन राज्यों में स्वाध्याय संघ की शाखाएँ खुलती गईं। आज तो कर्नाटक और तमिलनाडु जैसे दूरदराज के राज्यों में भी स्वाध्याय संघ की शाखाएँ हैं। साधना के क्षेत्र में स्वाध्याय को घर-घर में प्रचारित करने की आचार्यश्री की बहुत बड़ी देन है।

आचार्यश्री के पास जब भी कोई दर्शन करने आता तो आचार्यश्री का पहला प्रश्न होता "कोई धार्मिक पुस्तक पढ़ते हो ? कुछ स्वाध्याय करते हो ?" यदि दर्शनार्थी का उत्तर नहीं में होता तो उसे कम से कम १५ मिनिट स्वाध्याय का नियम अवश्य दिला देते ।

स्वाध्याय एक ऐसा आंतरिक तप है जिसकी समानता अन्य तप नहीं कर सकते । 'उत्तराध्ययन सूत्र' में महावीर ने फरमाया है—'सज्झाएणं समं तवो नावि अत्थि नावि होई ।' स्वाध्याय के समान तप न कोई है न कोई होगा । 'सज्झाए वा निउत्तेणं, सव्व दुक्ख विमोक्खणे ।' स्वाध्याय से सर्व दुःखों से मुक्ति होती है । 'बहु भवे संचियं खलु सज्झाएण खवेई ।' बहु संचित कठोर कर्म भी स्वाध्याय से क्षय हो जाते हैं । भूतकाल में जो अनेक दृढ़धर्मी, प्रियधर्मी, आगमज्ञ श्रावक हुए हैं, वे सब स्वाध्याय के बल पर ही हुए हैं और भविष्य में भी यदि जैन धर्म को जीवित धर्म के रूप में चालू रखना है तो वह स्वाध्याय के बल पर ही रह सकेगा । आज आचार्यश्री की कृपा से स्वाध्यायियों की शांति सेना इस कार्य का अंजाम देशभर में दे रही है ।

आचार्यश्री ने देखा कि लोग सामायिक तो वर्षों से करते हैं किन्तु उनके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होता । जीवन में समभाव नहीं आता, राग-द्वेष नहीं छूटता, क्रोध नहीं छूटता, लोभ नहीं छूटता, विषय-कषाय नहीं छूटता । इसका कारण यह है कि लोग मात्र द्रव्य सामायिक करते हैं । सामायिक का वेष पहनकर, उपकरण लेकर एक स्थान पर बैठ जाते हैं और इधर-उधर की बातों में सामायिक का काल पूरा कर देते हैं । अतः जीवन में परिवर्तन लाने के लिए आपने भाव सामायिक का उपदेश दिया । आप स्वयं तो भाव सामायिक की साधना कर ही रहे थे । आपका तो एक क्षण भी स्वाध्याय, ध्यान, मौन, लेखन आदि के अतिरिक्त नहीं बीतता था । अतः आपके उपदेश का लोगों पर भारी प्रभाव पड़ा । आपने सामायिक लेने के 'तस्स उत्तरी' के पाठ के अन्तिम शब्दों पर जोर दिया । सामायिक 'ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं' अर्थात् एक आसन से, मौन पूर्वक और ध्यानपूर्वक होनी चाहिये । यदि इस प्रकार भावपूर्वक सामायिक की जाय, सामायिक में मौन रखें, स्वाध्याय करें और आत्मा का ध्यान करें तो धीरे-धीरे अभ्यास करते-करते जीवन में समभाव की आय होगी, जिससे जीवन परिवर्तित होगा । इस प्रकार आपने भाव सामायिक पर अधिक बल दिया । आपके पास जो कोई आता, उससे आप पूछते कि वह सामायिक करता है या नहीं ? यदि नहीं करता तो उसे नित्य एक सामायिक या नित्य न हो सके तो कम से कम सप्ताह में एक सामायिक करने का नियम अवश्य दिलवाते ।

आज तो आचार्यश्री की कृपा से ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, में सामायिक संघ की स्थापना हो चुकी है और जयपुर में अखिल भारतीय सामायिक संघ का

कार्यालय इन सभी संघों को श्रृंखलाबद्ध कर भाव सामायिक का एवं जीवन में सामायिक से परिवर्तन लाने का प्रचार-प्रसार कर रहा है। साधना के क्षेत्र में आचार्यश्री की यह भी एक महान् देन है।

हस्ती गुरु के दो फरमान ।
सामायिक स्वाध्याय महान ।।

साधुओं और स्वाध्यायियों के मध्य सन्तुलन-समन्वय बनाये रखने के लिये कुछ ऐसे लोगों के संगठन की आवश्यकता महसूस हुई जो साधना के क्षेत्र में प्रगति कर रह हों, जो अपनी गृहस्थ जीवन की मर्यादाओं के कारण साधु बनने में तो असमर्थ हैं, फिर भी अपना जीवन बहुत ही सादगी से, अनेक व्रत-नियमों की मर्यादाओं से, शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापनपूर्वक साधना में बिताते हैं। ऐसे साधकों का एक साधक संगठन भी बनाया गया, जिसका मुख्य कार्यालय उदयपुर में श्री चाँदमलजी कर्णावट की देखरेख में चल रहा है। इस संघ की तरफ से वर्ष में कम से कम एक साधक-शिविर अवश्य लगता है जिसमें ध्यान, मौन, तप आदि पर विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है। इन्दौर, जलगाँव और जोधपुर में इन शिविरों में मैंने भी भाग लिया और मुझे इनमें साधक जीवन के विषय में अनेक बातें सीखने को मिलीं और चित्त को बड़ी शांति प्राप्त हुई।

यों तो आचार्य प्रवर का पूरा जीवन ही साधनामय था किन्तु उन्होंने अपने अन्तिम जीवन से लोगों को आत्म-साक्षात्कार की शिक्षा भी सोदाहरण प्रस्तुत करदी। यह साधना के क्षेत्र में गुरुदेव की हम सबके लिये सबसे बड़ी देन है। वे देह में रहते हुए भी देहातीत अवस्था को प्राप्त हो गये। उन्होंने यह प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया कि शरीर और आत्मा भिन्न है। शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है। शरीर मरता है, आत्मा नहीं मरती। जिसे यह भेदज्ञान हो गया है, वह निर्भय है। उसे मृत्यु से क्या भय ? उसके लिये मृत्यु तो पुराने वस्त्र का त्याग कर नये वस्त्र को धारण करने के समान है। उसके लिए मृत्यु तो महोत्सव है। समाधिमरणपूर्वक शरीर के मोह का त्याग कर, मृत्यु का वरण कर, गुरुदेव ने हमारे समक्ष देहातीत अवस्था का, भेदज्ञान का प्रत्यक्ष स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत कर दिया। यह साधना के क्षेत्र में गुरुदेव की सबसे बड़ी देन है।

साहित्य का क्षेत्र :

आचार्य प्रवर बहुत दूरदर्शी थे। जब उन्होंने देखा कि जैन धर्म की कोई उच्चकोटि की साहित्यिक पत्रिका नहीं निकलती जो गोरखपुर से निकलने वाले 'कल्याण' की तरह प्रेरक हो, तब उन्होंने भोपालगढ़ से **'जिनवाणी'** मासिक पत्रिका प्रारम्भ करने की प्रेरणा दी। यह पत्रिका दिनों द ी

गई। उसे भोपालगढ़ से जोधपुर लाया गया तब यह त्रिपोलिया में विजयमलजी कुम्भट के प्रेस में छपती थी और मैं इसका प्रवन्ध सम्पादक था। बाद में तो 'जिनवाणी' का सम्पादन डॉ० नरेन्द्र भानावत के सक्षम हाथों में जयपुर से होने लगा और इसने ऐसी प्रगति की कि आज यह जैन समाज में 'कल्याण' की तरह प्रतिष्ठित है। इसके 'कर्मसिद्धान्त' विशेषांक, 'अपरिग्रह' विशेषांक, 'जैन संस्कृति और राजस्थान' विशेषांक और अभी का 'श्रद्धांजलि विशेषांक' साहित्य जगत् में समादृत हैं। आज 'जिनवाणी' के हजारों आजीवन सदस्य बन चुके हैं देश में ही नहीं विदेश में भी। भारत के सभी विश्वविद्यालयों में यह पहुँचती है।

गुरुदेव स्वयं जन्मजात साहित्यकार और कवि थे। उन्होंने 'उत्तराध्ययन' सूत्र का प्राकृत भाषा से सीधा हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद किया है जो उनके कवि और साहित्यकार होने का बेजोड़ नमूना है। 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र पर उन्होंने हिन्दी में टीका लिखी है। वे प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी और गुजराती भाषाओं के विद्वान् थे। उनके व्याख्यान भी बहुत साहित्यिक होते थे। इसका प्रमाण **'गजेन्द्र व्याख्यान माला'** के सात भाग हैं। उन्होंने कई पद्य हिन्दी में लिखे हैं जो बहुत प्रसिद्ध हैं और अक्सर प्रार्थना सभा में गाये जाते हैं। इतना ही नहीं कि वे स्वयं साहित्यकार थे बल्कि उन्होंने सदैव कई लोगों को लिखने की प्रेरणा दी है। श्री रणजीतसिंह कूमट, डॉ० नरेन्द्र भानावत, श्री कन्हैयालाल लोढ़ा, श्री रतनलाल बाफना आदि कई व्यक्तियों ने अपनी 'श्रद्धांजलि' में यह स्वीकार किया है कि आचार्यश्री की प्रेरणा से ही उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया था। स्वयं मुझे भी गुजराती से हिन्दी अनुवाद की ओर लेखन की प्रेरणा पूज्य गुरुदेव से ही प्राप्त हुई। उन्हीं की महती कृपा से मैं 'उपमिति भव-प्रपंच कथा' जैसे महान् ग्रन्थ का अनुवाद करने में सफल हुआ। जिस व्यक्ति की गिरफ्तारी के दो-दो वारन्ट निकले हुए हों उसे वैरागी के रूप में आश्रय देकर उसे प्राकृत, संस्कृत, जैन धर्म और दर्शन का अध्ययन करवाना और लेखन की प्रेरणा देना गुरुदेव के साहित्य-प्रेम को स्पष्ट करता है। आचार्यश्री की कृपा से मुझे पं. दुःख मोचन जी झा से भी प्राकृत सीखने में काफी सहायता मिली किन्तु बाद में तो पंडित पूर्णचन्दजी दक जैसे विद्वान् के पास स्थायी रूप से रखकर जैन सिद्धान्त विशारद और संस्कृत विशारद तक की परीक्षाएँ दिलवाने की सारी व्यवस्था पूज्य गुरुदेव की कृपा से ही हुई। मात्र मुझे ही नहीं उन्होंने अपने जीवन में इसी प्रकार कई लोगों को लिखने की प्रेरणा दी थी। ऐसे थे साहित्य-प्रेमी हमारे पूज्य गुरुदेव !

• साहित्यकारों को अपने साहित्य के प्रकाशन में बड़ी कठिनाई होती है। इसलिए आचार्यश्री की प्रेरणा से जयपुर में सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल की

स्थापना हुई जिससे '**जिनवाणी**' के साथ-साथ आध्यात्मिक सत्साहित्य प्रकाशित होता है।

जैन विद्वानों का कोई संगठन नहीं होने से विद्वान् प्रकाश में नहीं आ रहे थे और उनकी विचारधारा से जन-साधारण को लाभ प्राप्त नहीं हो रहा था। अतः आचार्य प्रवर की प्रेरणा से जयपुर में डॉ० नरेन्द्र भानावत के सुयोग्य हाथों में अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् की स्थापना की गई जिसकी वर्ष में कम से कम एक विद्वत् संगोष्ठी अवश्य होती है। इससे कई जैन विद्वान् प्रकाश में आये हैं और ट्रैक्ट योजना के अन्तर्गत १०१ रुपये में १०८ पुस्तकें दी जाती हैं। इस योजना में अब तक ८३ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

इसके अतिरिक्त स्वाध्यायियों को विशेष प्रशिक्षण घर बैठे देने के लिये आचार्यश्री की प्रेरणा से '**स्वाध्याय शिक्षा**' द्वैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी हो रहा है जिसमें प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी विभाग हैं। इस पत्रिका में प्राकृत और संस्कृत पर अधिक बल दिया जाता है और प्रत्येक अंक में प्राकृत भाषा सीखने के नियमित पाठ प्रकाशित होते हैं।

गुरुदेव की प्रेरणा से अखिल भारतीय महावीर जैन श्राविका संघ की भी स्थापना हुई और महिलाओं में ज्ञान का विशेष प्रकाश फैलाने के लिए 'वीर उपासिका' पत्रिका का प्रकाशन मद्रास से प्रारम्भ हुआ जिसमें अधिकांश लेख मात्र महिलाओं के लिए ही होते थे।

आज के विद्यार्थी ही भविष्य में साहित्यकार और विद्वान बनेंगे अतः विद्यार्थियों के शिक्षा की उचित व्यवस्था होनी चाहिये। इसी उद्देश्य से भोपालगढ़ में जैन रत्न उच्च माध्यमिक विद्यालय और छात्रावास की स्थापना की गई जिससे निकले हुए छात्र आज देश के कोने-कोने में फैले हुए हैं। इस विद्यालय के परीक्षाफल सदैव बहुत अच्छे रहे हैं।

इतिहास का क्षेत्र :

इतिहास लिखने का कार्य सबसे टेढ़ा है क्योंकि इसमें तथ्यों की खोज करनी पड़ती है और प्रत्येक घटना को सप्रमाण प्रस्तुत करना होता है। फिर एक संत के लिए तो यह कार्य और भी कठिन है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों और शिलालेख आदि को ढूंढ़ने के लिए प्राचीन मंदिरों, गुफाओं, ग्रन्थ आदि की खाक छाननी पड़ती है जो एक सन्त के लिए इसलिए कठिन है कि वाहन का उपयोग नहीं कर सकता।

फिर भी गुरुदेव ने इस कठिन कार्य का बीड़ा उठाया और उसे यथाशक्य प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया। भगवान ऋषभदेव से लेकर वर्तमानकाल तक का प्रामाणिक जैन इतिहास लिखना कोई बच्चों का खेल नहीं था, किन्तु आचार्य प्रवर ने अपनी तीक्ष्ण समीक्षक बुद्धि और लगन से इस कार्य को पूरा कर दिखाया और करीब हजार-हजार पृष्ठों के चार भागों में जैन इतिहास (मध्य-काल तक) लिखकर एक अद्भुत साहस का कार्य किया है।

इस इतिहास-लेखन के लिए आचार्य प्रवर को कितने ही जैन ग्रन्थ भंडारों का अवलोकन करना पड़ा। कितने ही मंदिरों और मूर्तियों के अभिलेख पढ़ने पड़े। आचार्य प्रवर का गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तामिलनाडु, राजस्थान, मध्यप्रदेश, दिल्ली में जहाँ कहीं भी विहार हुआ, स्थान-स्थान पर प्राचीन ग्रन्थ भंडारों एवं मंदिरों में हस्तलिखित ग्रन्थों एवं शिलालेखों का शोधकार्य सतत चलता ही रहा। विश्राम करना तो पूज्य गुरुदेव ने सीखा ही नहीं था। सूर्योदय से सूर्यास्त तक निरन्तर लेखन कार्य, संशोधन कार्य आदि चलता रहता था।

इतना कठिन परिश्रम करने पर भी लोंकाशाह के विषय में प्रामाणिक तथ्य नहीं मिल रहे थे। अतः मुझे लालभाई दलपत भाई भारतीय शोध संस्थान अहमदबाद में लोंकाशाह के बिषय में शोध करने के लिए मालवणियाजी के पास भेजा। मैंने वहाँ लगातार छः महीने रहकर नित्य प्रातः १० बजे से ४ बजे तक अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों का अवलोकन किया और श्री मालवणियाजी के सह-योग से लोंकाशाह और लोंकागच्छ के विषय में जो भी प्रमाण मिले, उनकी फोटो कापियां बनवाकर जैन इतिहास समिति, लाल भवन, जयपुर को भेजता रहा। इसी से अंदाज लगाया जा सकता है कि इतिहास लेखन का कार्य कितना श्रमपूर्ण रहा होगा। आचार्यश्री ने वह कार्य कर दिखाया है जिसे करना बड़े-बड़े धुरंधर इतिहासविदों के लिये कठिन था।

भावी पीढ़ी जब भी इस इतिहास को पढ़ेगी वह आचार्यश्री को उनकी इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक देन के लिए याद किये बिना नहीं रह सकेगी।

—१०/५९५, नन्दनवन नगर, जोधपुर

- मनुष्य को तात तप्त अवस्था से उबारना अखिलात्मा पुरुष की सबसे बड़ी साधना है।

- इतिहास मनुष्य की तीसरी आँख है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

आत्म-साधना और आचार्य श्री

☐ डॉ० प्रेमचन्द रांवका

भारतीय आत्म साधक मनीषियों ने अपनी उत्कट त्याग, तपस्या एवं साधना से प्रसूत अनुभवों से यह सिद्ध किया है—

नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं लोके, मुक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ।।

इस संसार में प्रथम तो नर-जन्म पाना ही दुर्लभ है और यदि किन्हीं सुकृतों से नर-भव पा भी लिया तो विद्या प्राप्ति और भी दुर्लभ है, यदि विद्वान् भी बन गये तो काव्य-सृजन दुर्लभ है, यदि ऐसा भी हो जाय तो इस संसार से आवागमन से सदा-सदा के लिये मुक्ति प्राप्त करना तो अत्यन्त ही दुर्लभ है।

यह सुनिश्चित है कि ८४ लाख योनियों में भटकते-भटकते मानव जीवन की प्राप्ति उसी प्रकार दुर्लभ है, जिस प्रकार चौराहे पर/राजमार्ग पर स्वर्ण राशि का मिलना अत्यन्त कठिन है। इसीलिये संत, भक्त कवयित्री मीरा ने गाया—'का जाणूं कुछ पुण्य प्रगटा मानुषा अवतार।' परन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति के लिये क्यों प्रयत्न किया जावे—प्रयत्न तो दुर्लभ वस्तु के लिये ही होता है।

हमें किन्हीं पूर्वोदय पुण्य कर्मो से मानव जीवन मिला है तो इस जीवन के प्रति पल-प्रतिक्षण का सदुपयोग आवश्यक है। क्योंकि मानव जीवन ही अन्य सब गतियों से श्रेष्ठ है—आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये क्रियाएँ तो मनुष्य और पशु दोनों करते हैं, परन्तु आत्म-साधना परम धर्म ही ऐसा है जो मानव को प्रभु से भिन्न करता है। इस दुर्लभ मानव जन्म को प्राप्त करने के लिये देवता भी लालायित रहते हैं। क्योंकि इस जीवन के माध्यम से ही तप, त्याग द्वारा अचल सौख्य धाम प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये 'छह ढाला' के रचयिता कविवर श्री दौलतरामजी कहते हैं—

"दौल समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवे।
यह नर भव फिर मिलत कठिन है, सो सम्यक् मती होवे ।।"

जैन धर्म-दर्शन में आत्म-साधना के लिये कोई निश्चित समय की सीमा निर्धारित नहीं है। यद्यपि भारतीय संस्कृति में मनुष्य की १०० वर्ष की आयु मानकर २५-२५ वर्ष के अन्तराल से चार आश्रमों का निर्धारण कर चार पुरुषार्थों की प्राप्ति की बात कही गयी है, कविवर कालिदास कहते हैं।

"शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां, यौवने विषयेषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।"

परन्तु जैन कवि कहता है—

"बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो।
अर्द्ध मृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखे अपनो।।'

जैन संस्कृति में आत्म-साधना के लिये कोई आयु का बन्धन नहीं है। बाल्यावस्था में भी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग हो जाता है। जैन धर्म के तीर्थंकर आचार्य साधु-साध्वियों का जीवन इस तथ्य का जीवन्त प्रमाण है। प्रातः स्मरणीय पूज्य आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने तो १० वर्ष की अत्यल्प आयु में मुनि दीक्षा धारण कर आत्म-साधना के कठोर मार्ग का अवलम्बन लिया और २० वर्ष की प्रारम्भिकी युवावस्था में आचार्य पद ग्रहण कर आत्म कल्याण के साथ समाज को भी सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया।

"स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः कोवा न जायते।। पंचतंत्र।।"

आचार्य श्री वस्तुतः कुल दीपक थे। जैन कुल नहीं, मानव कुल के, इसीलिये वे मानवोत्तम थे। नर-जन्म की सार्थकता को उन्होंने अनुभूत किया, अपनी आत्म-साधना से प्राप्त फल का आस्वादन उन्होंने हमें भी कराया—जो उनके विशाल कृतित्व के रूप में विद्यमान है। ऐसे आत्म-साधकों के दर्शन व सान्निध्य बड़े भाग्य से मिलते हैं—

"साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूताः हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थः, साधुः सद्यः समागमः।।
चन्दनं शीतलं लोके, चन्दनादपि चन्द्रमाः।
चन्द्र चन्दनयोर्मध्ये, शीतला साधु संगतिः।।'

जैन धर्म की सामाजिक व्यवस्था की सबसे बड़ी देन 'चतुः संघ' की स्थापना है। जैनचार्यों ने साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका को चतुःसंघ का

नाम दिया है। जहाँ ये चारों अस्तित्वशील हैं, धर्म तीर्थ प्रवाहमय रहेगा। साधु-साध्वी त्यागी वर्ग है, श्रावक-श्राविका गृही हैं। जैन धर्म के पथ में ये दो वर्ग बराबर रहते हैं। जैसे नदी दो तटों के बीच बहती हुई समुद्र तक चली जाती है, वैसे ही धर्म के ये दो तट हैं। इनके द्वारा प्रवाहित हुआ धर्म परम धाम सिद्धालय तक पहुँच जाता है। जहाँ साधु-साध्वीगण हैं वह समाज आदर्श रूप होगा। साधु-स्वयं आत्म-साधक बन समाज को भी उस ओर प्रेरित करता है। इस दृष्टि से साधु-समाज दोनों मिलकर राष्ट्र की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति में भागीदार होते हैं।

पं. आशाधरसूरि 'सागार धर्मामृत' में कहते हैं—आत्म-साधना के मार्ग में सज्जनों को प्रेरित करें। जैसे पुत्र के अभाव में वंश के चलाने के लिये दत्तक पुत्र लिया जाता है, उसी प्रकार धर्म संघ संचालन के लिये त्यागी-साधुओं की आवश्यकता है। क्योंकि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना'—धार्मिक समाज के विना धर्म की अवस्थिति नहीं। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर आज तक साधु व समाज की अव्याबाध अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही है। और जब तक दीक्षा-शिक्षा की परम्परा समाज में चलती रहेगी, धर्म भी अव्याबाध गति से चलता रहेगा।

भारतीय धर्म-दर्शनों में—चार्वाक के 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्, भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः' को छोड़कर—सभी दर्शनों में आत्म-ज्ञान को इतर भौतिक ज्ञानों से सर्वोपरि व सर्वश्रेष्ठ माना है। उपनिषद् तो आत्म-ज्ञान के ही विवेचक ग्रंथ हैं। 'आत्मानं विद्धि' प्रमुख सूत्र है। नीतिकार कहते हैं—

"लब्धा विद्या राजमान्या ततः किं, प्राप्ता सम्पद्वैभवाद्या ततः किम्।
भुक्ता नारी सुन्दराङ्गी ततः किं, येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्।।"

याज्ञवल्क्य ऋषि से मैत्रेयी ने निवेदन किया—भगवन्! जिस वस्तु को आप छोड़ रहे हैं, क्या उससे हमारी आत्मा का हित हो सकता है? यदि नहीं तो हम उसे क्यों ग्रहण करें? हम भी आपके साथ ही आत्म-साधना में रहेंगे। आ. वादीभसिंह कहते हैं—

"कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किं प्राप्यः किं निमित्तकः।
इत्यूहं प्रत्यूहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत्।।"

जो मनुष्य प्रातः एवं रात्रि को सोते समय (त्रिकाल संध्या, नमाज) प्रतिदिन इस प्रकार अपनी अवस्थिति पर विचार करते हैं,

मति उन्मार्गगामी नहीं होती—'गीता' में कृष्ण भी आत्म-साधना की महत्ता बताते हैं—

> "उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत् ।
> आत्मैवात्मनो बन्धु रात्मैवरिपुरात्मनः ।।"

आत्म ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय है । आत्म-साधना में ज्ञान और भक्ति दोनों सहायक हैं । 'ज्ञानमेव पराशक्तिः' । अज्झमणमेवझाणं—ज्ञान/स्वाध्याय तप है । स्वाध्यान्मा प्रमदः । ज्ञान/ध्यानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् करुते क्षणः । जिस प्रकार धागे सहित सुई कहीं खोती नहीं, वैसे ही ज्ञान युक्त आत्मा । संसार में भटकता नहीं है । ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय स्वाध्याय से ही होता है ।

आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज ने अपने महनीय व्यक्तित्व एवं कृतित्व के द्वारा आत्म-साधना के मार्ग को साधु और श्रावक दोनों के लिये प्रशस्त किया । अपने सुदीर्घ तपस्या एवं त्याग से उन्होंने आत्म-साधना के उच्च आयाम को पाकर अपने प्रवचनों एवं साहित्य-लेखन द्वारा जन-सामान्य को सम्बोधित कर सन्मार्ग पर लगाया । उनकी 'प्रार्थना-प्रवचन' पुस्तक में आत्म-साधना हेतु ज्ञान एवं भक्ति के माध्यम से पदे-पदे पाठकों को सुकर मार्ग मिलता है । वस्तुतः प्रार्थना पर दिये गये ये प्रवचन मोक्ष मार्ग में पाथेय स्वरूप हैं । इनमें आचार्य श्री ने जीवन में प्रार्थना की उपादेयता पर विभिन्न उदाहरणों/दृष्टान्तों से आत्म-साधना में सहायक तत्त्वों को साधक-जिज्ञासु के लिये सहज रूप में प्रस्तुत किया है । प्रातः कालीन आदिनाथ स्तुति मानव-मात्र को सुख-शान्ति के साथ आत्म-ध्यान के पथ पर आरूढ़ करती है । आत्मा को परमात्मा से जोड़ने के मार्ग में आचार्य श्री के ये प्रवचन आत्म-साधक के लिये निश्चित ही अत्यन्त उपादेय हैं । आत्म-साधना में प्रार्थना, ध्यान और भक्ति आत्मा को निर्मलता प्रदान करती है ।

—१९१०, खेजड़े का रास्ता, जयपुर-३०२ ००१

☐ संसार-मार्ग में मनुष्य को अपने से श्रेष्ठ अथवा अपने जैसा साथी न मिले तो वह दृढ़तापूर्वक अकेला ही चले, परन्तु मूर्ख की संगति कभी न करे ।

—धम्मपद
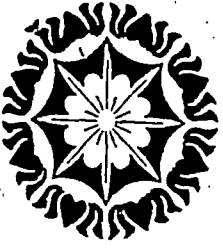
साधना का स्वरूप और आचार्य श्री की साधना

□ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

साधना का स्वरूप व प्रकार :

खाना, पीना, देखना, सुनना, विलास करना आदि द्वारा क्षणिक सुखों का भोग तथा कामना अपूर्त्तिजन्य दुःख का वेदन तो मनुष्येतर प्राणी भी करते हैं। मनुष्य की विशेषता यही है कि वह दुःख रहित अक्षय-अखंड-अनंत सुख का भी भोग कर सकता है। जो मनुष्य ऐसे सुख के लिए प्रयत्नशील होता है, उसे ही साधक कहा जाता है। आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ऐसे ही एक उत्कृष्ट साधक थे। यह नियम है कि दुःख मिलता है—असंयम, कामना, ममता, अहंता, राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, विषय, कषाय आदि दोषों से और सुख मिलता है—क्षमा, मैत्री, निरभिमानता, विनम्रता आदि सद्गुणों से। अतः दुःख रहित सुख पाने का उपाय है दोषों की निवृत्ति एवं गुणों की अभिव्यक्ति। दोषों की निवृत्ति को निषेधात्मक साधना एवं गुणों की अभिव्यक्ति व क्रियान्विति को विधि-आत्मक साधना कहा जाता है। साधना के ये दो ही प्रमुख अंग हैं—(१) निषेधात्मक साधना और (२) विधि-आत्मक साधना। निषेधात्मक साधना में जिन दोषों का त्याग किया जाता है उन दोषों के त्याग से उन दोषों से विपरीत गुणों की अभिव्यक्ति साधक के जीवन में सहज होती है, वही विधि-आत्मक साधना कही जाती है। जैसे वैर के त्याग से निर्वैरता की उपलब्धि निषेधात्मक साधना है और मित्रता की अभिव्यक्ति विधि-आत्मक साधना है। जैसा कि 'आवश्यक सूत्र' में कहा है—"मित्ति मे सव्व भूएसु, वैरं मज्झं न केणइ।" अर्थात् मेरा सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है, किसी भी प्राणी के प्रति वैरभाव नहीं है। यहाँ वैरत्याग व मैत्रीभाव दोनों कहा है। इसी प्रकार हिंसा के त्याग से हिंसा-रहित होना निषेधात्मक साधना है और दया, दान, करुणा, वात्सल्य आदि सद्गुणों की अभिव्यक्ति विधि-आत्मक साधना है। मान के त्याग से निरभिमानता की उपलब्धि निषेधात्मक साधना है और विनम्रता का व्यवहार विधि-आत्मक साधना है। लोभ के त्याग से निर्लोभता की उपलब्धि निषेधात्मक साधना है और उदारता की अभिव्यक्ति विधि-आत्मक साधना है इत्यादि।

साधना का महत्त्व :

यह नियम है कि निषेधात्मक साधना के परिपक्व होते ही विधि-आत्मक साधना स्वतः होने लगती है। यदि साधक के जीवन में विधि-आत्मक साधना की अभिव्यक्ति नहीं होती है तो समझना चाहिये कि निषेधात्मक साधना परिपक्व नहीं हुई है। यही नहीं, विधि-आत्मक साधना के बिना निषेधात्मक साधना निष्प्राण है। ऐसी निष्प्राण निषेधात्मक साधना अकर्मण्य व कर्तव्यहीन बनाती है जो फिर अकर्तव्य के रूप में प्रकट होती है। साधक के जीवन में साधना के निषेधात्मक एवं विधि-आत्मक इन दोनों अंगों में से किसी भी अंग की कमी है तो यह निश्चित है कि दूसरे अंग में भी कमी है। अथवा यह कहा जा सकता है कि निषेधात्मक साधना के बिना विधि-आत्मक साधना अधूरी है और विधि-आत्मक साधना के बिना निषेधात्मक साधना अधूरी है। अधूरी साधना सिद्धिदायक नहीं होती है। अतः साधक के जीवन में साधना के दोनों ही अंगों की परिपक्वता-परिपूर्णता आवश्यक है। वही सिद्धिदायक होती है।

इसी तथ्य को अध्यात्मज्ञान और मनोविज्ञान इन दोनों को मिलाकर कहे तो यों कहा जा सकता है कि इन्द्रिय-असंयम, कषाय आदि दोषों (पापों) के त्याग रूप निषेधात्मक साधना से आत्म-शुद्धि होती है और उस आत्म-शुद्धि की अभिव्यक्ति जीवन में सत्मन, सत्य वचन, सत्कार्य रूप सद्प्रवृत्तियों-सद्गुणों में होती है, यही विधि-आत्मक साधना है। इसी विधि-आत्मक साधना को जैन-दर्शन में शुभ योग कहा गया है और शुभ योग को संवर कहा है। अतः शुभ योग आत्म-शुद्धि का ही द्योतक है। कारण कि अध्यात्म एवं कर्म-सिद्धान्त का यह नियम है कि जितना-जितना यह कषाय घटता जाता है उतनी-उतनी आत्म-शुद्धि होती जाती है—आत्मा की पवित्रता बढ़ती जाती है। जितनी-जितनी आत्म-शुद्धि बढ़ती जाती है, उतना-उतना योगों में—मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों में शुभत्व बढ़ता जाता है। प्रवृत्तियों का यह 'शुभत्व' शुद्धत्व (शुद्धभाव) का ही अभिव्यक्त रूप है। शुद्धत्व भाव है और शुभत्व उस शुद्धभाव की अभिव्यक्ति है। इस शुभत्व एवं शुद्धत्व की परिपूर्णता में ही सिद्धि की उपलब्धि है।

आचार्य श्री की साधना व प्रेरणा :

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. के जीवन में साधना के दोनों अंग—अर्थात् निषेधात्मक साधना एवं विधि-आत्मक साधना—परिपुष्ट परिलक्षित होते हैं। उनके साधनामय जीवन में दिन के समय विधि-आत्मक साधना की और रात्रि के समय निषेध-आत्मक साधना की प्रधानता रहती थी। दिन में सूर्योदय होते ही आचार्य प्रवर स्वाध्याय, लेखन, पठन-पाठन, उद्बोधन आदि किसी न किसी सद्प्रवृत्ति में लग जाते थे और यह क्रम सूर्यास्त तक चलता रहता था।

'खण निकमो रहणो नहिं, करणो आतम काज' अर्थात् 'साधना में क्षण मात्र का भी प्रमाद न करना' यह सूत्र आचार्य श्री की साधना का मूलमंत्र था। स्वर्गवास के कुछ मास पूर्व तक स्वस्थ अवस्था में आचार्य श्री ने दिन में निद्रा कभी नहीं ली। वे स्वयं तो किसी न किसी सद्प्रवृत्ति में लगे ही रहते थे साथ ही अपने पास बैठे दर्शनार्थियों को भी स्वाध्याय, जप, लेखन आदि किसी न किसी सद्प्रवृत्ति में लगा देते थे। किसी का समय विकथा व सावद्य (दूषित) प्रवृत्ति में न जाने पावे, इसके प्रति वे सदा सजग रहते थे। आगन्तुक दर्शनार्थी को आते ही उसकी साधना कैसी चल रही है तथा उसके ग्राम में धर्म-ध्यान कितना हो रहा है, यह पूछते थे। फिर उसे उसकी पात्रता के अनुसार आगे के लिए साधना करने की प्रेरणा देते थे। कौनसा व्यक्ति किस प्रकार की साधना का पात्र है, इसके आचार्य श्री विलक्षण परखैया थे। जो जैसा पात्र होता उसे वैसी ही साधना की ओर आगे बढ़ाते थे। धनवानों व उद्योगपतियों को परिग्रह-परिमाण करने एवं उदारतापूर्वक दान देने की प्रेरणा देते थे। उनके बच्चों को दुर्व्यसनों का त्याग कराते एवं सामायिक-स्वाध्याय करने का व्रत दिलाते। विद्वानों को लेखन-चिंतन की व अनुसंधान-अन्वेषण की प्रेरणा देते थे। श्राविकाओं को गृहस्थ के कार्य में हिंसा, अपव्यय, अखाद्य से कैसे बचें, बच्चों को सुसंस्कारित कैसे बनायें, मार्ग-दर्शन करते थे। सामान्य जनों एवं सभी को स्वाध्याय व सामायिक की प्रेरणा देते नहीं थकते थे। साधक साधना पथ पर आगे बढ़े एतदर्थ ध्यान-मौन, व्रत-प्रत्याख्यान, त्याग-तप की प्रेरणा बराबर देते रहते। आपकी प्रेरणा के फलस्वरूप सैंकड़ों स्वाध्यायी, वीसों लेखक, अनेक साधक व कार्यकर्ता तैयार हुए, बीसों संस्थाएँ खुलीं। इस लेख के लेखक का लेखन व सेवा के क्षेत्र में आना आचार्य श्री की कृपा का ही फल है।

आचार्य श्री का विधि-आत्मक साधना के बीच में समय-समय पर ध्यान, मौन, एकान्त आदि निषेधात्मक साधना का क्रम भी चलता रहता था यथा—आचार्य श्री के हर गुरुवार, हर मास की बदि दशमी, हर पक्ष की तेरस, प्रतिदिन मध्याह्न में १२ बजे से २ बजे तक तथा प्रातःकाल लगभग एक प्रहर तक मौन रहती थी। मध्याह्न में १२ बजे से लगभग एक मुहूर्त्त का ध्यान नियमित करते रहे। आचार्य श्री की यह मौन-ध्यान आदि की विशेष साधना चिंतन, मनन, लेखन आदि विधि-आत्मक साधना के लिए शक्ति देने वाली व पुष्ट करने वाली होती थी। आचार्य श्री रात्रि में प्रतिक्रमण व दिन में आहार-विहार के शुद्धिकरण के पश्चात् 'नंदीसूत्र' आदि किसी आगम का स्वाध्याय, जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान, कल्याण मन्दिर आदि स्तोत्र से भगवद्भक्ति आदि धर्म-साधना नियमित करते थे। रात्रि को अत्यल्प निद्रा लेते थे। रात्रि में अधिकांश समय ध्यान-साधना में ही रत रहते थे। आशय यह है कि आचार्य श्री सारे किसी न किसी प्रकार की साधना में निरंतर निरत रहते थे।

आचार्य श्री की जप, स्वाध्याय, लेखन, पठन-पाठन, प्रवचन, चिंतन, मनन आदि विधि-आत्मक साधना का लक्ष्य भी राग-द्वेष, विषय-कषाय पर विजय पाना था और निषेधात्मक साधना का लक्ष्य भी यही था। आपकी विधि-आत्मक साधना निषेधात्मक साधना को पुष्ट करने वाली थी और निषेधात्मक साधना से मिली शक्ति व स्फूर्ति विधि-आत्मक साधना को पुष्ट करने वाली थी। इस प्रकार विधि-आत्मक एवं निषेधात्मक ये दोनों साधनाएँ परस्पर पूरक, पोषक व वीतरागता की ओर आगे बढ़ाने में सहायक थीं। आचार्य श्री की साधना उनके जीवन की अभिन्न अंग थी। जीवन ही साधना था, साधना ही जीवन था। आचार्य श्री ने साधना कर अपने जीवन को सफल बनाया। इसी मार्ग पर चलने, अनुकरण व अनुसरण करने में ही हमारे जीवन की सार्थकता व सफलता है।

—अधिष्ठाता, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान
ए-९, महावीर उद्यान पथ, बजाज नगर, जयपुर—३०२ ०१७

अमृत-करण

• सामायिक अर्थात् समभाव उसी को रह सकता है, जो स्वयं को प्रत्येक भय से मुक्त रखता है। —सूत्रकृतांग

• जिस प्रकार पुष्पों की राशि में से बहुत सी मालाएँ बनाई जा सकती हैं, उसी प्रकार संसार में जन्म लेने के बाद मनुष्य को चाहिए कि वह शुभ कार्यों की माला गूंथे। —धम्मपद

• जिसका वृत्तान्त सुनकर, जिसको देखकर, जिसका स्मरण करके समस्त प्राणियों को आनन्द होता है, उसी का जीवन शोभा देता है—अर्थात् सफल होता है। —योगवशिष्ठ
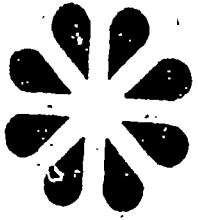
आचार्य श्री की देन : साधना के क्षेत्र में

☐ श्री चांदमल कर्णावट

पू० आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० की साहित्य, धर्म, दर्शन, इतिहास, साधना, स्वाध्याय, व्यसनमुक्ति एवं समाज-संगठन आदि क्षेत्रों में महनीय देन रही है। इसे जैन समाज व सामान्य जनसमुदाय कभी नहीं भुला सकेगा। जन-जन के मनमानस पर आचार्यश्री की उत्कृष्ट साधुता एवं आदर्श संयमी जीवन की एक अमिट छाप सदा बनी रहेगी। 'जैन धर्म के मौलिक इतिहास' के मार्ग-दर्शक आचार्य श्री हस्ती स्वयं अपना इतिहास गढ़ गये हैं, जो सदा सर्वदा आदरणीय, स्मरणीय एवं उल्लेखनीय रहेगा।

आचार्यश्री उच्चकोटि के योगी थे और थे साधना के आदर्श। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना तो उनका जीवन थी। उनके जीवन और मरण में साधना जैसे रम गई थी। वे साधनामय बन गये थे। कितना अप्रमत्त था उनका जीवन। ध्यान, मौन, जप, तप, स्वाध्याय आदि की साधना में डूबे रहते थे वे। निष्कषायता एवं निर्मलता की छाप थी उनके जीवन-व्यवहारों में। अत्यल्प सात्विक आहार और अत्यल्प निद्रा, शेष सम्पूर्ण समय संयम-साधना में, भगवान महावीर के महान् सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में विशेषतः साहित्य-सृजन में वे लगाया करते थे। प्रत्येक दर्शनार्थी को स्वाध्याय एवं धर्मसाधना की पूछताछ एवं प्रेरणा देने के बाद चन्द मिनटों में ही अपनी साधना में संलग्न हो जाते। संयम, सादगी, सरलता और अप्रमत्तता का उदाहरण था आचार्य प्रवर का जीवन।

साधना क्षेत्र में एक महान् क्रांतिकारी रचनात्मक कदम उठाया आचार्य श्री हस्ती ने। साधना की उनकी अपनी अवधारणा थी। साधना प्रवृत्ति की उनकी मौलिक विशेषताएँ थीं। साधना क्यों की जाय? उसका क्या स्वरूप हो? ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना कैसी हो? इन सभी के बारे में उनके अपने विचार थे, जिन्हें इस निबन्ध में क्रमशः विस्तार से बताया जा रहा है।

एक क्रांतिकारी सृजन—आचार्य श्री हस्ती एक दूरदर्शी सन्त थे। उन्होंने भावी समाज की कल्पना करके स्वाध्याय प्रवृत्ति का व्यापक प्रसार तो किया ही, इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने साधक संघ के गठन की भी महती प्रेरणा दी।

भौतिकता की प्रबल आँधी में जैन संस्कृति के संरक्षक की दृष्टि से साधक संघ का दीप प्रदीप्त किया। साधक संघ से आचार्यश्री का अभिप्राय श्रमण और गृहस्थ के बीच के वर्ग से था, ऐसे साधक जो गृहस्थ जीवन के प्रपंचों से ऊपर उठे हुए हों। वे निर्व्यसनी जीवन बिताते हुए, श्रावक धर्म का पालन करते हुए, जीवनदानी बनकर समाजोत्थान एवं धर्म प्रचार के कार्य में लग सकें। स्वयं के जीवन को साधकर देश-विदेश में प्रभु महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार कर सकें। इस संघ के निर्माण के पीछे उनका उद्देश्य था कि ज्ञान और क्रिया दोनों का साधक वर्ग में समावेश हो, सामंजस्य हो। क्रिया के अभाव में ज्ञान अपूर्ण है, अतः ज्ञान के साथ क्रिया का समन्वय, सामंजस्य हो साधक वर्ग में। वे ज्ञान-क्रिया की आराधना करते हुए जीवन में अग्रसर हों और प्रभु महावीर के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान कर सकें।

संवत् २०३४ में आचार्य प्रवर के ब्यावर चातुर्मास में आचार्यश्री की साधना संघ की प्रेरणा को समाज में सादर क्रियान्वित करने की योजना बनी। लेखक को यह दायित्व सौंपा गया। आचार्य प्रवर की सद्प्रेरणा से अनेक साधक तैयार हुए जो साधक संघ की योजनानुरूप कार्य करने को इच्छुक थे। स्वाध्यायी तो ये थे ही। साधना मार्ग पर आगे बढ़ने को ये तत्पर थे। कुछ समय बाद साधक संघ का विधिवत् गठन हुआ। संक्षेप में साधक संघ के तीन उद्देश्य रखे गये थे—

१. साधक वर्ग में स्वाध्याय, साधना एवं समाज-सेवा की प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए समुचित व्यवस्था करना।

२. पू० साधु-साध्वीजी एवं गृहस्थ समुदाय के बीच का एक साधक वर्ग गठित करना जो सामान्य गृहस्थ से अधिक त्यागमय जीवन बिताते हुए देश-विदेश में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार कर सके।

३. समाज एवं धर्म के लिए साधक वर्ग की सेवाएँ उपलब्ध कराना।

साधक संघ का गठन—इस प्रवृत्ति को **साधना विभाग** के नाम से सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर के तत्त्वावधान में कार्यरत स्वाध्याय संघ के अन्तर्गत रखा गया, परन्तु व्यवस्था की दृष्टि से इसे अलग से रखा गया है जिससे स्वाध्याय संघ के बढ़ते हुए कार्यक्रम के संचालन में असुविधा न हो।

साधकों की आचार-संहिता—यह आचार संहिता प्रत्येक श्रेणी के साधक के लिए अनिवार्य है। इसमें (i) देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रन्थ एवं केवली प्ररूपित धर्म में आस्था/श्रद्धा रखना, (ii) सप्त कुव्यसनों का त्याग, (iii) प्रतिदिन सामायिक साधना करना, (iv) जीवन में प्रामाणिकता, (v) परदार

का त्याग एवं स्वदार में संतोष रूप ब्रह्मचर्य का पालन, (vi) रात्रि भोजन का त्याग, (vii) १४ नियम एवं तीन मनोरथ का चिंतवन एवं विभाग द्वारा आयोजित साधना शिविर में भाग लेना तथा प्रतिदिन स्वाध्याय करना सम्मिलित है।

साधक श्रेणियाँ एवं साधना—साधकों की तीन श्रेणियाँ हैं—साधक, विशिष्ट साधक एवं परम साधक। सभी श्रेणियों में साधना संघ के उद्देश्यों के अनुरूप स्वाध्याय, साधना एवं समाज-सेवा के लिए नियम निर्धारित किये गये हैं।

वर्तमान में ५६ साधक इस संघ के सदस्य हैं। इनमें (दस) साधक, बारह व्रती व शेष सभी अणुव्रतधारी हैं। सभी व्यसन त्यागी, प्रामाणिक जीवन जीने वाले तथा दहेजादि कुप्रथाओं के त्यागी हैं।

साधक घर पर रहते हुए प्रतिदिन नियमित स्वाध्याय, ध्यान, मौन, तप एवं कषाय विजय की साधना करते हैं। पौषध व्रतादि की आराधना करते हुए समाज-सेवा के कार्यों में भी अपना समय देते हैं।

साधक संघ के संचालन का कार्य वर्तमान में लेखक के पास है। प्रति दो माह, तीन माह में साधकों से पत्र-व्यवहार द्वारा उनकी साधना विषयक गतिविधि की जानकारी प्राप्त की जाती है।

शिविर आयोजन—वर्ष में एक या दो साधक शिविर आयोजित किये जाते हैं। इसमें उक्त साधना तथा ध्यान-साधना का अभ्यास कराया जाता है। पंचदिवसीय शिविर में दयाव्रत में रहते हुए साधक एकांत स्थान पर स्वाध्याय ध्यान, तप, मौन, कषाय-विजय आदि की साधना करते हैं। ध्यान पद्धति की सैद्धांतिक जानकारी भी दी जाती है। कुछ विशेष साधनाओं पर शिविरायोजन होते हैं। अभी तक समभाव साधक, इन्द्रिय विजय साधक, मनोविजय और कषाय विजय पर विशेष शिविर आयोजित किये जा चुके हैं जो पर्याप्त सफल रहे हैं।

धर्म-प्रचार यात्राएँ—विगत वर्षों में साधकों एवं स्वाध्यायियों ने महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश एवं राजस्थान राज्यों में धर्मप्रचार यात्राएँ सम्पन्न कर ग्राम-ग्राम एवं नगर-नगर में प्रार्थना सभाओं, धार्मिक पाठशालाओं, स्वाध्याय एवं साधना के प्रति जन-जन में रुचि जागृत की है। सप्त कुव्यसन, दहेजादि कुप्रथाओं तथा अन्य-अन्य प्रकार के प्रत्याख्यान करवाकर लोगों में अहिंसादि के संस्कार दृढ़ बनाये हैं।

आचार्य प्रवर की साधना विषयक अवधारणा—पू० आचार्यश्री की दृष्टि में साधना का आध्यात्मिक स्वरूप ही साधना विषयक अवधारणा का मूल रहा

है। उनके प्रवचनों में अनेक स्थानों पर इस अवधारणा का उल्लेख हुआ है। आचार्यश्री के मतानुसार—"प्रतिकूल मार्ग की ओर जाते हुए जीवन को मोड़कर स्वभाव के अभिमुख जोड़ने के अभ्यास को साधना कहते हैं।"[1] इसी को स्पष्ट करते हुए आगे बताया गया है—'सत्य को जानते और मानते हुए भी चपलता, कषायों की प्रबलता और प्रमाद के कारण जो प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी गमन करती हैं, उनको अभ्यास के बल से शुद्ध स्वभाव की ओर गतिमान करना, इसका नाम साधना है। साधना के आध्यात्मिक स्वरूप की रक्षार्थ साधना क्षेत्र में बाह्य और आंतरिक परिसीमन की नितान्त आवश्यकता है तथा दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। आचार्यदेव का विचार है—"इच्छाओं की लम्बी-चौड़ी बाढ़ पर यदि नियन्त्रण नहीं किया गया तो उसके प्रसार में ज्ञान और विवेक आदि सद्गुण प्रवाह-पतित तिनके की तरह बह जाएँगे।"[2] आचार्यश्री का मन्तव्य रहा कि "त्याग-वैराग्य के उदित होने पर सद्गुण अपने आप आते हैं जैसे उषा के पीछे रवि की रश्मियाँ स्वतः ही जगत् को उजाला देती हैं।"[3]

साधना को आचार्यश्री ने अभ्यास के रूप में देखा है। इसलिए वे प्रवचनों में फरमाते थे—'साधना या अभ्यास में महाशक्ति है। वे अपने प्रवचनों में सर्कस के जानवरों के निरन्तर अभ्यास का उदाहरण देकर मानव जीवन में साधना की उपलब्धियों पर बल देते थे।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना के विषय में आचाय प्रवर का विचार था 'ज्ञान के अभाव में साधना की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः सर्व प्रथम मनुष्य को ज्ञान-प्राप्ति में यत्न करना चाहिए।'[4] आरम्भ और परिग्रह साधना के राजमार्ग में सबसे बड़े रोड़े हैं। जैसे केंचुली साँप को अन्धा बना देती है वैसे ही परिग्रह की अधिकता भी मनुष्य के ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। ज्ञान की महिमा को बताते हुए कहा गया—'त्याग के साथ ज्ञान का बल ही साधक को ऊँचा उठाता है।' आचार्यश्री का मत है 'विचार शुद्धि के बिना आचार शुद्धि सम्भव नहीं है। सम्यग्दर्शन को सरल किन्तु सारगर्भित रूप में प्रस्तुत करते हुए आचार्यश्री ने बताया—'धर्म-अधर्म, पूज्य-अपूज्य आदि का विवेक रखकर चलना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्चारित्र के सम्बन्ध में बताया गया 'क्रिया के अभाव में ज्ञान की पूर्ण सार्थकता नहीं है।'[5]

---

१. जिनवाणी (मासिक) अगस्त १९८२, पृ. १
२. 'जिनवाणी', अप्रैल १९८१, पृ. १-२
३. जिनवाणी, अक्टूबर १९७०, पृ. ५-६
४. आध्यात्मिक आलोक, पृ. ३७
५. आध्यात्मिक आलोक, पृ. १५-१७

पू० आचार्यश्री ने जैन दर्शन के अनुसार दमन के स्थान पर शमन को महत्त्व दिया है। उनका विचार रहा कि 'धर्मनीति शमन पर अधिक विश्वास करती है। शमन में वृत्तियाँ जड़ से सुधारी जाती हैं। रोग के बजाय उसके कारणों पर ध्यान दिया जाता है। इसलिए उसका असर स्थायी होता है, फिर भी तत्काल की आवश्यकता से कहीं दमन भी अपेक्षित रहता है जैसे उपवास आदि का प्रायश्चित्त। यद्यपि इसमें भी उद्देश्य सत्शिक्षा से साधक की वृत्तियों को सुधारने का ही रहता है।[1]

साधना प्रवृत्ति की उनकी कतिपय मौलिक विशेषताएँ :

आचार्यश्री की साधना सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. **समग्रता**—आचार्यश्री द्वारा साधना-पद्धति का जो मार्गदर्शन समय-समय पर दिया गया, उससे ज्ञात होता है कि वे साधना में समग्रता के हामी थे। उन्होंने केवल मन या केवल काया की साधना पर बल न देकर तीनों योगों की साधना को समग्र रूप प्रदान किया। उनका विचार था मन, वाणी और काया की साधना करने से सहज ही आत्मा की शक्ति बढ़ेगी, यश प्राप्त होगा, समाज में सम्मान और सुख प्राप्त होगा।[2] आज भी साधक संघ के सदस्य मन की साधना ध्यान द्वारा, वाणी की साधना मौन द्वारा और काया की साधना तप के द्वारा कर रहे हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की समन्वित साधना पर ही आचार्यश्री का विशेष बल था। स्वाध्याय प्रवृत्ति पर विशेष बल देते हुए भी उनकी दृष्टि में ज्ञान-क्रिया दोनों का समान महत्त्व था। साधक संघ में क्रिया के साथ ज्ञान या स्वाध्याय पर भी उतना ही बल दिया गया है। आचार्य प्रवर का मत था "सम्यग्ज्ञानादि त्रय से ही व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व का कल्याण सम्भव है।"

२. **संघपरकता या समाजपरकता**—आचार्यश्री ने साधना को एक क्रांतिकारी नूतन आयाम देने का भी विचार रखा। उनका विचार था कि साधना व्यष्टि परक ही न होकर संघपरक या समाजपरक भी हो। एतदर्थ उन्होंने सामाजिक या संघधर्म के रूप में स्वाध्याय-साधनादि की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया। आचार्यश्री का विचार था कि "व्यक्तिगत प्राप्त प्रेरणा ढीली हो जाती है। यदि कुल का वातावरण गन्दा हो, पारिवारिक लोग धर्मशून्य विचार के हों तो मन में विक्षेप होने के कारण व्यक्ति का श्रुतधर्म और चारित्र धर्म ठीक नहीं चल सकेगा। यदि कुलधर्म में अच्छी परम्पराएँ होंगी तो आत्म-

---

१. आध्यात्मिक आलोक, पृ. १३०

२. आध्यात्मिक आलोक, पृ. १३०

धर्म का पालन भी सरलता से हो सकेगा। इस प्रकार जितना ही कुल, गण एवं संघ धर्म सुदृढ़ होगा उतना ही श्रुत और चारित्रधर्म अच्छा निभेगा। जैसे सिक्खों में दाढ़ी रखने का संघ धर्म है—इसी प्रकार समाज में प्रभु स्मरण, गुरुदर्शन एवं स्वाध्याय दैनिक नियम बना लिया जाय तो संस्कारों में स्थिरता आ सकती है। समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए संघ-धर्म आवश्यक है। जैसे वर्षा ऋतु में शादी न करना राजस्थान में समाज धर्म है—इसी प्रकार संघ धर्म के रूप में स्वाध्याय और तप-नियम आदि जुड़ जायँ तो व्यक्ति धर्म का पालन आसान हो सकता है।[1]

३. **शुद्धता या निर्दोषता और कठोर आत्मानुशासन**—साधना में निर्दोषता या शुद्धता के आचार्यश्री प्रबल पक्षधर थे। उनके मत में साधना का ध्येय विकृतियों का निवारण कर जीवन को निर्दोष बनाना है। जैन धर्म के प्रचार-प्रसार पर आयोजित अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् के कोसाना (राजस्थान) की वार्षिक संगोष्ठी में उपस्थित विद्वानों के समक्ष उन्होंने प्रचार की अपेक्षा आचार प्रधान संस्कृति पर अत्यधिक जोर दिया था। अपने पंडित मरण से पूर्व उन्होंने अपने संतों को निर्देश दिया था कि वे स्थानक और आहार की गवेषणा एवं शुद्धता का पूर्ण लक्ष्य रखें।[2]

साधना निरतिचार बने एतदर्थ वे आहार की सात्विकता एवं अल्पता तथा स्वाध्याय आदि पर विशेष बल देते थे। इसके साथ ही साधना में कोई स्खलना न हो, इसके लिए कठोर आत्मानुशासन अथवा प्रायश्चित्त पर विशेष जोर दिया करते। साधक स्वयं ही कठोर प्रायश्चित्त ग्रहण करें, ताकि पुनः स्खलन न हो।

४. **प्रयोगशीलता**—आचार्यश्री का यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण था जिससे वे विविध साधना प्रवृत्तियों के प्रयोग (Experiment) करने की प्रेरणा किया करते थे। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप स्वयं लेखक ने साधक शिविरों में समभाव साधना, इन्द्रिय-विजय, मनोविजय-साधना पर सामूहिक प्रयोग किए, जो सफल रहे और इनसे साधकों के जीवन-व्यवहार में पर्याप्त परिवर्तन घटित हुआ।

आचार्यश्री के इस दृष्टिकोण के पीछे आशय यही रहा होगा कि कोई चीज, भले ही वह साधना ही हो, थोपी न जाय अथवा विभिन्न साधना पद्धतियों में प्रयोग द्वारा उपयुक्त का चयन कर लिया जाय। जोधपुर शहर में इसी प्रकार 'श्वास पर ध्यान करने' के प्रयोग की प्रेरणा दी गई और परिणाम में जो उचित

---

१. जिनवाणी, फरवरी १९९१, पृ. २

२. जिनवाणी (श्रद्धांजलि विशेषांक) मई, जून, जुलाई, १९९१, पृ. ३५५

रहा, निष्कर्ष सामने आया उसे स्वीकार कर ध्यान करने की स्वतन्त्रता भी साधकों को प्राप्त हुई।

जीवन व्यवहार और साधना—साधना का अभ्यास केवल शिविरकाल में ही न होकर व्यापक रूपेण जीवन-व्यवहार में भी हो, इसकी प्रेरणा आचार्य प्रवर प्रदान किया करते। दैनिक जीवन को निर्दोष बनाने की दृष्टि से ऐसे अनेक नियम आचार्य प्रवर दिलाया करते थे। आचार्य प्रवर द्वारा साधकों को दिलाये गये दो नियम प्रमाणभूत हैं—एक नियम था 'किसी की निन्दा नहीं करना। यदि किसी के लिए कुछ कहना ही है तो उसे स्वयं ही कहना या संस्था की बात हो तो संस्था के उत्तरदायी पदाधिकारी को ही कहना' का जीवन में कितना महत्त्व है। यह अनुभव करके ही देखा जा सकता है। फिर ज्ञात होगा कि उक्त नियम से बहुत बड़े अनर्थ से बचा जा सकता है। इसी प्रकार **'विश्वास-घात नहीं करना'** का नियम भी जीवन में कितना आवश्यक है। इसी प्रकार 'धर्मस्थान में जाकर सामायिक करना, विवाह में ठहराव न करना, कुव्यसनों का त्याग' जैसे नियम उनकी सामाजिक उत्थान की उदार भावना के परिचायक हैं।

साधना की आवश्यकता—स्वाध्याय प्रवृत्ति के पर्याय बने आचार्यश्री स्वाध्याय रूप श्रुतधर्म के साथ चारित्रधर्म के भी प्रबल पक्षधर रहे। उन्होंने क्रिया के बिना ज्ञान की पूर्ण सार्थकता नहीं मानी। गगन विहारी पक्षी का उदाहरण देकर उन्होंने बताया कि दो पंख उसके लिए आवश्यक हैं। एक भी पंख कटने पर पक्षी नहीं उड़ सकता, फिर मनुष्य को तो अनन्त ऊर्ध्व आकाश को पार करना है, जिसके लिए श्रुत एवं चारित्रधर्म दोनों की साधना आवश्यक है।[1] अपने प्रवचनों में अन्यत्र भी साधना की आवश्यकता बताते हुए उन्होंने कहा था—'तन की रक्षा और पोषण के लिए लोग क्या नहीं करते, परन्तु आत्मपोषण की ओर कोई विरला ही ध्यान देता है। **पर याद रखना चाहिए कि तन यदि एक गाड़ी है तो आत्मा उसका चालक है। गाड़ी में पेट्रोल देकर चालक को भूखा रखने वाला धोखा खाता है।**[2] सारगर्भित शब्दों में 'जीवन को उन्नत बनाने एवं उसमें रही हुई ज्ञान-क्रिया की ज्योति जगाने के लिए आवश्यकता है साधना की।[3] उनके आत्मिक अध्ययन एवं साधनामय जीवन के अनुभवों से निरत साधना की आवश्यकता को उक्त मार्मिक प्रतिपादन प्रत्येक साधक को साधनामय जीवन जीने की महती प्रेरणा देता है।

---

१. जिनवाणी, फरवरी १९९१, पृ. ७
२. जिनवाणी, नवम्बर १९९०, पृ. ६
३. आध्यात्मिक आलोक, पृ. ५

साधना का स्वरूप—आचार्यश्री के विचार से साधना की सामान्यतः तीन कोटियाँ हैं (i) समझ को सुधारना (या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति)। साधक का प्रथम कर्तव्य है कि वह धर्म को अधर्म व सत्य को असत्य न माने। देव अदेव, संत-असंत (साधु-असाधु) की पहचान भी साधक के लिए आवश्यक है। पाप नहीं छोड़ने की स्थिति में उसे बुरा मानना और छोड़ने की भावना रखना साधना की प्रथम श्रेणी है। (ii) देश विरति या अपूर्ण त्याग। इसमें पापों की मर्यादा बँध जाती है अथवा सम्पूर्ण त्याग की असमर्थता में यह आंशिक त्याग है तथा श्रावक जीवन है। (iii) सम्पूर्ण त्याग या साधु जीवन।[1] आचार्यश्री ने साधना में प्रथम स्थान अहिंसा और द्वितीय स्थान सत्य को दिया।[2] निश्चय ही आचार्यश्री का अभिप्रेत हिंसादि पाँचों आस्रवों के त्याग का रहा होगा। क्योंकि आचार्य प्रवर की सेवा में जब भी साधक शिविर आयोजित हुए, वे हमेशा साधकों को पाँच आस्रवों का और अठारह पापों का त्याग करवाकर दयाव्रत में रहते हुए ध्यानादि साधना की प्रेरणा देते थे।

साधना स्वरूप की चर्चा अन्यत्र भी हुई है जहाँ प्रातःकाल जीवन का निरीक्षण एवं संकल्प ग्रहण के साथ परीक्षण एवं प्रतिक्रमण के द्वारा संशोधन इस प्रकार अनुशासनपूर्वक दिनचर्या बाँधकर कार्य करना। मन को शान्त एवं स्वस्थ रखने हेतु आचार्य प्रवर ने ब्रह्ममुहूर्त में निद्रा त्याग, चित्त शुद्धि के लिए ध्यान, देवाधिदेव अरिहंतों के गुणों का भक्तिपूर्वक १२ बार वन्दन, त्रिकाल सामायिक और आत्म-निरीक्षण, हितमित और सात्विक आहार, द्रष्टा भाव का अभ्यास और सदा प्रसन्न रहने के अभ्यास को आवश्यक बताया। शरीर की चंचलता की कमी हेतु कायोत्सर्ग एवं ध्यान-कायोत्सर्ग में शिथिलीकरण, एक श्वास में जितने नवकार मंत्र जप सकें, जपें तथा मन की साधनार्थ अनित्यादि भावनाओं का चिंतन।

साधक संघ के सदस्यों को घर पर नियमित साधना करने हेतु जिस समग्र एवं समन्वित साधना का आचार्यश्री ने निर्देश दिया वह इस प्रकार है—(i) प्रातः उठकर अरिहंत को १२ वंदन, चार लोगस्स का ध्यान, चौदह नियम एवं तीन मनोरथ का चिंतन (ii) १५ मिनिट का ध्यान (iii) कषाय विजय का अभ्यास (iv) प्रतिदिन एक घण्टा मौन (v) प्रतिदिन एक विगय का त्याग (vi) ब्रह्मचर्य का पालन (अपनी-अपनी मर्यादानुसार) (vii) प्रतिमाह उपवास, दयाव्रत और पौषध (अलग-अलग साधकों की श्रेणी अनुसार) (viii) प्रतिदिन आधा घण्टा स्वाध्याय (ix) समाज सेवा के लिए महीने में २ दिन या अधिक (साधक श्रेणी के अनुसार)।

---

१. जिनवाणी, जनवरी १९९१, पृ. ३-४
२. आध्यात्मिक आलोक, पृ. ५५

ध्यान-साधना के विषय में आचार्यश्री के विचार—ध्यान साधना क्या है, इस सम्बन्ध में आचार्यश्री ने बताया—'ध्यान वह साधना है जो मन की गति को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी एवं बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाने में अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण भूमिका अदा करती है। इसे आंतरिक तप माना गया है। ध्यान से विचारों में शुद्धि होती और उनकी गति बदलती है।[1] वैदिक परम्परा में योग या ध्यान चित्तवृत्तियों के निरोध को माना है परन्तु जैन दृष्टि में चित्तवृत्तियों का सब तरफ से निरोध करके किसी एक विषय पर केन्द्रित कर उस पर चिंतन करना ध्यान है। आचार्यश्री के अनुसार परम तत्त्व के चिंतन में तल्लीनतामूलक निरा-कुल स्थिति को प्राप्त करवाने वाला ध्यान ही यहाँ इष्ट है।[2]

आचार्यश्री के अनुसार ध्यान का प्रारम्भ अनित्यादि भावनाओं (अनु-प्रक्षाओं) के चिंतन से होता है। उन्होंने ध्यान की ४ भूमिकाएँ बताईं[3]—(i) संसार के पदार्थों से मोह कम होने पर मन की चंचलता कम होना (ii) चिंतन—मैंने क्या किया? मुझे क्या करना शेष है? (iii) आत्मस्वरूप का अनुप्रेक्षण (iv) राग-रोष को क्षय कर निर्विकल्प समाधि प्राप्त करना। उन्होंने ध्यान के लिए जितेन्द्रिय और मंदकषायी होना आवश्यक बताया। उनका विचार था कि ध्यान के लिए कोई तब तक अधिकारी नहीं होता जब तक हिंसादि ५ आस्रव और काम, क्रोध को मंद नहीं कर लेता।

साधक संघ के सदस्यों को ध्यान में पंच परमेष्ठी के गुणों का चिंतन करते हुए वैसा ही बनने की भावना करना तथा अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व और अन्यत्व भावनाओं के चिंतन करने का निर्देश दिया गया था।

आचार्यश्री के अनुसार ध्यान साधना की विभिन्न पद्धत्तियाँ अभ्यासकाल में साधना के प्रकार मात्र ही हैं, स्थायित्व तो वैराग्यभाव की दृष्टि से चित्तशुद्धि होने पर ही हो सकता है।

साधना की कितनी ही गहन-गंभीर व्याख्या कर दी जाय परन्तु साधक लाभान्वित तभी होंगे जब वे उसे आत्मसात करें क्योंकि साधना अंततोगत्वा अनुभव है, अनुभूति है, बौद्धिकता नहीं।

—३५, अहिंसापुरी, फतहपुरा, उदयपुर–३१३००१

---

१. जिनवाणी, ध्यान विशेषांक, जन., फर., मार्च १९७२, पृ. १०

२. जिनवाणी, ध्यान विशेषांक, पृ. ११

३. जिनवाणी, ध्यान विशेषांक, पृ. १५–१६

आचार्य श्री की साधना विषयक देन

□ श्री जशकरण डागा

"जिसने ज्ञान ज्योति से जग के, अंधकार को दूर भगाया।
सामायिक स्वाध्याय का जिसने, घर-घर जाकर पाठ पढ़ाया।।
जिसने धर्म साधना-बल से, लाखों को सन्मार्ग लगाया।
जय-२ हो उस गणि हस्ति की, जिसकी शक्ति का पार न पाया।।"

साधना : अर्थ एवं उद्देश्य—जो प्रक्रिया साध्य को लक्ष्य कर उसकी उपलब्धि हेतु की जाती है, उसे साधना कहते हैं। वैसे तो साधना के अनेक प्रकार हैं, किन्तु जो साधना साधक को बहिरात्मा से अंतरात्मा, अंतरात्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बना दे अथवा पुरुषत्व को जाग्रत कर पुरुषोत्तम बनादे, वही सर्वोत्तम साधना है। कहा भी है—

"कला बहत्तर पुरुष की, त्यां में दो प्रधान।
एक जीव की जीविका, एक आत्म-कल्याण।।"

जीव की जीविका से भी आत्म-कल्याण की कला (साधना) श्रेष्ठतम है। कारण जो आत्मा को परमात्मा बनादे उससे अनुत्तर अन्य कला नहीं हो सकती है। एक उर्दू कवि ने कहा है—

"अफसाना वह इन्सान को, ईमान सिखादे।
ईमान वह इन्सान को, रहमान बनादे।।"

ऐसी उत्तम साधना ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय से मण्डित होती है। आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी म० सा० की सम्पूर्ण जीवन-चर्या ऐसी उत्तम साधना से पूरित एवं अध्यात्म ऊर्जा से ओतप्रोत थी। साठ वर्ष से भी अधिक समय तक आचार्य पद को सुशोभित करते हुए निरन्तर उत्तम साधना के द्वारा आप असीम आत्मबल को उपलब्ध हुए थे। यही कारण था कि जो भी आपके सम्पर्क में आता, आपसे प्रभावित हुए विना नहीं रहता था। आपकी साधना

उत्कृष्ट श्रेणी की थी, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण आप द्वारा मरणांतिक वेदना भी समभाव से, बिना कुछ बोले या घबराहट के शान्त भाव से सहन करना रहा है। 'सूत्रकृतांग' (१/६/३१) में कहा है—'सुमणे अहिया सिज्जा, ण य कोलाहलं करे।' अर्थात् कैसा भी कष्ट हो, बिना कोलाहल करे, प्रसन्न मन से सहन करे, वह उत्तम श्रमण है। आचार्य प्रवर ने सुदीर्घ उत्तम साधना के द्वारा समाज व राष्ट्र को जो महान् उपलब्धियाँ दीं, उनकी संक्षिप्त झलक यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

आचार्य प्रवर की साधना की देन दो प्रकार की रही है—एक ज्ञानदर्शन-मूलक तो दूसरी चारित्र एवं त्यागमूलक जिनका क्रमशः यहाँ उल्लेख किया जाता है।

[अ] ज्ञानदर्शनमूलक उपलब्धियाँ—

(१) **अ० भा० स्तर के स्वाध्याय संघों की स्थापना**—आत्म-साधना के मूल, विशुद्ध अध्यात्म ज्ञान के प्रचार हेतु आपने रामबाण व संजीवनी समान स्वाध्याय का मार्ग प्रशस्त किया। आपके द्वारा अ० भा० स्तर पर बृहद् स्वाध्याय संघ की स्थापया की प्रेरणा दी गई। परिणामस्वरूप अ० भा० श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर गठित हुआ जिसकी शाखाएँ सवाई-माधोपुर, जयपुर, अलवर के अलावा भारत के विभिन्न सुदूर प्रान्तों में स्वतंत्र रूप से जैसे मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु आदि में भी स्थापित हुई हैं। लगभग १०-१२-शाखाएँ अभी संचालित हैं और इनके माध्यम से पर्युषण पर्व में लगभग ८०० स्वाध्यायी प्रतिवर्ष भारत के कोने-कोने में पहुँच कर धर्माराधना कराते हैं। इन स्वाध्याय संघों की उपयोगिता जानकर अन्य संप्रदायों द्वारा सुधर्मा स्वाध्याय संघ, जोधपुर, स्वाध्याय संघ, पूना, स्वाध्याय संघ, कांकरोली, समता स्वाध्याय संघ, उदयपुर आदि भी स्थापित हुए हैं।

(२) **अ० भा० जैन विद्वत् परिषद्, जयपुर**—आपकी सद्प्रेरणा से भारत के मूर्धन्य जैन विद्वानों एवं लक्ष्मीपतियों को एक मंच पर संगठित कर अ० भा० जैन विद्वत् परिषद् का गठन किया गया। इसके द्वारा विभिन्न आध्यात्मिक वियों पर विशिष्ट विद्वानों से श्रेष्ठ निबन्ध तैयार कराकर उन्हें ट्रैक्ट रूप में प्रकाशित कर प्रसारित किया जाता है। ये ट्रैक्ट बड़े उपयोगी एवं लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त इस परिषद् द्वारा प्रतिवर्ष विभिन्न स्थानों पर विभिन्न जैनाचार्यों के सान्निध्य में महत्त्वपूर्ण विषयों पर संगोष्ठियां आयोजित की जाती हैं जिनमें भारत के कोने-कोने से आए विद्वान् शोध-निबन्ध प्रस्तुत करते हैं जिनका जन साधारण के लाभ हेतु संकलन भी किया जाता है

परिषद् में दिगम्बर, मन्दिरमार्गी, तेरापंथी, स्थानकवासी व जैनेतर विद्वान् भी सम्मिलित हैं। परिषद् से समाज में एकता व प्रेम बढ़ाने में बड़ा सहयोग मिला है।

(३) **सम्यग्ज्ञान प्रसार एवं ज्ञानसाधनार्थ केन्द्र की स्थापना**—सम्यग्ज्ञान का अधिकाधिक प्रसार हो एवं समाज में ज्ञानी साधक तैयार हों, इस हेतु आपकी सद्प्रेरणा से अनेक संस्थाएँ स्थापित हुई हैं जिनमें मुख्य इस प्रकार हैं—

(i) **सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर**—यह लगभग पचास वर्षों से निरन्तर जीवन निर्माणकारी साहित्य प्रकाशन का कार्य कर रहा है। इसके द्वारा मासिक पत्रिका 'जिनवाणी' का भी प्रकाशन होता है।

(ii) **श्री महावीर जैन स्वाध्याय विद्यापीठ, जलगांव**—जैन धर्म एवं जैन दर्शन के चारित्रनिष्ठ शिक्षक एवं प्रचारक तैयार करने के लिए इसकी स्थापना की गई है।

(iii) श्री जैन रत्न माध्यमिक विद्यालय, भोपालगढ़।

(iv) श्री जैन रत्न पुस्तकालय, जोधपुर।

(v) आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर।

(vi) आचार्य श्री शोभाचन्द्र ज्ञान भण्डार, जोधपुर।

(vii) श्री वर्धमान स्वाध्याय जैन पुस्तकालय, पिपाड़ सिटी।

(viii) श्री जैन इतिहास समिति, जयपुर—इसके द्वारा 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' चार विशाल भागों में प्रकाशित हो चुका है। यह आचार्य श्री की साहित्यिक साधना की विशिष्ट देन है।

(ix) श्री सागर जैन विद्यालय, किशनगढ़।

(x) श्री जैन रत्न छात्रालय, भोपालगढ़।

(xi) श्री कुशल जैन छात्रालय, जोधपुर।

(xii) जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर—सन् १९७३ में इसकी स्थापना की गई थी, जो अपने उद्देश्य—प्राकृत भाषा एवं जैन विद्या के विद्वान् तैयार करने को, सफलतापूर्वक निभा रहा है।

(४) **आध्यात्मिक उत्तम साहित्य का सृजन**—देश में सम्यग्ज्ञान की ज्योति जलाकर अज्ञान एवं मिथ्यात्व के अंधकार को मिटाने हेतु आपने वर्षों आगम व इतिहास के सृजन, संवर्धन, एवं संपोषण के लिए नियमित घंटों समय

देकर तत्सम्बन्धी विशाल कोष समाज को समर्पित किया है। आपने लगभग पचास ग्रंथों की रचना की जिनमें मुख्य प्रकाशन इस प्रकार हैं—

(i) जैन धर्म का मौलिक इतिहास भा० १ से ४ तक।

(ii) जैनाचार्य (पट्टावलि) चरित्रावलि।

(iii) गजेन्द्र व्याख्यान माला भा० १ से ७ तक।

(iv) आध्यात्मिक साधना भा० १ से ४ तक।

आप द्वारा निम्न आगमों की टीका एवं संपादन भी किया गया—

(v) बृहत्कल्प सूत्र।

(vi) प्रश्न व्याकरण सूत्र।

(vii) अंतगड़दसा।

(viii) दशवैकालिक सूत्र।

(ix) उत्तराध्ययन सूत्र।

(x) नन्दी सूत्र आदि।

(५) आध्यात्मिक ज्ञान प्रसारक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन— चतुर्विध संघ एवं समाज में सम्यग्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की त्रिवेणी निरन्तर गतिमान हो, प्रवाहित होती रहे, जन-जन में जाग्रति आती रहे, इस हेतु निम्न पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ हुआ—

(i) जिनवाणी (ii) वीर-उपासिका (iii) स्वाध्याय शिक्षा (iv) रत्न श्रावक संघ का मासिक बुलेटिन।

[ब] चारित्र एवं त्यागमूलक उपलब्धियां—

आपकी चारित्रिक योग साधना अजब-गजब होने से उससे समाज को अनेक प्रकार की चारित्रिक, नैतिक एवं पारमार्थिक उपलब्धियां मिली हैं। इनमें मुख्य इस प्रकार हैं :—

(१) अ० भा० सामायिक संघ की स्थापना—भारत के सुदूर प्रान्तों में भी आपने अनेक परिषह सहन करते विचरण कर, नगर-२, ग्राम-२ में निय सामायिक व्रत धारण कराने का एक विशिष्ट अभियान चलाया। परि

हजारों बाल, युवा व वृद्ध जिन्होंने कभी पूर्व में सामायिक न की थी, वे भी नियमित सामायिक करने लगे और इसके व्यवस्थित प्रचार-प्रसार हेतु अ० भा० सामायिक संघ, जयपुर की स्थापना भी की गई। इस अभियान से एक विशेष लाभ यह हुआ कि अनेक स्थानों पर जहाँ धर्म-स्थानक संतों के रहने के समय या पर्युषण के समय को छोड, बंद और वीरान पड़े रहते थे, उनकी सफाई तक नहीं होती थी, वहां पर अब नियमित सामूहिक सामायिकें होने लगीं और जहाँ साधना स्थल नहीं थे, वहाँ भी सामायिक साधनार्थ उपयुक्त धर्मस्थान निर्मित हो गए। धर्म साधना का प्रचार अधिकाधिक हो, इस हेतु अ० भा० सामायिक संघ के अतिरिक्त निम्न संस्थाएँ भी आपकी सद्प्रेरणा से संस्थापित हुईं :—

(i) अ० भा० श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, जोधपुर।

(ii) अ० भा० श्री महावीर जैन श्राविका संघ, जोधपुर।

(iii) श्री जैन रत्न युवक संघ, जोधपुर।

(iv) श्री जैन रत्न युवक संघ, सवाईमाधोपुर आदि।

(२) **जीवदया सम्बन्धी पारमार्थिक प्रवृत्तियाँ**—आचार्य प्रवर दया एवं करुणा के अनन्य स्रोत थे, जिससे आपकी साधना की एक प्रमुख देन जीवदया की पारमार्थिक प्रवृत्तियों का आरम्भ और कल्याण कोषों की स्थापना है। नगर-२ ग्राम-२ में जीवदया सम्बन्धी अनेक मंडल, संघ व संस्थाएँ स्थापित हुई हैं-जिनसे हजारों दीन-दुःखी, अनाथ, अपंग, निर्धन, संकटग्रस्त भाई-बहिन, छात्र-छात्राएँ विभिन्न प्रकार की सहायता प्राप्त कर लाभान्वित होते हैं। निरीह पशु-पक्षियों को भी दाना-पानी चारे आदि से राहत पहुँचाई जाती है तथा वध के लिए जाते अनेक पशुओं को भी अभय दान दिलाया जाता है। ऐसी पारमार्थिक संस्थाओं में मुख्य इस प्रकार हैं :—

(i) भूधर कल्याण कोष, जयपुर।

(ii) श्री महावीर जैन रत्न कल्याण कोष, सवाईमाधोपुर।

(iii) स्वधर्मी सहायता कोष, जोधपुर।

(iv) स्वधर्मी सहायता कोष, जयपुर।

(v) श्री जीवदया मण्डल ट्रस्ट, टोंक।

इस ट्रस्ट के द्वारा न केवल असहाय मनुष्यों को सहायता व राहत पहुँचाई जाती है वरन् पशु-पक्षियों को राहत पहुँचाना, पशु-बलि रुकवाना व शाकाहार का प्रचार करना आदि कार्य भी किए जाते हैं।

आचार्य प्रवर की प्रेरणा से अनेक पारमार्थिक औषधालय भी अनेक स्थानों पर स्थापित हुए हैं जिनमें नित्य सैंकड़ों बिमार निःशुल्क दवा आदि का लाभ उठाते हैं। आपने पशु-बलि जहाँ भी होती देखी, उसको अपने चारित्रिक बल से रुकवाया। उदाहरणार्थ टोंक जिले की तहसील निवाई के मूंडिया ग्राम में सैंकड़ों वर्षों से बिणजारी देवी मन्दिर में प्रतिवर्ष रामनवमी को पाड़े की बलि होती थी। आपकी सद्प्रेरणा से वह अब सदा के लिए बन्द हो चुकी है।

(३) **निर्व्यसनी व प्रामाणिक समाज का निर्माण**—आचार्य प्रवर ने व्यसन एवं अनैतिकता को समाज से दूर करने हेतु अपनी आत्म-साधना के साथ-२ इसके लिए भी एक अभियान चलाया। जो भी आपके संपर्क में आता उसे निर्व्यसनी एवं प्रामाणिक जीवन यापन करने को प्रेरित करते और तत्सम्बन्धी संकल्प भी कराते। विशेषकर जब भी आपके सान्निध्य में विद्वत् संगोष्ठी होती तो उसमें सम्मिलित होने वाले सभी विद्वानों को तत्सम्बन्धी नियम की प्रसादी देते थे। जैसे—(i) धूम्रपान न करना (ii) नशा न करना (iii) मांस, अंडे आदि अभक्ष्य सेवन न करना (iv) रात्रि भोजन न करना (v) जमीकंद का सेवन न करना (vi) रिश्वत लेना-देना नहीं (vii) अनैतिक व्यापार करना नहीं आदि। निर्व्यसनी और प्रामाणिक होने के लिए आपकी रचना की निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

निर्व्यसनी हो, प्रामाणिक हो, धोखा न किसी जन के संग हो।
संसार में पूजा पाना हो, तो सामायिक साधन करलो ।।
साधक सामायिक संघ बने, सब जन सुनीति के भक्त बनें।
नर लोक में स्वर्ग बसाना हो, तो सामायिक साधन करलो ।।

(४) **सम्प्रदायवाद का उन्मूलन**—जब आप लघु वय में आचार्य पद पर आसीन हुए तो उस समय स्थानकवासी समाज सम्प्रदायवाद की कट्टरता से छोटे-२ वर्गों में विभाजित था तथा परस्पर वाद-विवाद व राग-द्वेषवर्धक प्रवृत्तियों का बड़ा जोर था। आपने समाज को अनेकान्त और स्याद्वाद के सिद्धान्तों के मर्म को समझाकर सम्प्रदायवाद के नशे को दूर किया। संपूर्ण समाज में प्रेम और संघटन का प्रसार किया। संपूर्ण स्थानकवासी समाज एक हो इस हेतु आपने न केवल प्रेरणा दी वरन् जब संघ हित में आवश्यक समझा तो आचार्य पद का भी स्वेच्छा से त्याग कर, सभी सम्प्रदायों को वृहत् श्रमण संघ में विलीन हो एक होने का अद्भुत पाठ पढ़ाया। बाद में जब श्रमण संघ में शिथिलाचार बढ़ा और वह नियंत्रित न हो सका, तो चारित्रिक विकृतियों से संघ सुरक्षित रहे, इस हेतु पुनः रत्न संघ की स्थापना की जो बिना सम्प्रदाय-वाद के शुद्धाचार के पोषण व संरक्षण के लिए कार्यरत है। इस रत्न संघ के अनुयायी सभी संप्रदायों के साथ उदारतापूर्ण व्यवहार करते हैं और उन सभी

संत-सतियों का पूर्ण आदर-सत्कार व भक्ति करते हैं जो शुद्धाचारी हैं और रत्नत्रय की साधना शासनपति भ० महावीर की आज्ञा में रहकर करते हैं।

(५) **चारित्रिक साधना की विशिष्ट देन**—आचार्य प्रवर दस वर्ष की लघुवय में दीक्षा ले अहर्निश रत्नत्रय की साधना में दृढ़ता के साथ ७१ वर्ष तक रत रहे। आप न केवल ज्ञानाचार्य थे वरन् कलाचार्य एवं शिल्पाचार्य भी थे। आप जीवन जीने की सच्ची कला व जीवन निर्माण की अद्भुत शक्ति के धारक थे। अखंड बाल ब्रह्मचारी, उत्कृष्ट योगी तथा निर्दोष निर्मल तप-संयम की आराधना व पालना से आप में अद्वितीय आत्मशक्ति विकसित हो गई थी, जिसे लोक भाषा में 'लब्धि' कहते हैं। इसी कारण आपने जब कभी जिस पर भी तनिक दया दृष्टि की तो उसकी मनोकामना शीघ्र पूर्ण हो जाती थी। इसके अनेक उदाहरण हैं। आप पर उर्दू कवि की यह उक्ति सर्वथा लागू होती थी—

'फकीरों की निगाहों में अजब तासीर होती है।
निगाहें महर कर देखें तो खाक अक्सीर होती है।।'

आपकी विशिष्ट साधना की लब्धि से सैंकड़ों भक्तों के दुःख बिना किसी जंत्र-मंत्र के स्वतः दूर हो जाते थे जिससे जिनशासन की महती प्रभावना हुई है। ऐसी चामत्कारिक सत्य घटनाओं के अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं।

कुछ प्रमुख घटनाओं का संकेत रूप में उल्लेख यहाँ किया जाता है। जैसे सुदूर रहकर अप्रत्यक्ष में मांगलिक से ही नेत्रज्योति का पुनरागमन होना, जिनके लिए डॉक्टर विशेषज्ञों ने चिकित्सा हेतु असमर्थता व्यक्त कर दी, ऐसी भयंकर दुसाध्य बीमारियों से भी मात्र आपके मांगलिक श्रवण से बिना ऑपरेशन या चिकित्सा के ठीक होना। रास्ता भटकते यात्रियों के द्वारा आपको स्मरण करने पर तत्काल उन्हें मार्गदर्शक मिलता और मार्ग बताकर उसका गायब हो जाना, रजोहरण व मांगलिक से सर्प-जहर उतरना, संतों के संकट दूर होना, सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही पशुबलि को सामान्य कार्यकर्ता के माध्यम से ही सदा के लिए रुकवा देना। नागराज के प्राण बचाना व उसका परम भक्त हो पुनः-पुनः आचार्य श्री की सेवा में प्रगट होना तथा अंतिम समय पर्यंत तक उसके द्वारा भक्ति प्रदर्शित करना इत्यादि-२।

आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी म० सा० की महान् और आदर्श साधना से समाज, देश व विश्व को जो उपलब्धियाँ मिली हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन यथा जानकारी यहाँ किया गया गया है। इनसे विश्व के सभी प्राणी वर्तमान में ही नहीं भविष्य में भी लाभान्वित होते रहें, यही मंगल भावना है।

—डागा सदन, संघपुरा, टोंक (राजस्थान)

सामायिक साधना और आचार्य श्री

☐ श्री फूलचन्द मेहता

अनुक्रमे संयम स्पर्शतोजी, पाम्यो क्षायिक भाव रे।
संयम श्रेणी फूलड़ेजी, पूजूं पद निष्पाव रे।।

आत्मा की अभेद चिंतनारूप अतिशय गंभीर स्वानुभूतिपूर्वक समझने योग्य अनुक्रम से उत्तरोत्तर संयम स्थानक को स्पर्श करते हुए, अनुभव करते हुए क्षायिक भाव (जड़परिणति के त्यागरूप) मोहनीय कर्म क्षय करके उत्कृष्ट संयम स्थान रूप क्षीण मोहनीय गुणस्थान को प्राप्त हुए श्री वर्द्धमान स्वामी के पाप-रहित चरण कमलों को संयम श्रेणी रूप भाव-पुष्पों से पूजता हूँ—वन्दन-नमस्कार करता हूँ तथा अनन्य उपासना से उनकी आज्ञा की आराधना करता हूँ।

प्रस्तुत विषय परम गंभीर है, गूढ़ है, अति गहन व सूक्ष्म है। अतः विषय के प्रतिपादन में दृढ़ निष्ठा-लगन-रुचि-श्रद्धा-सम्यक् विवेक व आचरण-बल की अपेक्षा है। इतनी क्षमता-योग्यता-शरणता व अर्पणता के अभाव में भी विचार-पूर्वक क्षमतानुसार शान्त-स्थिर-एकाग्र चित्त से श्री जिन वीतराग प्रभु के प्रति अत्यन्त आस्थावान होकर श्री परम सद्गुरु कृपा से सजग होकर विषय की गहराई को छूने का प्रयास मात्र कर रहा हूँ। भूल, त्रुटि, अवज्ञा, अविनय और विपरीतता कहीं हो जाय तो क्षमाप्रार्थी हूँ तथा विज्ञजनों से अपेक्षित सुधार-सुझाव की कामना करता हूँ।

विषय एक है जिसके सूत्र तीन हैं फिर भी तीनों एकरूप हैं। सामायिक-साधना में साधक (साधक चाहे आचार्य हो, उपाध्याय हो, साधु हो अथवा सम्यग्दृष्टि) मूल पात्र है। वही सामायिक-साधना का अधिकारी है।

यहां हम सर्वप्रथम साधक के स्वरूप का विचार करेंगे। वैसे साधना के योग्य मूल साधक आचार्य-उपाध्याय व साधु हैं और साध्य हैं श्री अरिहन्त-सिद्ध दशा, जो आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध दशा है।

साधक का स्वरूप :

यहाँ हम सर्वप्रथम साधक के स्वरूप की व्याख्या करेंगे। साधक वह है जो संज्ञी है, भवी है, उत्तम कुल व उत्तम सदाचार से युक्त है, जीवन व्यसनों से मुक्त है, विनय-सरल परिणामी, मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ भावना से युक्त है, विशालता, कषाय की उपशान्तता, विषयों में तुच्छता जिसके भासित हुई है, मुक्त होने की तीव्र अभिलाषा जिसमें उत्पन्न हुई है। संसार जिसे अनित्य क्षण-भंगुर, विनाशशील, असार रूप स्वप्न तुल्य लगा है, सत्संग में अत्यंत प्रीतिवन्त, सच्चे देव, गुरु, धर्म की दृढ़ श्रद्धा हुई है। जीवन में त्याग-वैराग्य व उपशम भाव प्रगट हुए हैं, जिसकी प्रवृत्ति भी वैराग्य विवेक से युक्त आत्मार्थ हेतु मोक्षमार्ग की आराधना में लीन है। ऐसा साधक परम योग्य पात्र है। पात्रता के अभाव में साध्य की प्राप्ति के लिए साधना असंभव है। अतः मोक्ष मार्ग की आराधना का अधिकारी सम्यग्दृष्टि, श्रावक, निर्ग्रन्थ मुनि, उपाध्याय व आचार्य हैं।

नमस्कार मंत्र में पाँच पद हैं—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और निर्ग्रन्थ मुनि। इन पाँचों पदों में अरिहन्त व सिद्ध देव पद तथा आचार्य, उपाध्याय व साधु गुरुपद में आते हैं। ये पाँचों पद आत्मा की अवस्थाएँ हैं। ये पद शाश्वत हैं, सत्यमय हैं, गुण वाचक हैं, भाव वाचक हैं, आत्मस्वरूप हैं। इनमें आचार्य-उपाध्याय एवं साधु तीन पद साधक रूप में हैं। इनका किसी जाति, कुल, मत, गच्छ, सम्प्रदाय, वेष, लिंग अथवा अमुक क्रियाकाण्ड से सीधा संबंध नहीं है क्योंकि ये रूप बाह्य हैं, चिह्न हैं, वास्तविक नहीं हैं। ये मूर्त्तिक, भौतिक व नश्वर हैं। साधक का स्वरूप अमूर्त्तिक है, सत्यमय है, चैतन्यमय ज्ञानादि गुणों से युक्त है।

साधक की दशा अप्रमत्त है, असंग है, निस्पृह व निष्काम है, जाग्रत है, समुत्थित है, ज्ञाताद्रष्टा रूप परम वीतराग दशा पाने के पुरुषार्थ में लीन है। अन्तरमुख उपयोग आत्मज्ञान-ध्यान में स्थित रहते हैं। उनका पूरा जीवन बाह्य व आभ्यंतर रूप से स्व-पर कल्याणकारी प्रवृत्ति में समर्पित होता है।

इन साधकों में आचार्य पद का निर्वहन करने वाले ही तीर्थंकर देव की अनुपस्थिति में धर्मतीर्थ का संचालन करते हैं। साधु, उपाध्याय दोनों ही आचार्य की आज्ञा में स्व-पर कल्याण में प्रवृत्त होते हैं। वैसे आचार्य-उपाध्याय-साधु तीनों साधु ही हैं, उन्हें पंचाचार का, रत्नत्रय धर्म का, दशविधि श्रमणधर्म का, अहिंसादि महाव्रतों का, बारह प्रकार के तपश्चरण का यथावत् पालन करना होता है, बाईस परीषहों को जीतना होता है, स्वाध्याय-ध्यान में लीन होना होता है। इनके मूल लक्षण आत्मज्ञान-समदर्शिता मात्र पूर्व कर्मोदय को भोगने रूप निष्काम प्रवृत्ति वह भी समिति-गुप्ति युक्त जिनाज्ञानुसार स्वाध्याय चिन्तन,

मनन, ध्यान हेतु है जो असंग-अप्रमत्त-वीतराग और मुक्त होने के लिए पात्र है। ये साधक जीवन-मरण में, सुख-दुःख में, शत्रु-मित्र में, निन्दा-प्रशंसा में, हर्ष-शोक में, लाभ-अलाभ में अथवा कैसी ही परिस्थितियों में चाहे अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल हो, समभावी, मध्यस्थभावी और उदासीन वृत्ति से रहते हुए कर्म-निर्जरा के हेतु आत्माभिमुख रहते हैं। आत्मोपयोग ही इनका मुख्य लक्षण है। आत्मशुद्धि में निरंतर वर्द्धमान रहते हैं। इस क्रम से ही धर्म ध्यान से शुक्ल ध्यान में पहुँचकर वीतरागता-सर्वज्ञता को वरण करते हैं।

इन साधकों में आचार्य की दुहरी जिम्मेदारी है—आत्म-ज्ञान-आत्म-ध्यान में रहते हुए साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका व अन्य जिज्ञासु मुमुक्षु भव्य जीवों को जिनाज्ञानुसार बोध देकर मोक्षमार्ग में स्थित करते हैं, पंचाचार का स्वयं पालन करते हुए उन्हें भी पालन करवाते हैं। जिन्हें दोष लगता है, उन्हें प्रायश्चित विधि से शुद्ध कर रत्नत्रय धर्म में स्थित करते हैं। ऐसे महान् ज्ञानवन्त, वैराग्य-वन्त, क्षमावन्त, तपोवन्त, आचारवन्त-आधारवन्त, धर्मप्रभावक, धर्मग्रन्थों के निर्माता, परम कुशल धर्मोपदेशक, सभी धर्म दर्शनों के ज्ञाता, रहस्य को जानने वाले, अकाट्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले, परम दयालु, परम कल्याणी आचार्य पद को सुशोभित करते हैं।

सामायिक का स्वरूप :

साधक की साधना का मूल सामायिक है। सामायिक चारित्ररूप है, चारित्र आचरण रूप है और आचरण धर्म रूप है तथा धर्म आत्म-स्वभाव स्वरूप है। यही आत्म साम्य है, स्थिरता है, आत्म रमणता है और वीतरागता है जहाँ कषाय-मुक्ति है। अतः सामायिक लक्ष्य रूप भी है तो साधन रूप भी है। सामायिक का वास्तविक प्रारंभ मुनि अवस्था से क्षीण मोह गुण स्थान तक अर्थात् यथाख्यात चारित्र जो परिपूर्ण वीतराग स्वरूप है, होता है।

'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठ' (श्री भगवती सूत्र)

अर्थात् देह में रहते हुए भी देहातीत शुद्ध चैतन्य स्वरूप में रमणता रूप समवस्थित होना ही सामायिक है।

मोह-क्षोभ-चपलता-संकल्प-विकल्प-आशा-इच्छा, रागद्वेषादि विकारों से सर्वथा रहित स्वावलम्बन-स्वाधीन-स्वतन्त्र निजी स्वभाव रूप ज्ञाता द्रष्टामय वीतरागता से सतत भावित होना सामायिक है। इस सामायिक चारित्र के मूल लक्षण उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच (निर्लोभता), उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्त

ब्रह्मचर्य आदि दश विधि लक्षण धर्म हैं जिनसे सामायिक की सच्ची पहचान होती है। ऐसे साधक के नियम से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, पाँच समिति, तीन गुप्ति, बाईस प्रकार के परीषहों को जीतने की सामर्थ्य, बारह प्रकार के तपश्चरण की योग्यता होती है। स्वाध्याय-ध्यान ही मुख्य रूप से सामायिक की खुराक है। सामायिक की त्रिकरण त्रियोग से आराधना होती है, संवर-निर्जरा का परम मुख्य साधन सामायिक है। अतः सामायिक साधना भी है।

सम्यक् श्रद्धा भवेतत्र, सम्यक ज्ञानं प्रजाये।
सम्यक् चारित्र-सम्प्राप्ते, योग्यिता तत्र जायते।।

अर्थात् सम्यक् चारित्र रूप सामायिक का मूल आधार सम्यक् श्रद्धा व सम्यक् ज्ञान है। इनके बिना चारित्र नहीं होता, समभाव की उत्पत्ति नहीं होती। श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र की एकता ही मोक्ष मार्ग है। ये तीनों आत्मा के निजी गुण हैं। सामायिक मन, वचन, काया के सर्व ३२ दोषों से रहित, सर्व १८ पापों से रहित, शुद्ध आत्मस्वरूप है। यह सर्व कषायों की, कर्मों की नाशक है। सामायिक में साधक जितनी-जितनी स्थिरता, समभाव, सहजभाव बढ़ाता जाता है, उतना-उतना विशुद्ध सुविशुद्ध समभाव-वीतरागता बढ़ती जाती है और कषाय, क्लेशहीन होता हुआ घटता जाता है और अन्त में क्षय हो जाता है।

सामायिक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा मन, वचन, काया इस तरह सात प्रकार की शुद्धिपूर्वक होती है। द्रव्य से व भाव से, व्यवहार से व निश्चय से सामायिक आराधना होती है। स्व द्रव्य याने मात्र चैतन्य द्रव्य गुण पर्यायों में स्थिर अभेद-स्वभावमय, क्षेत्र अपने ही असंख्यात प्रदेशों में समता, काल स्व-समयात्मक व भाव से स्वभाव रूप शुद्ध परिणामी, मन से विकारों से रहित, वचन से विकथाओं से मुक्त, काया से स्थिर आसनजय काय क्लेश तप सहित मात्र आत्म स्वरूप में स्थित होना सामायिक है।

साधना का स्वरूप :

साध्य है द्रव्य कर्म, भाव कर्म व शरीरादि से पृथक् मात्र शुद्ध निर्विकल्प, निरावरणमय, शुद्ध, बुद्ध, निर्मल, निर्विकारी, अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सामर्थ्य से युक्त सिद्ध दशा। जब साध्य सर्वोत्कृष्ट शुद्ध आत्म पद है तो साधना भी उत्कृष्ट-प्रकृष्ट निर्मल, सहज, स्वाभाविक, स्वाधीन, अपूर्व, अनुपम, अद्वितीय होनी चाहिये। साध्य स्वाधीन दशा है जहाँ पर द्रव्य का परभावों का योग नहीं तो साधना भी स्वावलम्बन से, स्वाधीनता से निज आत्मस्वरूपमय होनी

चाहिए। संसारी अवस्था में शरीरादि का, कर्मों का, राग-द्वेषादि भाव कर्मों का, योग है जो पराधीनता है, आकुलता रूप है। जन्म-मरण रूप चतुर्गति के भयंकर दुःख का कारण है, इन सबका कारण संयोग है और संयोग कर्मों का है, देहादि का है तथा अन्य इन्द्रिय विषयभूत सामग्री का है। इनका भी मूल जीव का अपना ही राग-द्वेष मोह अज्ञान भाव है। जीव इस दिशा में कितना पराधीन, परतन्त्र और दुःखी है कि किसी एक वस्तु का सुख भोगने के लिए उसकी आशा व इच्छा करता है। इच्छा चाह या राग करने के लिए कर्म का उदय चाहिये। कर्म के उदय के फलस्वरूप कोई न कोई वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थिति चाहिये और वह भी अनुकूल हो तो इच्छा या राग की पूर्ति होती है अन्यथा प्रतिकूल संयोगों से व्यथित हो जायगा। किन्तु स्वाधीनता में स्व के लक्ष्य से स्वभाव में आने में किसी भी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। भोग में कठिनाई है स्व उपयोग में कहीं कोई बाधा नहीं है।

वैसे प्रत्येक जीव साधक है, साधना कर रहा है और साधना भी दुःख से रहित होने की और सुख पाने की, शान्ति-आनन्द पाने की दृष्टि से कर रहा है। अनादि से जीव कर्म सहित है, कर्मों के कारण देह का धारण है और कर्म प्रवाह रूप से आत्मा से सम्बन्धित है, कोई कर्म अनादि से नहीं है। कर्म भी क्षणिक है, पौद्गलिक है, विनाशशील है, संयोगी होने से वियोग रूप है तो कर्म का फल देह, स्त्री, पुत्रादि का, धन वैभव का संयोग शाश्वत कहाँ से हो ? देह आदि की अवस्थाएँ स्पष्टत: प्रतिक्षण बदल रही हैं। जन्म, बचपन, युवानी, जरापना, बुढ़ापा, मृत्यु स्पष्ट अनुभत में आ रही है। इस देह की खुराक अर्थात् इन्द्रियों की खुराक पौद्गलिक है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शब्दादि रूप है। जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, संवेदनशीलता, चैतन्यता अंश मात्र भी नहीं है जबकि आत्मा अरूपी, अरसी, अस्पर्शी, अगंधमय, अशब्दमय, अतीन्द्रिय है, अजर, अमर, अविनाशी है, ज्ञान, दर्शन लक्ष से युक्त है। मात्र इसे अपनी शक्ति का, वैभव का, चैतन्य रूप अनन्त ऐश्वर्य का भान नहीं होने से राग, द्वेष, मोह रूप वैभाविक दशा में चतुर्गति रूप संसार में त्रिविध ताप से तपित महादुःख उठा रही है। स्वरूप का बेभान होने का नाम ही मोह है, अज्ञान है। इन्हीं से परद्रव्यों में सुख की कल्पना कर, राग, द्वेष कर, कर्म बन्धन कर, जन्म-मरण की शृंखला से आप्लावित है। जड़ पदार्थों में सुख नाम का गुण ही नहीं है और वहां सुख खोज रहा है। कहीं अनुभव करता है और दुःख-क्लेश उत्पन्न हो जाता है यही नहीं, महा अनर्थकारी दुःख की शृंखला खड़ी कर रहा है। जो सुख क्षणिक लगता है वह भी सुखाभास है। सुख क्या है, दुःख क्या है, इसका परिज्ञान नहीं होने से अन्य संयोगों में ही सुख मान कर, मोह रूपी मदिरा के वशीभूत भटक रहा है। यह भी साधना है किन्तु दुःख की कारण है। विभाव दशा है।

मूल रूप में साधक की साधना आत्म-साधना है । इसके मुख्य दो रूप हैं—अंतरंग व बहिरंग ।

अंतरंग साधना—साधक सच्चे देव, गुरु, शास्त्र, धर्म का यथार्थ स्वरूप समझ कर यथार्थ श्रद्धान करे, उन्हें मन, वचन, काया व आत्मा से अर्पण होकर उनकी आज्ञा का निःशंकता से आराधन करे । जीवादि तत्त्वों का, सत्यासत्य का, मोक्ष मार्ग व संसार मार्ग का यथातथ्य निर्णय कर, हेय, ज्ञेय, उपादेय स्वरूप से उनके गुण धर्मों के आधार पर सत्यार्थ बोध कर मोक्ष मार्ग की आराधना करे अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप शुद्ध धर्म की आराधना करे तो ही साधना है, उसी से साध्य की प्राप्ति सम्भव है । साध्य आत्मा की विशुद्ध दशा है तो साधना भी आत्मा ही के द्वारा उसके अपने ज्ञानादि गुणों की आराधना करना है । विभाव दशा में पर का संयोग है जबकि स्वभाव दशा की साधना में निज का ही आलम्बन है । निज वैभव में ही सुख, आनन्द, ज्ञान, दर्शन का खजाना भरा पड़ा है । अतः शुद्ध रत्नत्रय धर्म की आराधना निज में ही निज के आलम्बन से होती है ।

जैसे पानी अग्नि के संयोग से शीतल स्वभावी होने पर भी उष्णता को प्राप्त हो जाता है और संयोग से हटने पर संयोग का कारण अग्नि नहीं होने से स्वतः अपने मूल शीतल स्वभाव में आ जाता है । उष्ण होने में अग्नि की तथा अन्य के सहयोग की आवश्यकता थी जबकि अपने स्वभाव में आने के लिए संयोग के अभाव में स्व-आलम्बन ही मुख्य है, अन्य का आलम्बन अपेक्षित नहीं । इसी तरह अनादि से पर संयोग से आत्मा संसारी विभाव दशा में है, उसके साधन पर द्रव्य का निमित्त व स्वयं का अज्ञान मोहादि भाव है । इन संयोगी भावों से व संयोगी पदार्थों से हटकर स्वयं के ज्ञान पूर्वक स्व में लीन होकर स्वभाव में आ सकती है चूंकि स्व में स्वाभाविक शक्ति है । स्वाधीनता ही सुख संतोषमय है और पराधीनता ही दुःख है, आकुलता रूप है ।

बहिरंग साधना—चूंकि आत्मा के साथ कर्मों का बंधन है, देहादि का संबंध है । इनके रहते हुए ही साधना सम्भव है । इनके अभाव में साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता ।

बाह्य साधना में मनुष्यत्व, उत्तम कुल, धर्म मत, सच्चे देवादि का निमित्त, भव्यत्व, मुक्त होने की तीव्र अभिलाषा, ज्ञानी के आश्रय में दृढ़ निष्ठा-पूर्वक तत्त्वादि का बोध, सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान के बल पर मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में, अव्रत से व्रत में, प्रमाद से अप्रमाद में, कषाय से अकषाय भावों में, अशुभ योग से शुभ योग में आना, कुसंग से सत्संग में, असत्य प्रसंगों से, स्वच्छंदता से,

मिथ्या दुराग्रहों से मुक्त होकर ज्ञानी की आज्ञा का आराधन करना, स्वाध्याय, भक्ति, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित, वैराग्ययुक्त होकर आत्म ज्ञान-ध्यान की श्रेणी में आरूढ़ होना। सत्संग को परम हितकारी मान कर परम भक्ति-पूर्वक उपासना करना, महाव्रतादि का यथावत् पालन करना, अष्ट प्रवचन माता की आराधना पूर्वक रत्नत्रय धर्म की शुद्ध आराधना हो, ऐसी निस्पृह निष्काम वृत्ति-प्रवृत्ति करना जिससे पापों से बचा जा सके, धर्मध्यान में लीन हुआ जा सके।

बहिरंग साधना भी मात्र अंतरंग रत्नत्रय धर्म की साधना की अनुसारी हो तभी दोनों मिलकर मोक्ष मार्ग साधने की प्रक्रिया हो सकती है।

हम आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के जीवन से यही प्रेरणा लें, अन्तरमुखी बनें। वीतरागता, सर्वज्ञता ही हमारा लक्ष्य है, इसे न भूलें। यह जीवन केवल खाने-पीने, भोगने-कमाने के लिए नहीं मिला है बल्कि इनसे छूटने के लिए और आत्मा की अनन्त वैभव शक्तियों को जगाने के लिए मिला है। ऐसी विरक्त आत्माओं से ही, उनके उपदेशों से, उनके बताये मार्ग से ही सच्चा सुख, शांति व आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। हमारे जीवन का मुख्य हितकारी भाग सामायिक, स्वाध्यायमय जीवन साधना रूप हो, तभी जीवन के अन्य सम्बन्धों में वैराग्य, विचार, विवेक, विरक्ति और वीतरागता की प्रसादी बढ़ा सकेंगे, निस्पृह रहना सीख सकेंगे। अल्प-जीवन में महा-पुरुषार्थ से अनन्त भवों के दुःखों से छूटना है। आचार्य श्री जीवन के हर प्रसंग में सामायिक-स्वाध्याय की प्रेरणा भव्य जीवों को करते रहते थे। उन्हीं की प्रेरणा से सामायिक संघ, स्वाध्याय संघ, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की विभिन्न प्रवृत्तियां चल रही हैं। उनकी आत्मा अंतरमुखी होकर परमात्म स्वभाव को प्राप्त करे, यही मंगल कामना है।

—३८२, अशोक नगर, गौशाला के सामने, उदयपुर

❖ आत्म-स्थिरता ही सामायिक की पूर्णता है।

❖ जैसे घर से निकल कर धर्म-स्थान में आते हैं और कपड़े बदल कर सामायिक साधना में बैठते हैं, उसी तरह कपड़ों के साथ-साथ आदत भी बदलनी चाहिए और बाहरी वातावरण तथा इधर-उधर की बातों को भूला कर बैठना चाहिए।

—आचार्य श्री हस्ती
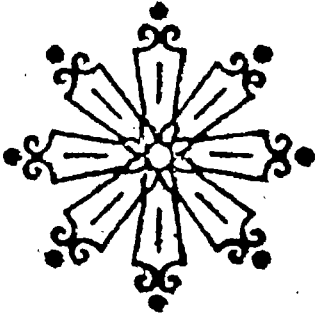
सामायिक-स्वाध्याय महान्

☐ श्री भँवरलाल पोखरना

मानव देव एवं दानव के बीच की कड़ी है। वह अपनी सद्वृत्तियों के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर सकता है और असद्वृत्तियों के द्वारा दानव जैसी निम्न कोटि में भी पहुँच सकता है। मनुष्य के पास तीन महान् शक्तियाँ हैं—मन, वचन एवं काया। इन तीन शक्तियों के बल पर वह प्रशस्त-अप्रशस्त, चाहे जैसा जीवन बना सकता है, लेकिन आज वह इस आधुनिक चकाचौंध में फँसकर विषय-वासना के भोग का कीट बन गया है। वह इस विज्ञान जगत की यांत्रिक शक्ति से प्रभावित होकर अपनी आध्यात्मिक महान् शक्ति से परे हट गया है।

मानव इस मन, वचन, काया की शक्ति के अलावा भी एक महान् विराट् शक्ति का स्वामी है, जिससे वह अनभिज्ञ होकर दिनोंदिन कंगाल बनता जा रहा है। जिस प्रकार इस आधुनिक विज्ञान को समझने के लिये साहित्य है, विद्यालय हैं और अध्यापक हैं, उसी प्रकार इस आध्यात्मिक विज्ञान को समझने के लिये भी दूसरे प्रकार का साहित्य है, विद्यालय हैं और दूसरे ही आध्यात्मिक गुरु हैं। जिस तरह इस सांसारिक विद्या को पढ़कर हम डॉक्टर, कलक्टर, बैरिस्टर आदि बनते हैं, पर ये पद तो इस जीवन के पूरे नहीं होने से पहले ही समाप्त हो जाते हैं अथवा इस जीवन में इन्द्रियों के पोषण के सिवाय कुछ नहीं मिलता है और यह विद्या भी इस जीवन के साथ समाप्त हो जाती है। न पद रहता है न विद्या। और यह सांसारिक विद्या इस जीव का संसार बढ़ाती ही रहती है। परन्तु आध्यात्मिक विद्या तो हमको श्रावक, साधु, उपाध्याय, आचार्य, अरिहन्त एवं सिद्ध तक बना देती है। इन पदों की महत्ता इतनी है कि संसार के सारे डॉक्टर, कलक्टर, बैरिस्टर आदि सब पदाधिकारी इन पदाधिकारियों को नमन करते और चरणों की रज झाड़ते हैं, और यह पद जीवन में कभी समाप्त नहीं होता और जितनी विद्या आत्मसात करली जाती है वह इस जीवन के साथ समाप्त नहीं होती, अगले जीवन के साथ चलती रहती है, जीव चाहे किसी गति में विगति करता रहे।

स्वर्गीय आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० का यही उद्घोष था कि सामायिक-स्वाध्याय करके आत्मा का उत्थान करो। और उन्होंने इसी नारे

पर पर बहुत बड़ा संघ खड़ा किया। उनके उपकार को संसार कभी नहीं भूलेगा। उन्होंने देश में घूम-घूम कर यही अलख जगायी (सामायिक-स्वाध्याय महान्)। जन-जन के कानों में इस मंत्र को फूंका। जिसने इस मंत्र को हृदयंगम किया है, उसका बेड़ा पार हुआ है। उन्होंने देश में इन स्वाध्याय संघों की एक शक्ति खड़ी करदी है जो आज इस मंच को चमका रही है। आचार्य हस्ती एक हस्ती ही नहीं एक महान् गंध हस्ती थे। उनकी वाक्‌गंध से लोग मंत्रमुग्ध हो जाते थे। उन्होंने जैन जगत के सामने एक आदर्श उपस्थित किया। आचार्य पद पर इतने लम्बे काल तक रहकर सिंह के समान हुंकार करते हुए आचार्य पद को सुशोभित किया। उन्होंने इस मूलमंत्र को सिद्ध कर दिया कि सामायिक स्वाध्याय के मुकाबले कोई दूसरा मंत्र नहीं है जो किसी को तिरा सके।

सामायिक अपने आप में समत्व भाव की विशुद्ध साधना है। सामायिक में साधक की चितवृत्ति क्षीर समुद्र की तरह एकदम शांत रहती है, इसलिये वह नवीन कर्मों का बंध नहीं करती। आत्म स्वरूप में स्थिर रहने के कारण जो कर्म शेष रहे हुए हैं उनकी वह निर्जरा कर लेता है। आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि सामायिक की विशुद्ध साधना से जीव घाती कर्म नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

सामायिक का साधक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की विशुद्धि के साथ मन, वचन, काया की शुद्धि से सामायिक ग्रहण करता है। छः आवश्यकों में सामायिक पहला आवश्यक है। सामायिक के बिना षडावश्यक करना संभव नहीं है। और जो सामायिक होती है वह षडावश्यकपूर्वक ही होती है। सामायिक में षडावश्यक समाये हुए हैं। चाहे वे आगे-पीछे क्यों न हों। सामायिक व्रतों में नवां व्रत है। जब आठों की साधना होती है तो नवां व्रत सामायिक आता है, क्योंकि सामायिक में आठों व्रत समाये हुए हैं। जब साधक साधना मार्ग ग्रहण करता है तो पहले सामायिक चारित्र ग्रहण करता है क्योंकि चारित्रों में पहला चारित्र सामायिक है। शिक्षाव्रतों में पहला शिक्षाव्रत सामायिक है। पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग करना सावद्य योग का त्याग है। इसी मूल पर सामायिक की साधना की जाती है। सामायिक का अर्थ है समता व सम का अर्थ है श्रेष्ठ और अयन का अर्थ आचरण करना है यानी आचरणों में श्रेष्ठ आचरण सामायिक है। विषमभावों से हटकर स्वस्वभाव में रमण करना समता है। समत्व को 'गीता' में योग कहा है। इसी कारण सामायिक की साधना सबसे उत्कृष्ट साधना है। अन्य जितनी भी साधनाएँ हैं, सब उसमें अन्तर्निहित हो जाती हैं। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थ पिण्ड कहा है। आत्म स्पर्शता ही समता है।

जैसे रंग-बिरंगे खिले हुए पुष्पों का सार गंध है। यदि पुष्प में गंध नहीं और केवल रूप ही है तो वह दर्शकों के नेत्रों को तो तृप्त कर सकता है किंतु दिल और दिमाग को ताजगी नहीं प्रदान कर सकता है। उसी प्रकार साधना में समभाव यानी सामायिक निकाल दी जाय तो वह साधना निस्सार है, केवल नाम मात्र की साधना है। समता के अभाव में उपासना उपहास है। जैसे द्रव्य सामायिक व द्रव्य प्रतिक्रमण को बोलचाल की भाषावर्गणा तक ही सीमित रखा गया तो वह साधना पूर्ण लाभकारी नहीं है। समता का नाम ही आत्मस्पर्शना है, आत्मवशी होना है, समता आत्मा का गुण है।

'भगवती सूत्र' में वर्णन है कि पार्श्वापत्य कालास्यवेशी अनगार के समक्ष तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों ने जिज्ञासा प्रस्तुत की थी कि सामायिक क्या है और सामायिक का प्रयोजन क्या है ?

कालास्यवेशी अनगार ने स्पष्ट रूप से कहा कि आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का प्रयोजन है।

आचार्य नेमीचन्द्र ने कहा है कि परद्रव्यों से निवृत्त होकर जब साधक की ज्ञान चेतना आत्म स्वरूप में प्रवृत्त होती है तभी भाव सामायिक होती है।

श्री जिनदासगणी महत्तर ने सामायिक आवश्यक को आद्यमंगल माना है। अनन्त काल से विराट् विश्व में परिभ्रमण करने वाली आत्मा यदि एक बार भाव सामायिक ग्रहण करले तो वह सात-आठ भव से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करती। यह सामायिक ऐसी पारसमणि है।

सामायिक में द्रव्य और भाव दोनों की आवश्यकता है। भावशून्य द्रव्य केवल मुद्रा लगी हुई मिट्टी है, वह स्वर्ण मुद्रा की तरह बाजार में मूल्य प्राप्त नहीं कर सकती, केवल बालकों का मनोरंजन ही कर सकती है। द्रव्य शून्य भाव केवल स्वर्ण ही है जिस पर मुद्रा अंकित नहीं है, वह स्वर्ण के रूप में तो मूल्य प्राप्त कर सकता है किन्तु मुद्रा के रूप में नहीं। द्रव्ययुक्त भाव स्वर्ण मुद्रा है। इसी प्रकार भावयुक्त द्रव्य सामायिक का महत्त्व है। द्रव्यभाव युक्त सामायिक के साधक के जीवन में हर समय सत्यता, कर्तव्यता, नियमितता, प्रामाणिकता, और सरलता सहज ही होना स्वाभाविक है। ये सब आत्मा के गुण हैं। सामायिक के महत्त्व को बताते हुए भगवान् महावीर ने पुणिया श्रावक का उदाहरण दिया है। सामायिक से नरक के दुःखों से मुक्त हुआ जा सकता है। महावीर ने सच्ची सामायिक के मूल्य को कितना महत्त्व दिया है। सामायिक का साधक भेद विज्ञानी होता है। सामान्यतः सामायिक का करनेवाला श्रावक है और श्रावक का गुणस्थान पांचवां है और भेदविज्ञान चौथे गुणस्थान पर ही हो जाता है।

भेदविज्ञान आत्मा का ज्ञान है और यही सामायिक है।

स्वाध्याय तो जीवन का सार है। स्वाध्याय के बिना ज्ञान प्राप्त होना कठिन है। स्वाध्याय सत्शास्त्रों का अध्ययन है जिसमें आत्मज्ञान निहित हो, उसी के पढ़ने से स्वाध्याय होता है। स्वाध्याय का सीधा सादा अर्थ स्व (आत्मा) का अध्ययन है। जितना स्वाध्याय करते हैं उसका ध्यान में चिंतन करना, मनन करना अथवा आचरण में लाना, उसको आत्मसात करना, यही स्वाध्याय का फल है। यदि स्वाध्याय नहीं करोगे तो आत्मा के स्वरूप को कैसे जानोगे ? आत्मा के स्वरूप को जानने के दो मार्ग हैं। एक तो गुरु का उपदेश, दूसरा स्वाध्याय। हर समय, हर जगह, गुरु का सत्संग मिलना कठिन है। उसमें भी सद्गुरु की शोध कर उनका सत्संग करना ही सत्उपदेश है। वे ही आत्मा का स्वरूप बता सकते हैं जिन्होंने अपने में अनुभव कर लिया है। ऐसे सद्गुरु को प्राप्त करना सहज नहीं है।।

सत्गुरु का सत्संग तो बहुत कम मिलता है, परन्तु सत्शास्त्र उपलब्ध कर सकते हैं। घर बैठे ही गंगा है। शास्त्रों में ज्ञान गंगा की धारा प्रवाहमान है। जितनी साधक की योग्यता होती है उतना वह ग्रहण कर सकता है। यदि थोड़ा थोड़ा ही ग्रहण किया जाय और वह नियमित किया जाय तो बहुत बड़ा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। सत्शास्त्रों का स्वाध्याय अंधेरे में प्रकाश है। पर केवल पढ़ लेना ही स्वाध्याय नहीं है, पढ़कर चिंतन-मनन करें और वह चिंतन अनुभव में लावें तो वह स्वाध्याय लाभकारी हो सकता है, अनुभव में लाना बहुत कठिन है। जितना पढ़ते हैं उतना चिंतन में नहीं आता और जितना चिंतन में आता है उतना अनुभव में नहीं आता। अनुभव तो छाछ के भांडे में से मक्खन जितना भी नहीं होता है।

वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावे विश्राम।
रसस्वादत सुख उपजे, अनुभव याको नाम।।

जो अनुभव में लिया जाता है वहाँ पर मन की पहुँच भी नहीं है। वहाँ पर पहुँचने में मन भी छोटा पड़ जाता है। वह अनुभव वचक की अभिव्यक्ति का विषय भी नहीं है। वह तो आत्मा का विषय है और उस विषय को प्राप्त कराने में स्वाध्याय सहायक हो सकता है। यही स्वाध्याय का महत्व है।

—नवानियां (उदयपुर) राज०

□ □ □

स्वाध्याय : 'इस पार' से 'उस पार' जाने की नाव

☐ श्रीमती डॉ• कुसुम जैन

विश्व-विख्यात वैज्ञानिक ग्राइन्सटीन के जीवन की यह घटना प्रसिद्ध है—जब उन्होंने अपनी बिल्ली और उसके छोटे बच्चे के लिए दरवाजे में दो छेद बनवाने चाहे। बड़ा छेद बिल्ली के निकलने के लिए और छोटा छेद उसके बच्चे के निकलने के लिए........। जब उन्हें बताया गया कि एक ही बड़े छेद से बिल्ली और उसका बच्चा दोनों ही निकल सकेंगे—तो उस महान् वैज्ञानिक को यह बात बड़ी मुश्किल से समझ में आई।

एक दूसरी घटना भारत के पाणिनी नामक वैयाकरण के जीवन की है। पाणिनी ध्वनि के बहुत बड़े वैज्ञानिक हुए। वे कहीं जा रहे थे और उन्हें प्यास लगी पर आस-पास दूर निगाह दौड़ाने पर भी उन्हें कहीं पानी नजर नहीं आया। चलते-चलते एक मधुर आवाज ने उनका ध्यान आकर्षित किया और वे उसी दिशा में चल पड़े। आवाज बड़ी मीठी थी और बड़ी आकर्षक भी........वे चलते गये........चलते गये और पेड़ों के झुरमुट में उन्होंने स्वयं को पाया........। एक झरना चट्टानों से टकराकर नीचे गिर रहा था........और वहाँ पेड़ों के सूखे पत्तों पर उछल-उछल कर पानी की बूंदें गिर रही थीं और उससे जो मीठी ध्वनि आ रही थी........वही उन्हें वहां तक खींच लाई थी। उनकी पानी की प्यास भी बुझी और ध्वनि का मीठा संगीत भी बना........।

........और कहते हैं वही पाणिनी इस खोज में स्वयं को मिटा गये, क्योंकि वे देखना चाहते थे कि शेर की दहाड़ कैसी होती है? कैसी उसकी [illegible] है? शेर दहाड़ता हुआ आ रहा था........और पाणिनी उसके सा[illegible] 'दहाड़' की ध्वनि माप रहे थे। वे उसमें इतने खो गये कि शेर ने [illegible] मार डाला, उन्हें इसका पता ही नहीं चला........।

'महानता' किसी की बपौती नहीं है। वह साधना और चाहती है। वह चिंतन की उपज है। व[illegible]रता की कहानी है। वह

चाहती है। वह 'जीवन' के चरम सत्य की खोज है। उसके लिए आकर्षण और एकाग्रता चाहिये।

'स्वाध्याय' भी इसी एकाग्रता, समर्पण भाव, निरंतर कर्म और चिंतन के खजाने की कुंजी है—जिसे आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज ने हमें प्रदान किया। जिसे जो चाहे अपना सकता है। और जीवन के 'उस पार' का रहस्य जान सकता है। जिस तरह मंदिर में भगवान की मूरत का इतना ही महत्त्व है कि उसके माध्यम से आप मूरत के 'उस पार' जा सकें। इससे अधिक कुछ नहीं और जो केवल मूरत में ही अटके रह जाते हैं—वे केवल 'इसी पार' रुक जाते हैं। 'उस पार' नहीं जा पाते।

'स्वाध्याय' जीवन के 'उस पार' जाने वाली नाव है—जिसके माध्यम से हम 'इस पार' से 'उस पार' जा सकते हैं।

हम एक बहुत अच्छे कवि और वक्ता को जानते हैं जो सरस्वती पुत्र माने जाते हैं और वाणी-पुत्र के नाम से प्रख्यात हैं। जिन्होंने धरती और आकाश के, प्यार और सौंदर्य के गीत गाये हैं, दर्द और आँसुओं से जिन्होंने कविता का शृंगार किया है और विकास के दर्द को जिन्होंने भोगा है। जब व्यस्त और निरन्तर वे प्रशासकीय कार्यों में अति व्यस्तता के कारण वे साहित्य के अपने चिर-परिचित क्षेत्र से कटने लगे और पुनरुक्ति उनके भाषणों का हिस्सा बनने लगी। लोग जब भी सुनते कि आज अमुक विषय पर उनका भाषण होने वाला है—तो ऐसे सज्जन भी मिल जाते—जो टेपरिकार्डर की तरह उनका भाषण सुना सकते थे....और धीरे-धीरे यह बात उन तक भी पहुँची....और उन्होंने जाना कि अपने भाषणों का आकर्षण क्यों समाप्त होता जा रहा है। या तो एक जमाना था, जब उनके भाषण सुनने के लिए छात्र दूसरी कक्षाएँ छोड़कर आते थे और अब 'पुनरावृति' ने सौंदर्य और प्रीत के उस कवि के भाषणों को 'बोरियत' में बदल दिया है।

तब कहते हैं कि उन्होंने 'स्वाध्याय' को अपनी पूजा बना डाला। यह बात चारों ओर फैल गई कि वे प्रति दिन प्रातःकाल 'तीन घण्टे' पूजा में बिताते हैं। तब वे किसी से नहीं मिलते और यह तीन घण्टे की पूजा और कुछ नहीं केवल 'स्वाध्याय' था जिसमें उन्होंने आगम, वेद, पुराण, उपनिषद् और ऋषि-मुनियों के अनुभूत विचारों को मथ डाला। आज वे महाशय पुनः ऊँचाई पर हैं—जिन्हें सुनने के लिए भीड़ उमड़ पड़ती है। यह और कुछ न 'स्वाध्याय' का प्रताप है।

इसलिए स्वाध्याय जीवन को एक सार्थक दृष्टि प्रदान करने वाली राम बाण औषधि है—जो हमारा ध्यान केन्द्रित कर एकाग्रता प्रदान करती है। जो चीजों को दर्पण की तरह सही परिप्रेक्ष्य में देखने की क्षमता देती है—और जो 'चीजों के भी पार उन्हें देखने और समझ पाने की हमारी अन्तर्दृष्टि का विकास करती है। जिससे हम इस पार से उस पार जा सकते हैं और राग से विराग की ओर, भौतिकता से अध्यात्म की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर प्रयाण कर सकते हैं—किन्तु अंततः कदम तो 'स्वाध्याय' की ओर हमें ही उठाना पड़ेगा। फिर जैसा कि बुद्ध ने भी कहा है—'अप्पो दीपो भव'। अपना दीपक स्वयं बन और जीवन में अंततः व्यक्ति को अपना रास्ता स्वयं ही खोजना पड़ता है। 'स्वाध्याय' के माध्यम से वह रास्ता सहज हो जाता है और चीजों को, विचारों को, दर्शन को, सौंदर्य को परखने की हमारी दृष्टि शुद्ध बनती है।

इस मंगल अवसर पर आचार्य श्री की अनुकम्पा से आइये, हम भी 'स्वाध्याय' की ओर कदम बढ़ाएँ—तो जीवन में जो सत्य है, सुन्दर है, शिव है—उसे पाने में कठिनाई नहीं होगी।

—प्राध्यापिका, रसायन शास्त्र विभाग,
होल्कर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर

❖ स्वाध्याय चित्त की स्थिरता और पवित्रता के लिए सर्वोत्तम उपाय है।

❖ हमारी शक्ति 'पर' से दबी हुई है, उस पर आवरण छाया हुआ है। इस आवरण को दूर करने एवं 'स्व' के शुद्ध स्वरूप को पहचानने का मार्ग स्वाध्याय है।

❖ अपनी भावी पीढ़ी और समाज को धर्म के रास्ते पर लाकर तेजस्वी बनाने के लिए स्वाध्याय का घर-घर में प्रचार होना चाहिए।

—आचार्य श्री हस्ती

बिखरे सूत्रों को जोड़ने की कला—स्वाध्याय

□ प्रो० उदय जैन

मानवीय सभ्यता के इतिहास में भारत अपनी दो देन के लिए प्रसिद्ध है—एटम और अहिंसा। इसलिये यह कहना सही नहीं है कि आधुनिक विज्ञान की, प्रयोगात्मक विज्ञान की परम्परा का प्रचलन पश्चिम से प्रारम्भ हुआ। पश्चिम में विज्ञान की परम्परा कोई ४०० वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है जबकि भारत में वैज्ञानिक और आध्यात्मिक चिन्तन की परम्परा हजारों साल पुरानी है। जैन दर्शन में अणु-परमाणु और पुद्गल का जितनी सूक्ष्मता से विश्लेषण हुआ है, उतनी सूक्ष्मता से अध्ययन और कहीं नहीं हुआ है। वस्तुतः एटम और अहिंसा भारत और हिन्दू-जैन जीवन दर्शन की देन है—जिसके सूत्र इतिहास में बिखरे पड़े हैं और इतिहास के बिखरे सूत्र समेटने का भगीरथ कार्य 'स्वाध्याय' के बिना संभव नहीं है। आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. का पूरा जोर 'स्वाध्याय' पर था, वह सम्भवतः इसलिए कि 'स्व' का अध्ययन, 'स्वयं' का अध्ययन, 'स्वयं' की 'पहिचान' आदि स्थापित करना हो—तो उसके लिए स्वाध्याय ही एक मात्र साधन है, जिसके सहारे न केवल हम इतिहास के बिखरे सूत्रों को ही समेट सकते हैं, वरन् हिन्दू और जैन धर्म की विश्व को जो देन रही है—मानवीय सभ्यता को जो देन रही है, उसका मूल्यांकन कर सकते हैं।

उपनिषद् के ऋषियों ने गाया है—

"असतो मा सद् गमयः,
तमसो मा ज्योतिर्गमयः,
मृत्योर्मा अमृतम्ः गमयः।"

इससे अधिक मनुष्य की सभ्यता का इतिहास और क्या हो सकता है? मानवीय संवेदना और चेतना का बड़ा ऊँचा भविष्य क्या हो सकता है? जिसमें कहा गया है कि हम असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर बढ़ें।

और यही मृत्यु से अमरता का पाठ जैन दर्शन हमें सिखाता है। की अनन्त यात्रा के क्रम में यह मनुष्य जीवन बड़ा बहुमूल्य और दुर्ल

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने जीवन की इसी गुणवत्ता को जन-जन तक पहुँचाया है कि हम केवल वहिर्मुखी न रहें वरन् अपने अन्तर में झांक कर देखें तो एक नया सौन्दर्य, नया रूप और नया जीवन हमें दिखाई देगा—जो मोह, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, मैथुन और परिग्रह से परे जीवन के प्रति हमें एक नई दृष्टि देगा। अपने प्रवचनों को आचार्य श्री ने सुवोध और सरल बनाने के लिए 'आज के परिदृश्य' को आधार बनाया।

आपने यदि उनके 'प्रार्थना-प्रवचन' पढ़े हों तो आपको लगेगा कि उनमें हमें आत्म-बोध मिलता है और जीवन को समझने की एक नयी दृष्टि.......।

आचार्य श्री फरमाते हैं—"आत्मोपलब्धि की तीव्र अभिलाषा आत्म-शोधन के लिए प्रेरणा जाग्रत करती है।" किसी ने ज्ञान के द्वारा आत्मशोधन की आवश्यकता प्रतिपादित की, किसी ने कर्मयोग की अनिवार्यता बतलाई, तो किसी ने भक्ति के सरल मार्ग के अवलम्बन की वकालात की। मगर जैन धर्म किसी भी क्षेत्र में एकान्तवाद को प्रश्रय नहीं देता.......जैन धर्म के अनुसार मार्ग एक ही है, पर उसके अनेक अंग हैं—अत: उसमें संकीर्णता नहीं विशालता है और प्रत्येक साधक अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार उस पर चल सकता है........। प्रभु की प्रार्थना भी आत्म-शुद्धि की पद्धति का अंग है........और प्रार्थना का प्राण भक्ति है। जब साधक के अन्त:करण में भक्ति का तीव्र उद्रेक होता है, तब अनायास ही जिह्वा प्रार्थना की भाषा का उच्चारण करने लगती है, इस प्रकार अन्त:करण से उद्भूत प्रार्थना ही सच्ची प्रार्थना है।

किन्तु हमें किसकी प्रार्थना करना चाहिये—इसका उत्तर देते हुए आचार्य श्री ने कहा है कि निश्चय ही हमें कृतकृत्य और वीतराग देव की और उनके चरण-चिह्नों पर चलने वाले एवं उस पथ के कितने ही पड़ाव पार कर चुकने वाले साधकों, गुरुओं की ही प्रार्थना करना चाहिए। देव का पहला लक्षण वीतरागता बताया गया है—"अरिहन्तो मह देवो। दसट्ठ दोसा न जस्स सो देवो........।"

किन्तु हम उन पत्थरों की पूजा करते हैं—इस आशा में कि हमें कुछ प्राप्त हो जाय। कुछ भौतिक उपलब्धियाँ मिल जाय। किन्तु इससे हमें आत्म-शान्ति प्राप्त नहीं होगी।

तीर्थंकर 'नमो सिद्धाणं' कह कर दीक्षा अंगीकार करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—"वीतराग स्मरन् योगी, वीतरागत्व मापनुयात्" अर्थात् जो योगी ध्यानी वीतराग का स्मरण करता है, चिन्तन करता है वह स्वयं वीतराग बन जाता है।

यह जैन दर्शन की ही महिमा है कि उसने मनुष्य को इतनी महत्ता, इतना गौरव, इतनी गरिमा और ऊँचाई दी कि वह स्वयं ईश्वर बन सकता है, वीतरागी बन सकता है—बिना इस बात का ध्यान किये कि उसका रंग क्या है? रूप क्या है? जाति क्या है? वह गरीब है या अमीर और उसकी हैसियत क्या है? हम सोचते हैं दुनिया के इतिहास में यह अनुपम बात है कि मनुष्य को रंग, रूप और जाति से परे हटकर इतनी ऊँचाई प्रदान की जाए। और यहीं जैनत्व विश्वव्यापी स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

भारत ने यह जाना है, सोचा है और समझा है कि इस ब्रह्माण्ड की समग्र चेतना एक ही है—इसलिए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात हमने कही। इसलिये दुनिया के किसी कोने में यदि रंग-भेद पर अत्याचार होता है, तो हमारी आत्मा पर जैसे चोट होती है, यदि कहीं खाड़ी युद्ध में विध्वंस होता है, तो हमें लगता है कि हमारा ही अपना कहीं नष्ट हो रहा है। यह जो समग्र चिन्तन इस धरा पर विकसित हुआ है—उसको परिपक्वता देने में जैन दर्शन का बड़ा महत् योगदान है और हिंसा के इस माहौल में यदि अहिंसा एक सशक्त धारा के रूप में, जीवन दर्शन और प्रणाली के रूप में विद्यमान है—तो उसका श्रेय बहुत कुछ जैन साधु-सन्तों और परम प्रकाशमान आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. जैसे महापुरुषों को जाता है—जिन्होंने स्वाध्याय को जीवन और साधना के एक हिस्से के रूप में न केवल अपने चरित्र और आचार का हिस्सा बनाया, वरन् उसे लाख-लाख लोगों के जीवन में उतारा भी।

इस पुनीत प्रसंग पर यदि हम 'स्वाध्याय' को अपने जीवन में उतार सकें—तो न केवल एक अहिंसक धारा का, प्रवाह अपने जीवन में कर पाएँगे वरन् एक नये मनुष्य का, अहिंसक मनुष्य का अहिंसक समाज का निर्माण हम कर सकेंगे—जो हिंसा से भरे इस विश्व को एक नया संदेश दे सकेगा कि पूरा ब्रह्माण्ड एक है—एक ही चेतना विद्यमान है। क्योंकि यह भारत ही है—जिसने दुनिया को एटम और अहिंसा—ये दोनों अपार शक्तिवान अस्त्र दिये। एटम यदि भौतिक ऊर्जा का प्रतीक है, तो अहिंसा आध्यात्मिक ऊर्जा का सर्वोच्च अस्त्र........। आइये, उसे और गतिमान बनाएँ।

—ब-८, विश्वविद्यालय प्राध्यापक आवास,
ए. बी. रोड, इन्दौर–४५२ ००१
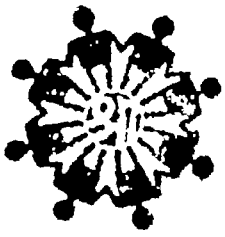
स्वाध्याय के प्रबल प्रेरक

□ श्री चैतन्यमल ढढ्ढा

श्रमण संस्कृति के शीर्ष आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ऐसे महाकल्पवृक्ष, अध्यात्म योगी, इतिहास पुरुष, युगान्तकारी विरल विभूति, सिद्ध और दिव्य पुरुष थे, जो वस्तुत: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के आदर्श प्रतिमान थे। आचार्य श्री के व्यक्तित्व में भक्ति, कर्म और ज्ञान की त्रिवेणी प्रवाहित होती थी।

आचार्य श्री के व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन अलग-अलग दृष्टिकोण से किया जा सकता है, किन्तु मेरी ऐसी धारणा है कि आचार्य श्री साधना और आध्यात्मिकता का गौरव शिखर छू सके, क्योंकि आचार्य श्री स्वाध्याय के प्रबल प्रेरक रहे।

आचार्य श्री सात दशकों तक स्वाध्याय की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित करते रहे, ज्ञान की दुंदुभि बजाते रहे और सम्यग्ज्ञान का शंखनाद करते रहे। आचार्य श्री महान् कर्मयोगी और साधना में लीन समाधिस्थ योगी थे, यह आचार्य श्री की वैयक्तिक उपलब्धि है। आचार्य श्री ने आत्मा के तारों को छूकर स्वार्थ से परमार्थ की ओर, राग से विराग की ओर, भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर और भोग से योग की ओर यात्रा की। यह उत्तुंग व्यक्तित्व आत्म साक्षात्कार के क्षणों में सिद्ध और दिव्य बन गया।

कबीर की मान्यता है कि महान् पुरुष और शीर्षस्थ ज्ञानी, स्वयं ही ज्ञान प्राप्त नहीं करता, किन्तु मानवता को ज्ञान के पथ पर प्रशस्त करता है—

अब घर जाल्यो आपणो, लिये मुराड़ा हाथ।
अब पर जालों तासकी, चलो हमारे साथ॥

अर्थात् अब तक मैंने अपना घर जलाया है, राग-द्वेष को नष्टकर ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित करने के लिये ज्ञान की मशाल हाथ में ली है किन्तु अब मैं तुम्हारा घर जलाऊँगा, तुम्हें ज्ञान से प्रज्वलित करूँगा।

स्वाध्याय के प्रबल प्रेरक के रूप में आचार्य श्री ने जीवनपर्यन्त ज्ञान और स्वाध्याय की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित की। ज्ञान ऊपर से थोपा जा सकता है, किन्तु स्वाध्याय से प्रसूत ज्ञान, अनुभूति की आँच में तपकर पक्का बन जाता है।

आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषिजी म. सा. के अनुसार "पूज्य श्री जी स्वाध्याय और सामायिक स्वाध्याय के प्रेरक दीप स्तम्भ थे।" आचार्य श्री नानालालजी म. सा. के अनुसार "आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. विशुद्ध ज्ञान और निर्मल आचरण के पक्षधर थे।" उपाध्याय श्री केवल मुनिजी ने भी "आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. को एक मूर्धन्य मनीषी एवं लेखक संत" माना है।

आचार्य श्री में सागर की गहराई और पर्वत की ऊँचाई थी, आचार की दृढ़ता और विचारों की उदारता थी, किन्तु आचार्य श्री के महत् व्यक्तित्व का उद्गम स्रोत सम्यग्ज्ञान था। ज्ञान का अथाह सागर आपके व्यक्तित्व में हिलोरें मारता था और असंख्य ज्ञान उर्मियाँ उछलकर सहृदय श्रोताओं को सिक्त करती थीं। आप शब्दों के जादूगर थे। धर्म और दर्शन की जटिल शब्दावली को आप सरल शब्दों में अपनी गहरी विवेचनात्मक प्रतिभा से अनपढ़ से लेकर विज्ञजनों को अभिभूत कर देते थे।

आचार्य श्री ने ज्ञान और स्वाध्याय के बल पर जैन आगम साहित्य का अध्ययन और मनन ही नहीं, किन्तु गवेषणात्मक दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण किया।

आचार्य श्री ने वाह्याचारों के स्थान पर स्वाध्याय की मशाल जलाई। आपने धर्म को अंधभक्ति और अंधश्रद्धा से हटाकर स्वाध्याय के पथ पर प्रशस्त किया। आपकी मान्यता रही कि तोते की तरह बिना समझे नवकार रटना धर्म नहीं, विना ध्यान के सामायिक ठीक नहीं, धर्म को समझे बिना अंधे व्यक्ति की तरह धर्म प्रचार करना उचित नहीं। कबीर की तरह आपने हाथ की माला के स्थान पर मन की माला को और सम्यग्ज्ञान को व्रत-उपवास से अधिक महत्त्व दिया।

आचार्य श्री रत्नवंशी सम्प्रदाय के सप्तम पट्टधर होकर भी सम्प्रदाय निरपेक्ष थे, क्योंकि आचार्य श्री का स्वाध्याय जैन धर्म की प्राचीरों से परे मानवतावादी धर्म की परिधि को छूता रहा।

स्वाध्याय की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित करने के लिये आचार्य श्री की प्रेरणा से कितनी ही संस्थाएं गतिमान हैं। अनेक पुस्तकालय, स्वाध्याय संघ और अनेक पाठशालाएँ आदि स्वाध्याय की मशाल जलाकर आचार्य श्री की देशना को पूरा कर रही हैं। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर का भी संकल्प है कि ज्ञान और स्वाध्याय के द्वारा श्रमण संस्कृति का संरक्षण, सम्प्रेषण और सृजन हो और यही आचार्य श्री की पुण्यतिथि पर सच्ची श्रद्धांजलि है।

—मंत्री, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार

वीतरागता के विशिष्ट उपासक

☐ श्री सम्पतराज डोसी

समता के साधक एवं वीतरागता के उपासक :

स्वर्गीय आचार्य प्रवर उन विरले संत-साधकों में से थे जो इस रहस्य को भली भांति मात्र जानते अथवा मानते ही नहीं पर जिन्होंने आचरण एवं अनुभूति के स्तर पर यह सिद्ध किया कि अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकांत अथवा सारे धर्म का मूल आधार या जड़ समता एवं सम्यग्दर्शन है और धर्म अथवा साधना की पूर्णता वीतरागता प्राप्त होने पर ही हो सकती है । समता अथवा सम्यग्दर्शन का भी ऊपरी व व्यावहारिक अर्थ सुदेव-सुगुरु-सुधर्म पर श्रद्धा, विश्वास या आस्था रखना होता है पर गूढ़ एवं निश्चय-परक अर्थ तो स्व-पर का अर्थात् जीव-अजीव का अथवा आत्मा एवं देह के भेद-विज्ञान की अनुभूति और वह भी आगे बढ़ कर आत्मा के स्तर पर होने पर ही होता है । मुंह से तो सामान्य व्यक्ति भी कह सकता है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। शरीर नाशवान है और आत्मा अजर-अमर है । पर जब तक मरने का भय मिटता नहीं तब तक आत्मा को अजर-अमर मानने या कहने का विशेय अर्थ नहीं रह जाता ।

भेद-विज्ञानी एवं मोह के त्यागी :

दस वर्ष जैसी अल्पायु में संयम-पथ को ग्रहण करना, सोलह वर्ष की आयु में आचार्य पद के गुणों को धारण कर लेना आदि इस महापुरुष के पूर्व जन्म में की हुई साधना के संस्कारों का ही फल समझा जा सकता है । पूर्ण युवा वय में 'मेरे अन्तर भया प्रकाश' एवं 'मैं हूँ उस नगरी का भूप' जैसी आत्म-स्पर्शी रचनाएँ उनके भेद-विज्ञान की ही स्पष्ट झलक देती हैं । संघ एवं सम्प्रदाय में रहते हुए भी वे असाम्प्रदायिक भावना वाले ही थे । इसी के फल-स्वरूप मात्र स्थानकवासी परम्पराओं के ही नहीं बल्कि अन्य परम्पराओं के अनुयायियों के हृदय में भी आपके प्रति श्रद्धा एवं भक्ति विद्यमान थी ।

जैन धर्म का विशेष ज्ञान रखने वाले विद्वान् जानते हैं कि हिंसा, झूठ, चोरी आदि सतरह पापों का मूल मात्र एक अठारहवां पाप मिथ्या दर्शन शल्य है । यह पाप मोह कर्म की मिथ्यात्व मोहनीय नाम प्रकृति के फल-स्वरूप

होता है । मिथ्यात्व मोह की गांठ गले बिना सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता और बिना सम्यग्दर्शन के सारा ज्ञान एवं सम्पूर्ण क्रिया बिना एक की बिंदियों के माफिक है । बिना मोह की अथवा राग-द्वेष की कमी के न कोई पुण्य होता है और न धर्म ही । धर्म के विषय में अनेक भ्रांतियां समाज में घर कर गई हैं । सबसे बड़ी भ्रांति धर्म के फल को परलोक से जोड़ने की है । इसी प्रकार धन, कुटुम्ब, निरोगता, यश आदि का मिलना धर्म का फल समझा जाने लग गया । धर्म को एक स्थान विशेष में, समय विशेष में करने की क्रिया मान लिया गया और सारे धर्म का सम्बन्ध जीवन से कट गया । जबकि सच्चाई तो यह है कि धर्म शांति से जीवन जीने की कला है और उसका फल जिस प्रकार भोजन से भूख और पानी से प्यास तुरन्त बुझती है, इसी प्रकार धर्म से तत्काल शांति मिलती है ।

स्व० आचार्य श्री ने ऐसी भ्रांत धारणाओं को मिटाने हेतु तथा धर्म और समता को जीवन का अंग बनाने हेतु पहले स्व के अध्ययन, ज्ञान हेतु स्वाध्याय और फिर उस आत्म-ज्ञान को जीवन में उतारने हेतु समता भाव की साधना रूप सामायिक पर विशेष जोर दिया । स्वाध्याय और सामायिक की आवश्यकता और उपयोगिता को तो समाज ने समझा और इसके फलस्वरूप स्वाध्यायियों एवं साधकों की संख्या तो जरूर बढ़ी परन्तु अधिकांश स्वाध्यायी एवं साधक भी इनका ऊपरी अर्थ ही पकड़ पाये । मात्र धार्मिक पुस्तकों, ग्रन्थों, सूत्रों आदि को पढ़ लेना अथवा सुन लेना या सुना देना तक को ही स्वाध्याय समझ लिया और इसी प्रकार सामायिक भी स्थानक, समय या वेश की सीमा तक ही ज्यादातर सीमित होकर रह गई । समता भाव को स्वाध्यायियों, साधकों अथवा संत-सती वर्ग में से भी अधिकांश के जीवन का अंग बना पाने का आचार्य श्री का स्वप्न पूरा साकार न हो सका । मेरे जैसों को उन्होंने अनेक बार फरमाया कि मैं स्वाध्यायियों या साधकों की संख्यात्मक वृद्धि से सन्तुष्ट नहीं हूँ और तुम्हें भी इस पर सन्तोष नहीं करना चाहिये । समाज का सुधार तो तभी हो सकेगा जब इन स्वाध्यायियों, साधकों आदि का जीवन समतामय बनेगा ।

हमारी सच्ची श्रद्धांजलि मात्र उनके नारों को शब्दों से गुंजाने में ही नहीं वरन् स्वाध्याय के असली स्वरूप को अपना कर एवं समता व सामायिक को जीवन का अंग बना कर स्वयं तथा समाज को सुधारने के प्रयास करते रहने पर ही समझी जा सकती है ।

—संयोजक, स्वाध्याय संघ, घोड़ों का चौक,

आचार्य श्री एवं नारी-जागरण

☐ श्रीमती सुशीला बोहरा

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. विशुद्ध श्रमणाचार के प्रतीक, धर्म जगत् के प्रबल प्रहरी, युग प्रवर्तक संत एवं इस युग की महान् विभूति थे। ७० वर्ष की सुदीर्घावधि तक उत्कट अध्यात्म-साधना में लीन एवं आत्म-चिंतन में निरन्तर निरत रहकर आपने जहाँ अनेक आध्यात्मिक उपलब्धियों को प्राप्त किया, वहीं आपके उपदेशों से अनुप्राणित हो अनेक कल्याणकारी संगठनों की सुदृढ़ नींव पड़ी है। आप जहाँ एक परम्परावादी महान् संतों की श्रृंखला में शीर्षस्थ थे वहीं प्रगतिशील एवं सुधारवादी संतों में उच्चकोटि के विचारक रहे। आपने ज्ञानाराधक के रूप में सम्यक्ज्ञान प्रचारक मंडल, सामायिक संघ, स्वाध्याय संघ, जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जैन इतिहास समिति आदि संस्थाओं को खोलने की प्रेरणा दी वहीं समाज सुधारक के रूप में स्वधर्मी वात्सल्य समिति एवं अखिल भारतीय महावीर जैन श्राविका समिति जैसी संस्थाओं का मार्गदर्शन कर तथा स्वाध्यायी बन पर्युषण में सेवा देने की प्रेरणा देकर महिलाओं को घर की चार दीवारी से निकलकर कार्य करने की प्रेरणा दी तथा सदियों से जीवन-निर्माण क्षेत्र में पिछड़ी हुई मातृ शक्ति को कार्य क्षेत्र में उतरने का आह्वान किया।

वे यदाकदा फ़रमाते रहते थे कि साधना के मार्ग में स्त्री-पुरुष में कोई विभेद नहीं है। स्त्रियों की संख्या धर्म-क्षेत्र में सदैव पुरुषों से अधिक रही है। सभी कालों में साधुओं की अपेक्षा साध्वियाँ, श्रावकों की अपेक्षा श्राविकाएँ अधिक रही हैं। यहाँ तक कि तीर्थंकर पद तक को उन्होंने प्राप्त किया है, अतएव महिलायें तो धर्म की रक्षक रही हैं। इन्हीं माताओं की गोद में महान् पुरुषों का लालन-पालन होता है और उनके कंठ से मधुर ध्वनि फूट पड़ी—

> "ऋषभदेव और महावीर से, नर वर जाये हैं ।
> राम कृष्ण तेरे ही सुत हैं, महिमा छाई हो ।।
> जन-जन वंदन सब ही तुम पर, आश धरावे हो ।
> युग-युग से तुम ही माता बन, पूजा पाई हो ।।"

उक्त पंक्तियों द्वारा मातृ शक्ति की महिमा का गुणगान ही नहीं किया बल्कि भविष्य में आशा की किरण भी उन्हें माना है। उनका कहना था—सती मदालसा की भाँति 'शुद्धोसि, बुद्धोसि, निरंजनोसि' की लोरी सुनाकर माता सत्कार्य की ऐसी प्रेरणा दे सकती है जो १०० अध्यापक मिलकर जीवन भर नहीं दे सकते।

वास्तव में पुरुष और स्त्री गृहरूपी शकट के दो चक्र हैं। उनमें से एक की भी खराबी पारिवारिक जीवन रूपी यात्रा में बाधक सिद्ध होती है। योग्य स्त्री सारे घर को सुधार सकती है, वह नास्तिक पुरुष के मन में भी आस्तिकता का संचार कर सकती है। महासती सुभद्रा ने अपने अन्यमति पति को ही नहीं पूरे परिवार को धर्म में प्रतिष्ठित कर दिया। धर्म के प्रति उसकी निष्ठा ने कच्चे धागों से बंधी चलनी से भी कुए से पानी खींच कर दिखा दिया। व्यवहार में यह कथा अनहोनी लगती है लेकिन आत्मिक शक्तियों के सामने प्राकृतिक शक्तियों को नतमस्तक होना पड़ता है।

दर्शन की कसौटी पर खरे रहें—आचार्य श्री फरमाया करते थे कि हमारी साधना का लक्ष्य है आठ कर्मों को और उनकी वेड़ियों को काटकर आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, निरंजन-निराकार, निर्लेप एवं अनन्त आनन्द की अधिकारी बनाना परन्तु यह लक्ष्य तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि हमारी साधना क्रम पूर्वक न चले। दर्शन की नींव पर ही धर्म का महल खड़ा रहता है। दर्शन के बिना तो ज्ञान भी सम्यक् नहीं कहला सकता अतएव पहले सच्ची श्रद्धा एवं निष्ठा हो। एक ओर बहनें संत-सतियों के मुँह से अनेक बार सुनती हैं कि प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मानुसार ही सुख-दुःख मिलते हैं, जब तक जीव की आयु पूरी नहीं होती तब तक कोई मारने वाला नहीं और दूसरी तरफ भैरू, भोपे के यहाँ जाना, दोनों में विरोधाभास लगता है। अच्छे-अच्छे धर्म के धुरन्धर कहलाने वाले भाई-बहन जहाँ पशु-पक्षियों की बलि होती है, पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या होती है, वहाँ जाकर मस्तक झुकाने एवं चढ़ावा चढ़ाने वाले मिल जायेंगे। वे दृढ़ता से फरमाते थे कि अगर नवकार मंत्र पर पूरे विश्वास से पंच परमेष्ठी की शरण में रहें तो न किसी देव की ताकत है न किसी देवी की ताकत और न किसी मानव अथवा दानव की ही ताकत है कि उनमें से कोई भी किसी प्राणी के पुण्य और पाप के विपरीत किसी तरह से उनके सुख-दुःख में उसके भोगने व त्यागने में दखलंदाजी कर सके। वह तो परीक्षा की घड़ी होती है अतएव बहनें कठिन परिस्थितियों में भी धर्म के प्रति सच्ची निष्ठावान बनी रहें तथा सच्चे देव-गुरु एवं धर्म की आराधक बनें। यही सार सबका उसका मूल है—"दंसणमूलो धम्मो।"

ज्ञान-पथ की दीपक बनो—आचार्य श्री बहनों के

आध्यात्मिक दोनों ज्ञान के लिये सतत प्रेरणा देते थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार नल के द्वारा गगन चुम्बी अट्टालिकाओं पर पानी पहुँच जाता है, वैसे ही ज्ञान-साधना द्वारा आत्मा का ऊर्ध्वगमन हो जाता है। प्राणी मात्र के हृदय में ज्ञान का अखंड स्रोत है, कहीं बाहर से कुछ लाने की आवश्यकता नहीं, परन्तु निमित्त के बिना उसका प्रकटीकरण संभव नहीं है। स्वाध्याय निमित्त बन तूली के घर्षण का काम कर ज्ञान-शक्ति को अभिव्यक्त कर सकता है। आज सत् साहित्य की अपेक्षा चकाचौंधपूर्ण साहित्य का बाहुल्य है। नव-शिक्षित एवं नई पीढ़ी उस भड़कीले प्रदर्शन से सहज आकर्षित हो बहकने लगते हैं, अतएव गंदे साहित्य को मल की तरह विसर्जित करने की सलाह देते थे तथा सत्साहित्य के पाठन-पठन हेतु सदा प्रेरित करते रहते थे। जब भी मैं दर्शनार्थ पहुँचती तो पूछते-स्वाध्याय तो ठीक चल रहा है।

ज्ञान की सार्थकता आचरण में—ज्ञान एवं क्रिया का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है अन्यथा जानकारी बुद्धि-विलास एवं वाणी-विलास की वस्तु रह जायेगी। गधे के सिर पर बावना चंदन है या सादी लकड़ी यह वह नहीं जानता। उसके लिये वह बोझा है। बिना समझ एवं आचरण के ज्ञान भी ऐसा ही बोझा है। आचार्य श्री ने ज्ञान के साथ आचरण और आचरण के साथ ज्ञान जोड़ने की दृष्टि से सामायिक एवं स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी। प्रवचनों के दौरान सामायिक के स्मरण का वर्णन करते हुए मौन सामायिक तथा स्वाध्याययुक्त समायिक के लिये ही प्रोत्साहित करते थे। क्योंकि ज्ञान ही मन रूपी घोड़े पर लगाम डाल सकता है—

"कसो वस्त्र से तन को, ज्ञान से मन को समझावो हो।
'गज मुनि' कहे, उच्च जीवन से होत भलाई हो।।"

आचरण का निखार तप से—आचार्य श्री बहनों की तपाराधना के बहुत प्रशंसक थे, लेकिन तप ऐसा हो जिससे जीवन में निखार आवे। तप और धर्म-क्रिया न तो लोक-परलोक की कामना से हो न सिद्धि-प्रसिद्धि की भावना हेतु हो। कामना पूर्वक तप करना उसे नीलामी चढ़ाना है। पीहर के गहने कपड़ों की इच्छा या कामना तपश्चर्या की शक्ति को क्षीण करती है क्योंकि वह कामना लेन-देन की माप-तौल करने लगती है। महिमा, पूजा, सत्का[illegible] नामवरी, अथवा प्रशंसा पाने के लिये तपने वाला जीव अज्ञानी है। आचार्य श्री बहनों को विवेकयुक्त तप करने तथा तपश्चर्या पर लेन-देन के नियम दिलवाया करते थे। वे व्याख्यान में [illegible] करते थे के समय को और उसकी शक्ति को जो मह[illegible] वदन [illegible]क[illegible]रों से सज्जित करने में व्यर्थ ही गंवाते हैं, [illegible] ऐसा

भाई-बहिन तप के सही स्वरूप को और उसकी सही महिमा को नहीं समझते हैं। मेंहदी क्या रंग लायेगी तप के रंग के सामने ? रंग तो यह तपश्चर्या अधिक लायेगी। तप के साथ अगर भजन किया, प्रभु-स्मरण किया, स्वाध्याय, चिंतन किया तो वही सबसे ऊँचा रंग है। तपस्या के नाम पर तीन बजे उठकर गीत गाया जावे और उसमें भी प्रभु-स्मरण के साथ दादा, परदादा, बेटे-पोते का नाम लिया जाये तो वह तप में विकृति है, तप का विकार है।

सच्चे तप की आराधक—तपश्चर्या करने वाली माताएँ शास्त्र-श्रवण, स्वाध्याय और स्मृति को लेकर आगे बढ़ेंगी तो यह तप उनकी आत्म-समाधि का कारण बनेगा, मानसिक शांति और कल्याण का हेतु बनेगा तथा विश्व में शांति स्थापना का साधन बनेगा। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य और स्वाध्याय ये चारों चौकीदार तपस्या के साथ रहेंगे तब तपश्चर्या का तेज और दिव्य ज्योति कभी खत्म नहीं होगी। तपश्चर्या करने के पश्चात् भी बात-बात में क्रोध आता है तब कर्मों का भार अधिक हल्का नहीं होगा। तपश्चर्या का मूल लक्ष्य है कर्म की निर्जरा, पूर्व संचित कर्मों को नष्ट करना। अतएव कर्म के संचित कचरे को जलाने के लिये, एकान्त कर्म-निर्जरा के लिये कर्म काटने हेतु ही तप करना चाहिये। मात्र अन्न छोड़ना ही तप नहीं। अन्न छोड़ने की तरह, वस्त्र कम करना, इच्छाओं को कम करना, संग्रह-प्रवृत्ति कम करना, कषायों को कम करना भी तप है।

> "सदाचार सादापन धारो।
> ज्ञान ध्यान से तप सिणगारो।।"

इस तरह तप के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराकर आचार्य श्री बहनों को शुद्ध तप करने को प्रेरित कर रूढ़ियों से ऊपर उठने की प्रेरणा देते जिसका प्रभाव हमें प्रत्यक्ष आज दिखायी दे रहा है। तपश्चर्या में दिखावापन धीरे-धीरे कम हो रहा है।

तप के साथ दान-सोने में सुहागा—आचार्य श्री तप के साथ दान देने को सोने में सुहागा की उपमा देते थे। तप से शरीर की ममता कम होती है और दान से धन की ममता कम होती है और ममत्व कम करना ही तपश्चर्या का लक्ष्य है। तप के नाम से खाने-पीने, ढोल-ढमाके में जो खर्च किया जाता है वह पैसा सात्विक दान में लगाना चाहिये। हर व्यक्ति तप-त्याग के साथ शुभ कार्यों में अपने द्रव्य का सही वितरण करता रहे तो "एक-एक कण करते-करते मण" के रूप में पर्याप्त धनराशि बन जाती है जिसका उपयोग दीन-दुखियों की सेवा, स्वधर्मी भाई की सेवा, संघ की सेवा में किया जा सकता है।

आध्यात्मिक दोनों ज्ञान के लिये सतत प्रेरणा देते थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार नल के द्वारा गगन चुम्बी अट्टालिकाओं पर पानी पहुँच जाता है, वैसे ही ज्ञान-साधना द्वारा आत्मा का ऊर्ध्वगमन हो जाता है। प्राणी मात्र के हृदय में ज्ञान का अखंड स्रोत है, कहीं बाहर से कुछ लाने की आवश्यकता नहीं, परन्तु निमित्त के बिना उसका प्रकटीकरण संभव नहीं है। स्वाध्याय निमित्त वन तूली के घर्षण का काम कर ज्ञान-शक्ति को अभिव्यक्त कर सकता है। आज सत् साहित्य की अपेक्षा चकाचौंधपूर्ण साहित्य का बाहुल्य है। नव-शिक्षित एवं नई पीढ़ी उस भड़कीले प्रदर्शन से सहज आकर्षित हो बहकने लगते हैं, अतएव गंदे साहित्य को मल की तरह विसर्जित करने की सलाह देते थे तथा सत्साहित्य के पाठन-पठन हेतु सदा प्रेरित करते रहते थे। जब भी मैं दर्शनार्थ पहुँचती तो पूछते-स्वाध्याय तो ठीक चल रहा है।

ज्ञान की सार्थकता आचरण में—ज्ञान एवं क्रिया का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है अन्यथा जानकारी बुद्धि-विलास एवं वाणी-विलास की वस्तु रह जायेगी। गधे के सिर पर बावना चंदन है या सादी लकड़ी यह वह नहीं जानता। उसके लिये वह बोझा है। बिना समझ एवं आचरण के ज्ञान भी ऐसा ही बोझा है। आचार्य श्री ने ज्ञान के साथ आचरण और आचरण के साथ ज्ञान जोड़ने की दृष्टि से सामायिक एवं स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी। प्रवचनों के दौरान सामायिक के स्मरण का वर्णन करते हुए मौन सामायिक तथा स्वाध्याययुक्त समायिक के लिये ही प्रोत्साहित करते थे। क्योंकि ज्ञान ही मन रूपी घोड़े पर लगाम डाल सकता है—

> "कसो वस्त्र से तन को, ज्ञान से मन को समझावो हो।
> 'गज मुनि' कहे, उच्च जीवन से होत भलाई हो।।"

आचरण का निखार तप से—आचार्य श्री बहनों की तपाराधना के बहुत प्रशंसक थे, लेकिन तप ऐसा हो जिससे जीवन में निखार आवे। तप और धर्म-क्रिया न तो लोक-परलोक की कामना से हो न सिद्धि-प्रसिद्धि की भावना हेतु हो। कामना पूर्वक तप करना उसे नीलामी चढ़ाना है। पीहर के गहने कपड़ों की इच्छा या कामना तपश्चर्या की शक्ति को क्षीण करती है क्योंकि वह कामना लेन-देन की माप-तौल करने लगती है। महिमा, पूजा, सत्कार, कीर्ति, नामवरी, अथवा प्रशंसा पाने के लिये तपने वाला जीव अज्ञानी है। अतएव आचार्य श्री बहनों को विवेकयुक्त तप करने तथा तपश्चर्या पर लेन-देन न करने के नियम दिलवाया करते थे। वे व्याख्यान में फरमाया करते थे कि तपस्या के समय को और उसकी शक्ति को जो मेंहदी लगवाने, वदन को सजाने, अलंकारों से सज्जित करने में व्यर्थ ही गंवाते हैं, मैं समझता हूँ ऐसा करने वाले

भाई-बहिन तप के सही स्वरूप को और उसकी सही महिमा को नहीं समझते हैं। मेंहदी क्या रंग लायेगी तप के रंग के सामने ? रंग तो वह तपश्चर्या अधिक लायेगी। तप के साथ अगर भजन किया, प्रभु-स्मरण किया, स्वाध्याय, चिंतन किया तो वही सबसे ऊँचा रंग है। तपस्या के नाम पर तीन बजे उठकर गीत गाया जावे और उसमें भी प्रभु-स्मरण के साथ दादा, परदादा, बेटे-पोते का नाम लिया जाये तो वह तप में विकृति है, तप का विकार है।

सच्चे तप की आराधक—तपश्चर्या करने वाली माताएँ शास्त्र-श्रवण, स्वाध्याय और स्मृति को लेकर आगे बढ़ेंगी तो यह तप उनकी आत्म-समाधि का कारण बनेगा, मानसिक शांति और कल्याण का हेतु बनेगा तथा विश्व में शांति स्थापना का साधन बनेगा। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य और स्वाध्याय ये चारों चौकीदार तपस्या के साथ रहेंगे तब तपश्चर्या का तेज और दिव्य ज्योति कभी खत्म नहीं होगी। तपश्चर्या करने के पश्चात् भी बात-बात में क्रोध आता है तब कर्मों का भार अधिक हल्का नहीं होगा। तपश्चर्या का मूल लक्ष्य है कर्म की निर्जरा, पूर्व संचित कर्मों को नष्ट करना। अतएव कर्म के संचित कचरे को जलाने के लिये, एकान्त कर्म-निर्जरा के लिये कर्म काटने हेतु ही तप करना चाहिये। मात्र अन्न छोड़ना ही तप नहीं। अन्न छोड़ने की तरह, वस्त्र कम करना, इच्छाओं को कम करना, संग्रह-प्रवृत्ति कम करना, कषायों को कम करना भी तप है।

"सदाचार सादापन धारो।
ज्ञान ध्यान से तप सिणगारो।।"

इस तरह तप के वास्तिविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराकर आचार्य श्री बहनों को शुद्ध तप करने को प्रेरित कर रूढ़ियों से ऊपर उठने की प्रेरणा देते जिसका प्रभाव हमें प्रत्यक्ष आज दिखायी दे रहा है। तपश्चर्या में दिखावापन धीरे-धीरे कम हो रहा है।

तप के साथ दान-सोने में सुहागा—आचार्य श्री तप के साथ दान देने को सोने में सुहागा की उपमा देते थे। तप से शरीर की ममता कम होती है और दान से धन की ममता कम होती है और ममत्व कम करना ही तपश्चर्या का लक्ष्य है। तप के नाम से खाने-पीने, ढोल-धमाके में जो खर्च किया जाता है वह पैसा सात्विक दान में लगाना चाहिये। हर व्यक्ति तप-त्याग के साथ शुभ कार्यों में अपने द्रव्य का सही वितरण करता रहे तो "एक-एक कण करते-करते मण" के रूप में पर्याप्त धनराशि बन जाती है जिसका उपयोग दीन-दुःखियों की सेवा, स्वधर्मी भाई की सेवा, संघ की सेवा में किया जा सकता है।

इस तरह आचार्य श्री तत्त्ववेत्ता के साथ सच्चे समाज-सुधारक थे। वे पर उपकार को भूषण मानते थे। उन्हीं के शब्दों में—

"सज्जन या दुर्बल सेवा, दीन हीन प्राणी सुख देना,
भुजवल वर्धक रत्नजटित्व, भुजबंध लो जी।"

वे तपश्चर्या के समय पीहर पक्ष की ओर से मिलने वाले प्रीतिदान को उपयुक्त नहीं मानते थे। क्योंकि कई बार यह तपस्या करने वाली उन बहिनों के मार्ग में रोड़े अटकाता जिनके पीहर वालों की खर्च करने की क्षमता नहीं होती। अतएव आचार्य श्री तपश्चर्या के नाम से दिये जाने वाले प्रीतिदान के हिमायती कभी नहीं रहे।

शील की चूंदड़ी एवं संयम का पैबंद लगाओ—आचार्य भगवन् बहनों के संयमित जीवन पर बहुत बल देते थे। उनका उद्घोष था "जहाँ सदाचार का बल है वहाँ नूर चमकाने के लिये बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती, बाह्य उपकरण क्षणिक हैं, वास्तविक सौन्दर्य तो सदाचार है जो शाश्वत है, अमिट है। उम्र बढ़ने के साथ बचपन से जवानी से बुढ़ापा आता है, झुरियें भी पड़ती हैं लेकिन आत्मिक शक्ति उम्र बढ़ने के साथ रंग ही लाती है, बदरंग नहीं करती।"

युग बदलने के साथ हमारे जीवन के तौर-तरीकों में बहुत अंतर आ गया है। हमारी भावी पीढ़ी चारित्रिक सौन्दर्य के बजाय शरीर-सौन्दर्य पर अधिक बल दे रही है। उस सौन्दर्य के नाम पर जिस कृत्रिम भौण्डेपन का प्रदर्शन किया जा रहा है उसमें हिंसा और क्रूरता का भाव मिला हुआ है। आचार्य श्री फैशनपरस्त वस्तुओं के उपयोग के सख्त खिलाफ थे। वे 'सादा जीवन और उच्च विचार' को सन्मार्ग मानते थे। उनका उद्घोष था—

"ये जर जेवर भार सरूपा।"

इनके चोरी होने का डर रहता है। इनसे दूसरों में ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न होता है और अनैतिकता को बढ़ावा मिलता है। सास से बहू को ताने सुनने पड़ सकते हैं, १० साल की लड़की ५० साल के बुढ्ढे को परणाई जा सकती है और तो और दो तौले के पीछे अपनी जान खोनी पड़ सकती है। अतएव गहना-कपड़ा नारी का सच्चा आभूषण नहीं, श्रेष्ठ आभूषण तो शील है—

"शील और संयम की महिमा तुम तन शोभे हो।
सोने, चांदी हीरक से नहीं, खान पुजाई हो॥"

उन्होंने उक्त दो पंक्तियों में गागर में सागर भर दिया है। यदि सोने-चांदी से ही किसी की पूजा होती तब तो सोने-चांदी व हीरे के खानों की पूजा पहले होती। इस सोने-चांदी से शरीर का ऊपरी सौन्दर्य भले ही कुछ बढ़ जाय मगर अंतःकरण की पवित्रता का ह्रास होने की संभावना रहती है, दिखावे की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिल सकता है तथा अहंकार की पूंछ लम्बी होने लगती है। त्याग, संयम और सादगी में जो सुन्दरता, पवित्रता एवं सात्विकता है वह भोगों में कहां? जिस रूप को देखकर पाप कांपता है और धर्म प्रसन्न होता है वही सच्चा रूप एवं सौन्दर्य है। आचार्य जवाहरलालजी म. सा. ने भी फरमाया है—

"पतिव्रता फाटा लता, नहीं गला में पोत।
भरी सभा में ऐसी दीपे, हीरक की सी जोत।।"

जगत्-वन्दनीय बनें—आचार्य श्री को मातृ शक्ति से देश, धर्म और संघ सुधार की भी बड़ी आशायें रहीं। वे मानते थे कि भौतिकता के इस चकाचौंध पूर्ण युग में जगत् जननी माता के द्वारा ही भावी पीढ़ी को मार्गदर्शन मिल सकता है, पुरुषों को विलासिता में जाने से रोका जा सकता है और कुव्यसनों से समाज को मुक्त रखा जा सकता है। उन्हीं के शब्दों में—

"देवी अब यह भूषण धारो, घर संतति को शीघ्र सुधारो,
सर्वस्व देय मिटावो, आज जगत् के मर्म को जी।
धारिणी शोभा सी बन जाओ, वीर वंश को फिर शोभाओ,
'हस्ती' उन्नत कर दो, देश, धर्म अरु संघ को जी।।

अतएव आचार्य भगवन् ने ज्ञान-पथ की पथिक, दर्शन की धारक, सामायिक की साधक, तप की आराधक, शील की चूंदड़ी ओढ़े, संयम का पैबंद, दया व दान की जड़त लगी जिस भारतीय नारी की कल्पना की है, वह युग-युगों तक हम बहनों के जीवन का आदर्श बनकर हमारा पथ-प्रदर्शन करती रहेगी।

—परियोजना निदेशक, जिला महिला विकास अभिकरण, जोधपुर

• • •

नारी-चेतना और आचार्य श्री

☐ कुमारी अनुपमा कर्णावट

"कुछ नदियाँ ऐसी बढ़ीं, किनारे डूब गये,
कुछ बादल ऐसे घिरे, बादल डूब गये।
पथ-काँटों पर आगाह हमें फिर कौन करे,
जब फूलों में रहनुमा हमारे डूब गये।।"

रत्नवंश के सप्तम आचार्य परम पूज्य श्रद्धेय श्री हस्तीमलजी म० सा० को देवलोक हुए एक वर्ष होने को है, किन्तु एक अपूरित रिक्तता, एक अथाह शून्यता का अहसास आज भी हमें समेटे है।

जैन समाज का एक मजबूत स्तम्भ गिर गया या फिर कह दें कि वे स्वयं पावन भूमि को नमन करने की लालसा लिए उसके आगोश में समा गये और हमेशा के लिए हमारी नजरों से ओझल हो गये, किन्तु क्या वही उनका अन्त भी था ? कदापि नहीं। जो प्रेरणा और सन्देश वे हमें अनमोल विरासत के रूप में दे गये, वे आज भी साक्षी हैं उनके अस्तित्व के और प्रतीक हैं इस विश्वास के भी कि वे यहीं हैं, हमारे मध्य, हमारे दिलों में।

संयम-साधना के सजग प्रहरी, जिनका सम्पूर्ण जीवन ज्ञान और क्रिया की अद्‌भुत क्रीड़ास्थली रहा। उनके जीवन से जुड़े स्वाध्याय, तप, त्याग, सेवा, संयम, अनुशासन इत्यादि के अनमोल दृष्टान्त आज न केवल हमारे मार्गदर्शक हैं, वरन् समाज के विकास का प्रमुख आधार भी हैं। प्रेरणा की इन्हीं प्रखर रश्मियों के मध्य उन्होंने एक ज्योति प्रज्वलित की थी नारी चेतना की।

नारी—आदि से अनन्त तक गौरव से विभूषित, समाज-निर्माण में अपनी विशिष्ट भूमिका अदा करने वाली, सदैव सम्मान की अधिकारिणी। यद्यपि कुछ विशिष्ट कालों में, कुछ विशिष्ट मतों में अवश्य ही उसे हेय दृष्टि से देखा गया, यहाँ तक कि उसे विनिमय की वस्तु भी मान लिया गया किन्तु हम उस समय भी, उसकी उपस्थिति को गौण कदापि नहीं मान सकते।

जैन दर्शन में सदैव नारी को महत्ता प्रदान की गई। उसके माध्यम से समाज ने बहुत कुछ पाया। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने सृष्टि को

लिपियों व चौंसठ कलाओं का ज्ञान अपनी पुत्रियों ब्राह्मी व सुन्दरी के माध्यम से ही दिया। भगवान ने उनके साथ अनेक अन्य नारियों को भी दीक्षित कर स्त्रियों के लिए धर्म का मार्ग खोल दिया।

कई युगों पश्चात् महावीर स्वामी ने चतुर्विध संघ की स्थापना कर नारियों के इस सम्मान को बरकरार रखा और तत्कालीन नारियों ने भी विभिन्न रूपों में अपनी विशिष्ट छाप अंकित की। वैराग्य की प्रतिमूर्ति साध्वी-प्रमुखा चन्दनबाला, लोरी से पुत्रों का जीवन-निर्माण करती माता मदालसा, श्रेणिक को विधर्मी से धार्मिक बनाने वाली धर्म सहायिका रानी चेलना एवं अनेकानेक अन्य विभूतियाँ जो अपने समय की नारियों का प्रतिनिधित्व करती हुई आज भी महिलाओं में आदर्श का प्रतीक हैं और सम्मान के सर्वोच्च शीर्ष पर आसीन हैं।

किन्तु जैसे-जैसे कालचक्र चलता रहा, नारी में वैराग्य, त्याग, धर्म, नैतिकता, अध्यात्म और सृजन की ये वृत्तियां उत्तरोत्तर क्षीण होती गईं। उनके भीतर की मदालसा, कमलावती, ब्राह्मी और सुन्दरी मानों कहीं लुप्त हो रही थीं। अतीत से वर्तमान में प्रवेश करते-करते, समय में एक वृहद किन्तु दुःखद परिवर्तन आ चुका था। अब नारी का उद्देश्य मात्र भौतिक उपलब्धियों तक सीमित हो गया। सामाजिक चेतना की भावना कहीं खो गई और धर्म-समाज के निर्माण की कल्पनाएँ धूमिल हो गईं।

ऐसे में मसीहा बन कर आगे आये आचार्य हस्ती। वे नारी के विकास में ही समाज के विकास की सम्भावना को देखते थे। वे कहते कि "स्त्रियों को आध्यात्मिक पथ पर, धर्म पथ पर अग्रसर होने के लिए जितना अधिक प्रोत्साहित किया जायेगा, हमारा समाज उतना ही अधिक शक्तिशाली, सुदृढ़ और शक्तिशाली बनेगा।"

वे यह मानते थे कि धर्म, धार्मिक विचारों, धार्मिक क्रियाओं एवं उसके विविध आयोजनों के प्रति अटूट आस्था और प्रगाढ़ रुचि होने के कारण स्त्रियाँ धर्म की जड़ों को सुदृढ़ करने और धार्मिक विचारों का प्रचार-प्रसार करने में पुरुषों की अपेक्षा अत्यधिक सहायक हो सकती हैं और हम सभी जानते हैं कि इस बात को झुठलाया नहीं जा सकता।

किन्तु यह तभी सम्भव था जबकि नारियाँ सुसंस्कारी हों, उनमें उत्थान की तीव्र उत्कंठा हो और धर्म का स्वरूप जानने के साथ-साथ वे उसकी क्रियात्मक परिणति के लिए भी तत्पर हों जबकि आज इन भावनाओं का अकाल-सा हो गया था। तब आचार्यश्री अतीत के उन गौरवशाली स्वर्णिम दृष्टान्तों को वर्तमान के ज़हन में पुनः साकार करने का स्वप्न संजोकर नारी में चेतना व जागृति

का संचार करने हेतु तत्पर हो उठे। प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों रूपों से वे इस दिशा में सतत प्रयत्नशील रहे। वे चाहते थे कि स्त्रियों में ज्ञान की ज्योति स्वयं उनके अन्तरमन से प्रकाशित हो। इस हेतु वे स्वाध्याय पर विशेष जोर देते थे। महावीर श्राविका संघ की स्थापना करते समय भी उन्होंने इस प्रवृत्ति को विशिष्ट रूप से संघटन की नियमावली में सम्मिलित किया। आत्म-उत्थान के प्रयास में यह प्रवृत्ति बहुत सहायक हो सकती है, ऐसा वे हमेशा मानते थे।

वे समाज की नारियों में धर्म व क्रिया का अनुपम संगम चाहते थे। वे कहते थे कि क्रिया के बिना ज्ञान भारभूत है और ज्ञान के बिना क्रिया थोथी है। जिस प्रकार रथ को आगे बढ़ाने के लिए उसके दोनों पहियों का होना आवश्यक है, उसी प्रकार समाज-विकास के रथ में ज्ञान व क्रिया दोनों का होना उसकी प्रगति के लिए आवश्यक है, ऐसा उनका अटूट विश्वास था। किन्तु दुर्भाग्यवश ये दोनों (ज्ञान व क्रिया) पृथक् होकर समाज का विभाजन कर चुके थे और समाज की महिलाओं के ऐसे दो वर्गों पर अपना-अपना शासन स्थापित कर रहे थे जो परस्पर बिल्कुल विपरीत और पृथक् थे, नदी के दो किनारों की भांति, जिनके मिलन के अभाव में समाज का ह्रास हो रहा था।

एक ओर थी आधुनिक काल की वे युवतियाँ जो तथाकथित उच्च शिक्षा की प्राप्ति कर धर्म को जड़ता का प्रतीक मानती थीं। मात्र भौतिक ज्ञान की प्राप्ति से वे गौरवान्वित थीं। बड़ी-बड़ी पुस्तकों का अध्ययन कर, डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर वे विदुषी तो कहलाती थीं किन्तु ज्ञानी नहीं बन पाती थीं। धर्म का तात्पर्य उनके लिए मात्र शब्दकोषों में सिमट कर रह गया था। वह पिछड़ेपन की निशानी व भावी प्रगति में बाधक माना जाता था। नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ उनके लिए व्यंग्य का विषय थीं। ऐसी स्त्रियों में आचार्यश्री ने धर्म का बीज वपन किया। उन्होंने अपनी प्रेरणा से उनके ज्ञान के साथ धर्म व क्रिया को सम्बद्ध किया, यह कहते हुए कि क्रिया व ज्ञान के समन्वय से ही धर्म फलीभूत होता है। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी व अपने जीवन-चरित्र के माध्यम से उन युवतियों में अध्यात्म का इस प्रकार संचार किया कि वे युवतियाँ जो कभी धर्म को हेय दृष्टि से देखा करती थीं, अब उसी धर्म को अपना मानने में, स्वीकार करने में गौरव की अनुभूति करने लगीं। अतीत के कल्पनातीत दृष्टान्तों द्वारा आचार्य प्रवर के माध्यम से प्रेरणा पाकर धर्म के प्रति उनकी रुचि इतनी तीव्र हो गई कि वे धार्मिक क्रियाएँ जैसे सामायिक, प्रतिक्रमण, माला इत्यादि, जो उनकी दृष्टि में मात्र समय के अपव्यय की कारक थीं, अब उनके जीवन के साथ घनिष्ठता से जुड़ गईं और उन्हीं में अब उन्हें आत्म-उत्थान का मार्ग दृष्टिगत होने लगा। उनके जीवन का रुख अब बदल चुका था और वे

समर्पण भाव से धर्म के, समाज के विस्तार में, निर्माण में अपना हाथ बंटाने लगीं, किन्तु क्यों ? स्पष्ट था आचार्य प्रवर की प्रेरणा से।

दूसरी ओर समाज में नारियों का वह वर्ग था जो धर्म की दिशा में क्रियाशील तो था किन्तु एक निश्चित उद्देश्य की अनुपस्थिति में, क्योंकि उनमें ज्ञान का सर्वथा अभाव था। ज्ञान के अभाव में उस क्रिया के निरर्थक होने से उसका अपेक्षित फल न उन्हें मिल पा रहा था, न समाज को। वे जो करती थीं उसे जान नहीं पाती थीं। अंधविश्वासों से ओतप्रोत होकर वे धर्म को पुरातन परम्परा का मात्र अंधानुकरण करती थीं, फलतः उसके लाभ की प्राप्ति से भी वंचित रह जाती थीं। धर्मपरायण बनने की होड़ में सम्मिलित होकर वे माला फेरती थीं किन्तु एकाग्रचित्त होकर इष्ट का स्मरण करने नहीं वरन् यह दिखाने के लिए कि हम धार्मिक हैं। उनके विवेक चक्षुओं पर अज्ञान की पट्टी बंध कर उन्हें विवेकहीन बना रही थी। वास्तव में वे अपनी, अपने परिवार की सुख-शांति हेतु धर्म से डरी हुई होती हैं। क्योंकि बाल्यकाल से ही यह विचार उन्हें संस्कारों के साथ जन्मघुट्टी के रूप में दे दिया जाता है और इस प्रकार दिया जाता है कि वे अनुकरण की आदी हो जाती हैं। उसके बारे में सोचने-समझने या कुछ जानने की स्वतन्त्रता या तो उन्हें दी नहीं जाती या फिर वे इसे अपनी क्षमता से परे जान कर स्वयं त्याग देती हैं। उनका ज्ञान हित व अहित के पहलू तक सिमट जाता है कि यदि हम धर्म नहीं करेंगे तो हमें इसके दुष्परिणाम भुगतने होंगे और बस यह कल्पना मात्र धर्म को उनके जीवन की गहराइयों तक का स्पर्श करने से रोक देती है और मात्र उस भावी अनिष्ट से बचने के लिए वे सामायिक का जामा पहन कर मुँहपत्ती को कवच मान लेती हैं। उसके पुनीत उद्देश्य व मूल स्वरूप की गहराई तक पहुँचने का अवसर उनसे उनकी अज्ञानता का तिमिर हर लेता है।

समाज में ऐसी स्त्रियों की तादाद एक बड़ी मात्रा में थी अतः उनकी चेतना के अभाव में समाज के विकास की कल्पना भी निरर्थक थी। अतः आचार्य श्री ने अपनी प्रेरणा की मशाल से ऐसी नारियों में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित की। उन्होंने अपने प्रवचनों के माध्यम से उन्हें धर्म का तात्पर्य बताया। धर्म क्या है ? क्यों आवश्यक है ? माला का उद्देश्य क्या है ? सामायिक की विधि क्या हो ? इत्यादि अनेकानेक ऐसे अव्यक्त प्रश्न थे जिनका समाधान उन्होंने अत्यन्त सहज रूप में किया और निश्चय ही इसका सर्वाधिक प्रभाव उन रूढ़िवादी नारियों पर ही पड़ा। उनकी मान्यताएँ बदल गईं और धर्म जीवन्त हो उठा।

इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों में ज्ञान व क्रिया दोनों को समाविष्ट क
यत्न किया किन्तु इसके मूल में कहीं समाज के उत्थान का उद्देश्य ही

का संचार करने हेतु तत्पर हो उठे। प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों रूपों से वे इस दिश में सतत प्रयत्नशील रहे। वे चाहते थे कि स्त्रियों में ज्ञान की ज्योति स्वयं उन अन्तरमन से प्रकाशित हो। इस हेतु वे स्वाध्याय पर विशेष जोर देते थे। मह वीर श्राविका संघ की स्थापना करते समय भी उन्होंने इस प्रवृत्ति को विशि रूप से संघटन की नियमावली में सम्मिलित किया। आत्म-उत्थान के प्रयास यह प्रवृत्ति बहुत सहायक हो सकती है, ऐसा वे हमेशा मानते थे।

वे समाज की नारियों में धर्म व क्रिया का अनुपम संगम चाहते थे। कहते थे कि क्रिया के बिना ज्ञान भारभूत है और ज्ञान के बिना क्रिया थोथी है जिस प्रकार रथ को आगे बढ़ाने के लिए उसके दोनों पहियों का होना आवश है, उसी प्रकार समाज-विकास के रथ में ज्ञान व क्रिया दोनों का होना उस प्रगति के लिए आवश्यक है, ऐसा उनका अटूट विश्वास था। किन्तु दुर्भाग्यवश दोनों (ज्ञान व क्रिया) पृथक् होकर समाज का विभाजन कर चुके थे और सम की महिलाओं के ऐसे दो वर्गों पर अपना-अपना शासन स्थापित कर रहे थे परस्पर बिल्कुल विपरीत और पृथक् थे, नदी के दो किनारों की भांति, जि मिलन के अभाव में समाज का ह्रास हो रहा था।

एक ओर थी आधुनिक काल की वे युवतियाँ जो तथाकथित उच्च शि की प्राप्ति कर धर्म को जड़ता का प्रतीक मानती थीं। मात्र भौतिक ज्ञा प्राप्ति से वे गौरवान्वित थीं। बड़ी-बड़ी पुस्तकों का अध्ययन कर, डाक्टरे उपाधि प्राप्त कर वे विदुषी तो कहलाती थीं किन्तु ज्ञानी नहीं बन पाती धर्म का तात्पर्य उनके लिए मात्र शब्दकोषों में सिमट कर रह गया था पिछड़ेपन की निशानी व भावी प्रगति में बाधक माना जाता था। नाना की धार्मिक क्रियाएँ उनके लिए व्यंग्य का विषय थीं। ऐसी स्त्रियों में आच ने धर्म का बीज वपन किया। उन्होंने अपनी प्रेरणा से उनके ज्ञान के सा व क्रिया को सम्बद्ध किया, यह कहते हुए कि क्रिया व ज्ञान के समन्वय धर्म फलीभूत होता है। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी व अपने जीवन-चरि माध्यम से उन युवतियों में अध्यात्म का इस प्रकार संचार किया कि वे युवति जो कभी धर्म को हेय दृष्टि से देखा करती थीं, अब उसी धर्म को अपना मान में, स्वीकार करने में गौरव की अनुभूति करने लगीं। अतीत के कल्पनाती दृष्टान्तों द्वारा आचार्य प्रवर के माध्यम से प्रेरणा पाकर धर्म के प्रति उनकी रुचि इतनी तीव्र हो गई कि वे धार्मिक क्रियाएँ जैसे सामायिक, प्रतिक्रमण, माला इत्यादि, जो उनकी दृष्टि में मात्र समय के अपव्यय की कारक थीं, अब उनके जीवन के साथ घनिष्ठता से जुड़ गईं और उन्हीं में अब उन्हें आत्म-उत्थान का मार्ग दृष्टिगत होने लगा। उनके जीवन का रुख अब बदल चुका था और वे

था क्योंकि स्त्रियाँ ही निर्माता होती हैं भावी पीढ़ी की और माध्यम होती हैं संस्कारों के संचार की। अतः उन्हें ज्ञान व क्रिया के अपूर्व समन्वय का सन्देश देकर उन्होंने भावी सुसंस्कृत समाज की आधारशिला रख दी थी।

"क्रिया से ज्ञान का, जब नारी में होगा संगम,
हर दृश्य तब पावन समाज का, निस्संदेह बनेगा विहंगम।"

इस प्रकार आचार्यश्री ने नारी उत्थान में अपूर्व योगदान दिया किन्तु वे उसकी स्वतन्त्रता के पक्षधर थे, स्वच्छन्दता के नहीं। उसकी नैसर्गिक मर्यादा का उल्लंघन उनकी दृष्टि में वर्जित था। उनका मानना था कि नारी का कार्य-क्षेत्र उसकी सीमाओं के भीतर ही वांछनीय है अन्यथा सीमा के बाहर की उप-लब्धियाँ नारी की शोभा को विकृत कर देती हैं और तब वे समाज के अहित में ही होती हैं। नारी चेतना के विकास की सबसे बड़ी विडम्बना वर्तमान में यही है कि नारी की स्वतन्त्रता मात्र स्वच्छन्दता व पुरुषों के विरोध का प्रतीक बन गई है। नारी स्वतन्त्रता की दुहाई देकर महिलाएँ फैशनपरस्ती की दौड़ में सम्मिलित हो जाती हैं और पुरुषों के विरुद्ध नारेबाजी का बिगुल बजा कर स्वयं को अत्याधुनिकाओं की श्रेणी में मानकर गौरवानुभूति करती हैं। ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ हासिल कर वे समाज को रचनात्मक सहयोग नहीं देतीं, ऊँचे ओहदे प्राप्त करने के पीछे उनका उद्देश्य समाज व परिवार की आर्थिक मजबूती नहीं होता वरन् ये सब तो प्रतीक होता है उनकी झूठी शान का, बाहरी दिखावे का और भीतर में ही कहीं इस अहम् की पुष्टि का भी कि हम पुरुषों से कहीं आगे हैं और हमें उनके सहयोग की आवश्यकता कदापि नहीं। किन्तु इस मिशन के पीछे भागने की उन्हें बहुत बड़ी कीमत अदा करनी पड़ती है। 'कुछ' अधिक पाने की लालसा लिए वे परस्पर भी मनमुटाव कर बैठती हैं और समाज को कमजोर बना देती हैं। 'कुछ' की प्राप्ति में वे अपना 'बहुत कुछ' खो बैठती हैं—अपने परिवार की सुख-शांति, समाज के सृजन की कल्पना और यहाँ तक कि स्नेह व सहयोग की भावनाएँ भी जो कहीं अन्दर ही अन्दर समाज को खोखला बना देती हैं।

वस्तुतः इसीलिए आचार्यश्री नारी की ऐसी स्वतन्त्रता के पोषक कभी नहीं रहे। नारियाँ अपनी विशिष्ट पहचान बनाएँ अवश्य किन्तु किसी अन्य को हटा कर नहीं, वरन् अपना स्थान खुद बना कर, वे विचारों से आधुनिक बनें, रहन-सहन से नहीं। सादगी एवं सौम्यता निस्संदेह सफलता के बावजूद उनके व्यक्तित्व के अहम पहलू हों तो ही वे समाज के विकास में सकारात्मक योग दे सकती हैं। उनकी सीमाएँ इसमें बाधक नहीं क्योंकि त्याग, धैर्य, सहनशीलता, सृजन व उदारता के नैसर्गिक गुण उनके कार्यक्षितिज की सम्भावनाओं को

अपरिमित रूप से जब विस्तृत कर देते हैं तो फिर उनका अतिक्रमण किसलिए ? अत: आचार्यश्री यही कहा करते थे कि यदि प्रत्येक नारी अपने परिवार को सुसंस्कारों व स्वस्थ विचारों का पोषण प्रदान करे तो निश्चय ही उनसे जुड़कर बनने वाला समाज भी स्वत: ही धर्मोन्मुख होगा और तब उसमें संस्कारों को दवा रूप में बाहर से भेजने की आवश्यकता का कहीं अस्तित्व नहीं होगा।

किन्तु इन सीमाओं से आचार्यश्री का तात्पर्य नारी को उदासीन या तटस्थ बनाने का नहीं था। वे तो स्त्रियों को स्वावलम्बन की शिक्षा देना चाहते थे ताकि वे अपने शोषण के विरुद्ध आवाज उठा सकें। तत्कालीन विधवा समाज सुधार में उनका योगदान प्रेरणास्पद था।

उस समय विधवाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय व शोचनीय थी। वे समाज का वो उपेक्षित अंग थी जिन्हें घुटन भरी श्वासों का अधिकार भी दान में मिलता था। उनके लिए रोशनी की कोई किरण बाकी नहीं रह जाती थी और यहाँ तक कि वे स्वयं भी इसी जीवन को अपनी बदनसीबी व नियति मानकर संकीर्णता की परिधि में कैद हो जाती थीं। आचार्यश्री ने उन्हें इस चिन्ताजनक स्थिति से उबारा। उन्होंने उन्हें जीवन की सार्थकता समझाकर उनमें नवीन आत्म-विश्वास का संचार किया व उन्हें अनेक रचनात्मक भावनाएँ व सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ प्रदान कीं जिससे वे भी ऊपर उठकर समाज निर्माण में एक विशिष्ट भूमिका का निर्वाह कर सकें। यह उन्हीं की प्रेरणा का फल है कि आज अनेकानेक विधवाएँ संकीर्णता के दायरे से निकल कर मजबूती के साथ धर्म-कार्य में संलग्न हैं व अन्य नारियों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत बनी हुई हैं।

आचार्यश्री की इस प्रवृत्ति से सती-प्रथा विरोधी आन्दोलन को भी बल मिला। उन्होंने विधवाओं को सम्मानजनक स्थिति प्रदान कर सती-प्रथा का भी विरोध किया। वे शुभ कर्मों से मिले दुर्लभ मानव-जीवन को समय से पूर्व ही स्वत: होम करने के पक्षधर नहीं थे। जिस प्रकार मनुष्य जन्म का निर्धारण हमारे हाथ में नहीं, उसी भाँति उसके अन्त को भी वे हमारे अधिकार क्षेत्र से परे मानते थे। वे इसे कायरता का प्रतीक मानकर इसके स्थान पर शरीर को धर्म-साधना में समर्पित कर देना बेहतर मानते थे।

उन्होंने अन्य कई नारी विरोधी कुरीतियों के उन्मूलन पर बल दिया। विशेषत: वे दहेज प्रथा के विरुद्ध अक्सर प्रयत्नरत रहते थे। दहेज प्रथा को वे समाज का कोढ़ मानते थे जो समाज को अपंग, नाकारा एवं विकृत बनाये दे रही थी। इस दावानल की भीषण लपटें निरन्तर विकराल रूप धारण

था क्योंकि स्त्रियाँ ही निर्माता होती हैं भावी पीढ़ी की और माध्यम होती हैं संस्कारों के संचार की। अतः उन्हें ज्ञान व क्रिया के अपूर्व समन्वय का सन्देश देकर उन्होंने भावी सुसंस्कृत समाज की आधारशिला रख दी थी।

"क्रिया से ज्ञान का, जब नारी में होगा संगम,
हर दृश्य तब पावन समाज का, निस्संदेह बनेगा विहंगम।"

इस प्रकार आचार्यश्री ने नारी उत्थान में अपूर्व योगदान दिया किन्तु वे उसकी स्वतन्त्रता के पक्षधर थे, स्वच्छन्दता के नहीं। उसकी नैसर्गिक मर्यादा का उल्लंघन उनकी दृष्टि में वर्जित था। उनका मानना था कि नारी का कार्य-क्षेत्र उसकी सीमाओं के भीतर ही वांछनीय है अन्यथा सीमा के बाहर की उपलब्धियाँ नारी की शोभा को विकृत कर देती हैं और तब वे समाज के अहित में ही होती हैं। नारी चेतना के विकास की सबसे बड़ी विडम्बना वर्तमान में यही है कि नारी की स्वतन्त्रता मात्र स्वच्छन्दता व पुरुषों के विरोध का प्रतीक बन गई है। नारी स्वतन्त्रता की दुहाई देकर महिलाएँ फैशनपरस्ती की दौड़ में सम्मिलित हो जाती हैं और पुरुषों के विरुद्ध नारेबाजी का बिगुल बजा कर स्वयं को अत्याधुनिकाओं की श्रेणी में मानकर गौरवानुभूति करती हैं। ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ हासिल कर वे समाज को रचनात्मक सहयोग नहीं देतीं, ऊँचे ओहदे प्राप्त करने के पीछे उनका उद्देश्य समाज व परिवार की आर्थिक मजबूती नहीं होता वरन् ये सब तो प्रतीक होता है उनकी झूठी शान का, बाहरी दिखावे का और भीतर में ही कहीं इस अहम् की पुष्टि का भी कि हम पुरुषों से कहीं आगे हैं और हमें उनके सहयोग की आवश्यकता कदापि नहीं। किन्तु इस मिशन के पीछे भागने की उन्हें बहुत बड़ी कीमत अदा करनी पड़ती है। 'कुछ' अधिक पाने की लालसा लिए वे परस्पर भी मनमुटाव कर बैठती हैं और समाज को कमजोर बना देती हैं। 'कुछ' की प्राप्ति में वे अपना 'बहुत कुछ' खो बैठती हैं—अपने परिवार की सुख-शांति, समाज के सृजन की कल्पना और यहाँ तक कि स्नेह व सहयोग की भावनाएँ भी जो कहीं अन्दर ही अन्दर समाज को खोखला बना देती हैं।

वस्तुतः इसीलिए आचार्यश्री नारी की ऐसी स्वतन्त्रता के पोषक कभी नहीं रहे। नारियाँ अपनी विशिष्ट पहचान बनाएँ अवश्य किन्तु किसी अन्य को हटा कर नहीं, वरन् अपना स्थान खुद बना कर, वे विचारों से आधुनिक बनें, रहन-सहन से नहीं। सादगी एवं सौम्यता निस्संदेह सफलता के बावजूद उनके व्यक्तित्व के अहम पहलू हों तो ही वे समाज के विकास में सकारात्मक योग दे सकती हैं। उनकी सीमाएँ इसमें बाधक नहीं क्योंकि त्याग, धैर्य, सहनशीलता, सृजन व उदारता के नैसर्गिक गुण उनके कार्यक्षितिज की सम्भावनाओं को

अपरिमित रूप से जब विस्तृत कर देते हैं तो फिर उनका अतिक्रमण किसलिए? अत: आचार्यश्री यही कहा करते थे कि यदि प्रत्येक नारी अपने परिवार को सुसंस्कारों व स्वस्थ विचारों का पोषण प्रदान करे तो निश्चय ही उनसे जुड़कर बनने वाला समाज भी स्वत: ही धर्मोन्मुख होगा और तब उसमें संस्कारों को दवा रूप में बाहर से भेजने की आवश्यकता का कहीं अस्तित्व नहीं होगा।

किन्तु इन सीमाओं से आचार्यश्री का तात्पर्य नारी को उदासीन या तटस्थ बनाने का नहीं था। वे तो स्त्रियों को स्वावलम्बन की शिक्षा देना चाहते थे ताकि वे अपने शोषण के विरुद्ध आवाज उठा सकें। तत्कालीन विधवा समाज सुधार में उनका योगदान प्रेरणास्पद था।

उस समय विधवाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय व शोचनीय थी। वे समाज का वो उपेक्षित अंग थी जिन्हें घुटन भरी श्वासों का अधिकार भी दान में मिलता था। उनके लिए रोशनी की कोई किरण बाकी नहीं रह जाती थी और यहाँ तक कि वे स्वयं भी इसी जीवन को अपनी बदनसीबी व नियति मानकर संकीर्णता की परिधि में कैद हो जाती थीं। आचार्यश्री ने उन्हें इस चिन्ताजनक स्थिति से उबारा। उन्होंने उन्हें जीवन की सार्थकता समझाकर उनमें नवीन आत्म-विश्वास का संचार किया व उन्हें अनेक रचनात्मक भावनाएँ व सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ प्रदान कीं जिससे वे भी ऊपर उठकर समाज निर्माण में एक विशिष्ट भूमिका का निर्वाह कर सकें। यह उन्हीं की प्रेरणा का फल है कि आज अनेकानेक विधवाएँ संकीर्णता के दायरे से निकल कर मजबूती के साथ धर्म-कार्य में संलग्न हैं व अन्य नारियों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत बनी हुई हैं।

आचार्यश्री की इस प्रवृत्ति से सती-प्रथा विरोधी आन्दोलन को भी बल मिला। उन्होंने विधवाओं को सम्मानजनक स्थिति प्रदान कर सती-प्रथा का भी विरोध किया। वे शुभ कर्मों से मिले दुर्लभ मानव-जीवन को समय से पूर्व ही स्वत: होम करने के पक्षधर नहीं थे। जिस प्रकार मनुष्य जन्म का निर्धारण हमारे हाथ में नहीं, उसी भाँति उसके अन्त को भी वे हमारे अधिकार क्षेत्र से परे मानते थे। वे इसे कायरता का प्रतीक मानकर इसके स्थान पर शरीर को धर्म-साधना में समर्पित कर देना बेहतर मानते थे।

उन्होंने अन्य कई नारी विरोधी कुरीतियों के उन्मूलन पर बल दिया। विशेषत: वे दहेज प्रथा के विरुद्ध अक्सर प्रयत्नरत रहते थे। दहेज प्रथा को वे समाज का कोढ़ मानते थे जो समाज को अपंग, नाकारा एवं विकृत बनाये रही थी। इस दावानल की भीषण लपटें निरन्तर विकराल रूप

हुई समाज की नारियों को अपनी चपेट में लेकर होम कर रही थीं। आचार्यश्री इसे मानवीयता के सर्वथा विपरीत मानते थे और इस प्रथा को समूल नष्ट करने हेतु प्रयासरत थे। इस हेतु आचार्यश्री ने विशेष प्रयत्न किया। उन्होंने युवाओं में इसके विरोध के संकल्प का प्रचार करने के साथ-साथ स्त्रियों में इसके विरुद्ध जागृति उत्पन्न की। वे जानते थे कि यदि युवतियाँ स्वयं इस प्रथा की विरोधी बन जाएँ तो इसमें कोई शक नहीं कि यह प्रथा विनष्ट हो सकती है। अतः उन्होंने इस हेतु एक आम जन-जागृति उत्पन्न की।

इन प्रथाओं के विरोध के साथ-साथ ही आचार्यश्री ने नारी व उसके माध्यम से समाज में, सद्प्रवृत्तियों के विकास हेतु समाज की नारियों को महावीर श्राविका संघ बनाने की प्रेरणा दी जिसका मूल उद्देश्य नारियों में धर्माचरण की प्रवृत्ति को और भी प्रशस्त करना है। आज भी अनेकानेक नारियां इस संघ से जुड़ कर धर्म समाज के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। समस्त उद्देश्य, जो संगठन को बनाते समय समक्ष रखे गये थे, आज भी उतने ही प्रासंगिक व व्यापक हैं, जो धर्माराधन की प्रक्रिया को निरन्तर बढ़ावा देने वाले हैं और विनय की भावना के प्रसारक भी हैं जो धर्म का मूल है। इस प्रकार उपर्युक्त संघ से संलग्न विभिन्न नारियाँ आज अपने जीवनोद्धार के साथ-साथ परोपकार में भी संलग्न हैं।

इस तरह वर्तमान सुदृढ़ समाज के निर्माण में गुरु हस्ती का योगदान नकारा नहीं जा सकता। नारी चेतना के अमूल्य मंत्र से उन्होंने समाज में धर्म व अध्यात्म की जो ज्योति प्रज्वलित की थी उसके आलोक से आज सम्पूर्ण समाज प्रकाशित है। किसी कवि ने अपनी लेखनी के माध्यम से इसकी सार्थक अभिव्यक्ति करते हुए अत्यन्त सुन्दर ढंग से कहा है—

"आचार्यश्री हस्तीमलजी, यदि मुनिवर का रूप नहीं धरते,
यदि अपनी पावन वाणी से, जग का कल्याण नहीं करते।
मानवता मोद नहीं पाती, ये जीवित मन्त्र नहीं होते,
यह भारत गारत हो जाता, यदि ऐसे सन्त नहीं होते।।"

और वास्तव में ऐसे सन्त को खोकर समाज को अपार क्षति हुई है। समाज को नवीन कल्पनाएँ देने वाला वह सुघड़ शिल्पी, चारित्र चूड़ामणि, इतिहास मार्तण्ड आज हमसे विलग होकर अनन्त में लीन हो गया है किन्तु हमें उसे समाप्त नहीं होने देना है। जिन सौन्दर्यमय प्रसूनों को वह अपनी प्रेरणा से महक प्रदान कर समाज-वाटिका में लगा गया है, अब हमें उनकी सुरभि दूर-दूर तक प्रसारित कर अपने उत्तरदायित्व को निभाना है। तो आइये, हम सभी

आज मिलकर यह संकल्प दोहराएँ कि नारी-चेतना की जो मशाल वे हमें थमा गये हैं, हम उसे बुझने नहीं देंगे। समाज की जागृत महिलाओं को अब धर्म-प्रचार में आगे आना होगा, सुषुप्त महिलाओं में चेतना उत्पन्न करनी होगी और नारी-चेतना ही क्यों सेवा, दया, विनय, अनुशासन, एकता, सामायिक और स्वाध्याय इत्यादि के क्षेत्र में जो कार्य वे शुरू कर गये हैं, हमें सक्रिय योगदान देकर उन्हें गतिशील करना है, उन्हें चरम परिणति तक पहुँचाना है ताकि कहीं दूर वे भी हमें देखकर गौरवान्वित हो सकें और हमारा जीवन सार्थक बन सके।

किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि फिर भी एक कसक हमारे दिलों में कहीं न कहीं अवश्य होगी इस पुकार के साथ—

"हजारों मंजिलें होंगी, हजारों कारवां होंगे।
निगाहें जिनको ढूंढ़ेगी, न जाने वो कहाँ होंगे।।"

और सचमुच, वह व्यक्तित्व था ही ऐसा, अनन्त अनन्त गुणों से युक्त किन्तु उनके गर्व से अछूता, सदैव अविस्मरणीय, जिसके प्रति हम तुच्छ जीव अपनी भावनाएँ चित्रित करने में भी असमर्थ रहते हैं।

"वे थे साक्षात गुणों की खान, कैसे सबका भंडार करूँ,
दिये सहस्र प्रेरणा के मंत्र हमें, चुन किसको मैं गुंजार करूँ ?
बस स्मरण करके नाम मात्र, मैं देती अपना शीश नवां,
क्योंकि यह सोच नहीं पाती अक्सर, किस एक गुण का गान करूँ।"

ऐसी महाविभूति के चरणों में कोटि-कोटि वन्दन।

—द्वारा, श्री मनमोहनजी कर्णावट, विनायक ११/२०–२१,
राजपूत होस्टल के पास, पावटा, 'बी' रोड, जोधपुर

- माता का हृदय दया का आगार है। उसे जलाओ तो उसमें दया की सुगन्ध निकलती है। पीसो तो दया का ही रस निकलता है। वह देवी है। विपत्ति की क्रूर लीलाएँ भी उस निर्मल और स्वच्छ स्रोत को मलिन नहीं कर सकतीं। **—प्रेमचन्द**

- ईश्वरीय प्रेम को छोड़कर दूसरा कोई प्रेम मातृ-प्रेम से श्रेष्ठ नहीं है। **—विवेकानन्द**

- माता के चरणों के नीचे स्वर्ग है। **—हजरत**

आचार्य श्री हस्ती व नारी-जागृति

☐ डॉ० कुसुमलता जैन

आचार्य श्री हस्ती न सिर्फ सम्पूर्ण व्यक्तित्व थे, न सिर्फ संस्था, न सिर्फ एक समाज के प्रतीक, न सिर्फ एक समाज के या संघ के कर्णधार, न सिर्फ संघनायक, न सिर्फ जैन समाज के पथ-प्रदर्शक वल्कि बे सम्पूर्ण समाज, एक युग, मानवता के मसीहा, करुणासागर थे। उन्होंने सर्वश्रेष्ठ, त्यागमय, अहिंसक मार्ग का चयन कर गरीव-अमीर, जैन-जैनेतर, हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख-ईसाई सभी को शान्तिपथ का अनुसरण करने का तरीका समझा दिया। उन्होंने जैन भागवती दीक्षा दस वर्ष की अल्पावस्था में ग्रहण कर अपने गुरु आचार्य श्री शोभाचन्दजी म. सा. का आशीर्वाद एवं स्नेह-सिंचन प्राप्त कर स्व जीवन की शोभा निखार दी। अपनी गुरु-परम्परा 'रत्न वंश' में आप एक रत्न की तरह सुशोभित हो गए।

आचार्य श्री ने आचरण एवं चारित्र जैन-विधि का पाला परन्तु समन्वय-परक जीवन जीकर प्राणी मात्र के सम्मुख एक आदर्श कायम किया, जीवन के अन्तिम काल में निमाज को भी पावन कर दिया, क्योंकि वह उनकी जन्मस्थली पीपाड़ के निकट है। पीपाड़ (राज.) निमाज ठिकाने (जोधपुर) के अन्तर्गत आता है अत: गुरुदेव ने निमाज में संलेखना-संथारा एवं संध्या समय पर नमाज भी पढ़ ली। आपने अपने ठिकानेदार के प्रति भी अपना स्नेह, वात्सल्य, कृतज्ञता, सहिष्णुता, सम्मान अभिव्यक्त कर सामञ्जस्य एवं भाईचारे की अभिव्यक्ति की। जिससे सभी के हृदयों में करुणा की लहरें हिलोरें लेने लगीं, निमाज एक तीर्थ बन गया, जहाँ न सिर्फ जैन या हिन्दू नतमस्तक हैं बल्कि वहाँ का हर मुसलमान भी तीर्थयात्री है, पावन हो गया है क्योंकि उसने गुरुदेव की अमृतवाणी का पान किया है। ऐसी अमृतवाणी जिसके लिए कई लोग तरसते हैं, जिसे उसे पान करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है, वह धन्य हो जाता है।

आपमें अपूर्व तीव्र मेधाशक्ति, आदर्श विनम्रता, सेवा भावना, संयम साधना और विद्वत्ता थी। किशोरावस्था में ही इतने गुण भण्डार कि मात्र सोलह वर्ष की अल्पवय में आचार्य पद हेतु मनोनीत किया जाना आचार्य श्री की गुणवत्ता का प्रतीक है। मात्र वीस वर्ष की वय में, जवकि युवावस्था की दहलीज

पर पैर रखा ही था कि आप संवत् १९८७ वैशाख शुक्ला तृतीया को जोधपुर में चतुर्विध संघ की साक्षी में आचार्य पद पर आरूढ़ किए गए। आप ६१ वर्ष तक आचार्य पद को कुशलतापूर्वक निर्वहन करते रहे। आचार्य पद पर इतना वृहदकाल निर्वहन करने वाले वर्तमान युग में आप एक मात्र आचार्य थे। आपके शासनकाल में ८५ दीक्षाएँ हुईं जिनमें ३१ संतगणों की तथा ५४ सतीवृंद की। आपने संयमकाल में ७० चातुर्मास किए जिनमें से सर्वाधिक जोधपुर में ११ चातुर्मास सम्पादित किए। यह एक सुखद संयोग जोधपुरवासियों को प्राप्त हुआ कि मृत्युंजयी आचार्य के जीवनोपरान्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्रथम गोष्ठी एवं प्रथम चातुर्मास का सुअवसर भी जोधपुरवासियों को प्राप्त हुआ। आचार्य पद पर हीरा मुनि का प्रथम चातुर्मास भी आप भाग्यशालियों को उपलब्ध हुआ, आप भी नाम और कर्म से हीरा ही हैं। 'यथा नाम तथा गुण' उक्ति को सार्थक कर रहे हैं।

आचार्य श्री हस्ती गुरु के सिर से पितृ का वरदहस्त जन्म-पूर्व ही उठ गया था अतः आपने माता-पिता का सम्पूर्ण प्यार माता रूपादेवी से ही प्राप्त किया। आपने माता की कर्मठता, धर्मपरायणता, सहिष्णुता, सच्चाई और ईमानदारी को अपने जीवन में धारण किया। आचार्य श्री सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज थे अतः आपको समाज की प्रत्येक दुःखती रग का अच्छा ज्ञान था। आपने समाज की प्रत्येक कमजोर रग का जीवनपर्यन्त इलाज किया। समाज जात-पात, छुआछूत, ऊँच-नीच की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। समाज बाल-विवाह, मृत्यु भोज, पर्दाप्रथा, अंध-विश्वास आदि मिथ्या मान्यताओं से त्रस्त था। शिक्षा की कमी और कुरीतियों के कारण नारी की स्थिति बड़ी दयनीय थी। आपने नारी की अशिक्षा, अज्ञानता और सामाजिक स्थिति को सुधारा। नारी यदि शिक्षित और संस्कारवान होती है तो पूरा परिवार संस्कारित होता है। सुपुत्र यदि एक कुल की शोभा, कुल-दीपक है तो नारी दो कुलों की शोभा है, दो कुलों का उजियारा है, अतः आचार्य श्री ने नारी शिक्षा पर विशेष बल दिया। नारी जागृति के बिना समाज अधूरा ही नहीं, अपूर्ण है। अतः आचार्य श्री ने व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षण पर बल दिया। आपने महिलाओं को सामायिक-स्वाध्याय करने की प्रेरणा प्रदान की। व्यावहारिक ज्ञान के बिना जीवन रिक्त था तो धार्मिक ज्ञान के बिना जीवन शून्य था, अतः आचार्य श्री ने नारी जीवन को पूर्णता प्रदान की। नारी-जागृति के लिए आपने श्री अखिल भारतीय महावीर श्राविका संघ की स्थापना की प्रेरणा प्रदान की। महावीर श्राविका संघ द्वारा 'वीर उपासिका' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन एवं प्रकाशन किया गया। यह महिलाओं की एक सशक्त और आदर्श पत्रिका बनी। प्रति वर्ष श्राविका संघ का अधिवेशन होता। अधिवेशनों में आभूषणप्रियता, दहेज प्रथा, समाज में बढ़ते प्रदर्शन,

फैशनपरस्ती, मादक द्रव्यों के प्रयोग व शृंगार-प्रसाधनों के विरुद्ध चर्चा एवं संकल्प का आयोजन होता। बाल-संस्कार एवं सादगीपूर्ण जीवन की अच्छाइयों पर प्रकाश डाला जाता। वर्तमान का बालक ही भविष्य का निर्माता है अत: आचार्य श्री का विशेष ध्यान नारी-जागृति पर था। जब भी कभी कोई नव-विवाहिता दुल्हन दर्शनार्थ आती थी तब आचार्य श्री उसे विशेष समय व अवसर प्रदान करते थे। उसे स्वाध्याय-सामायिक की प्रेरणा देते, जीवन सुखमय-शांतिमय बनाने की विधि समझाते थे—विनय, विवेक, पानी, अग्नि, वनस्पति आदि की यतना के बारे में व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करते थे। आज महिला समाज की जागृति का बहुत कुछ श्रेय आचार्य श्री को जाता है।

आचार्य श्री ने सामायिक और स्वाध्याय हर सद्-गृहस्थ के लिए आवश्यक बतलाया था। आपने स्वाध्याय का महत्त्व समझाकर सद्गृहस्थ की भटकन को मिटा दिया, व्यक्ति के चित्त को स्थिरता प्रदान की। आपने शास्त्र-वाचन, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि सूत्रों के स्वाध्याय की प्रेरणा प्रदान की। समाज में स्वाध्याय के प्रति रुचि पैदा हुई। आपने इस दिशा में घर-घर अलख जगाई। अतः कहा जाता है—

'हस्ती गुरु के दो फरमान।
सामायिक स्वाध्याय महान्।।'

इसी लक्ष्य को मध्ये नजर रखकर आपने समाज के विद्वत् वर्ग एवं श्रेष्ठी-वर्ग में सामञ्जस्य हेतु प्रेरणा दी जिसके फलस्वरूप 'अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्' की स्थापना सन् १९७८ में आपके इन्दौर चातुर्मास में हुई। इसमें महिलाओं को भी जोड़ा गया है। समाज की परित्यक्ता, गरीब और विधवा महिलाओं की सहायतार्थ एक व्यापक योजना जोधपुर में क्रियान्वित की गई है। आज आचार्य श्री की प्रेरणा से अनेक संस्थाएँ चल रही हैं। आपको समाज के सर्वांगीण विकास और प्रत्येक समस्या के निराकरण का पूरा ध्यान था, इसीलिए आप एक युगद्रष्टा महामनीषी संत के रूप में सदा स्मरण किये जाते रहेंगे।

—१/१७, महेश नगर, इन्दौर (म. प्र.)

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।।
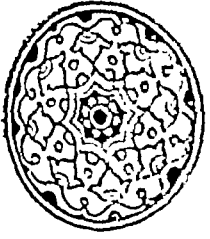
आचार्य श्री की समाज को देन

□ नीलम कुमारी नाहटा

चारित्र-चूड़ामणि, इतिहास मार्तण्ड, कलिकाल सर्वज्ञ समान, पोरवाल-पल्लीवाल आदि अनेक जाति-उद्धारक, दक्षिण-पश्चिम देश पावनकर्ता, प्रतिपल वन्दनीय महामहिम परम श्रद्धेय श्रीमज्जैनाचार्य भगवन्त श्री हस्तीमल जी म. सा. की समाज को देन इतनी अद्वितीय, अनुपम, सर्वव्यापी और सर्वतोमुखी थी कि सीमित समय और सीमित लेख में उसे सीमाबद्ध कर सकना सम्भव नहीं है फिर भी उस ओर संकेत करने का प्रयास किया जा रहा है।

आचार्य, विद्वान्, क्रियावान, त्यागी, तपस्वी, उपकारी और चमत्कारी संत तो जैन समाज में कितने ही हुए हैं, और होते रहेंगे परन्तु इन सभी एवम् अन्य अनेक गुणों का एक ही व्यक्ति में मिलना जैन समाज के इतिहास में आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं है। अक्सर देखा गया है कि जहाँ ज्ञान है वहाँ क्रिया नहीं है, जहाँ क्रिया है वहाँ पांडित्य नहीं है, जहाँ चमत्कार है तो ऋजुता नहीं है, जहाँ ऋजुता है तो कुछ भी नहीं है, जहाँ उपकार है तो लोकेषणा-विमुक्ति नहीं है, जहाँ लोकेषणा-विमुक्ति है तो कर्तृत्व विशाल नहीं है। परन्तु जब इतिहास का विद्यार्थी तुलनात्मक अध्ययन करता है, शोधार्थी अनुसंधान करता है तो वह चमत्कृत, आश्चर्यचकित और दंग रह जाता है इन सभी गुणों को एक ही व्यक्तित्व में पाकर।

क्रिया—स्व० आचार्य श्री स्वयम् कठोर क्रिया के पालने वाले थे और शिष्यों, शिष्याओं से भी आगमोक्त आचरण का परिपालन करवाने में हमेशा जागरूक रहते थे, इसलिए उन्हें चारित्र-चूड़ामणि कहा जाता था। जमाने के बहाने से शिथिलाचार लाने के विरोधी होने के साथ-साथ वे आगम और विवेक के साथ अन्ध रूढ़िवाद में संशोधन के पक्षधर भी थे। जागरण से शयन तक आपकी दिनचर्या सदा अप्रमत्त रहती थी। हमेशा आप अध्यात्म चिंतन में लीन रहते थे। मौन एवं ध्यान की साधना में सदैव संलग्न रहते थे। क्रिया के क्षेत्र में यह उनकी सबसे बड़ी देन थी।

ज्ञान—आचार्य श्री ने स्वयं हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का, आगमों एवं जैन-जैनेतर दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। जिस समय स्थानकवासी समाज में ऐसी धारणाएँ प्रचलित थीं कि जैन मुनि को आगम एवं . . व्याक।

अलावा और किसी का अध्ययन नहीं करना चाहिये। विपक्षी समाज पर आक्षेप लगाते थे कि स्थानकवासी समाज में व्याकरण को व्याधिकरण समझा जाता है। ऐसे समय में आचार्य श्री ने संस्कृत भाषा पर भी अधिकारपूर्ण पांडित्य प्राप्त किया एवं अपने शिष्यों व अनेक श्रावकों को ज्ञानार्जन एवं पांडित्य-प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित किया। ज्ञान के क्षेत्र में आपकी यह प्रमुख देन थी।

शास्त्रार्थ—वि० सं० १९८९-९० में अजमेर साधु-ससम्मेलन से पूर्व किशनगढ़ में रत्नवंशीय साधु सम्मेलन का आयोजन था। उसमें अजमेर सम्मेलन में अपनायी जाने वाली रीति-नीति सम्बन्धी विचार-विमर्श करना था। उस समय में आचार्य श्री केवल एक दित के लिए केकड़ी पधारे। वह युग शास्त्रार्थ का युग था और केकड़ी तो शास्त्रार्थों की प्रसिद्ध भूमि रही है। दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघ, अम्बाला की स्थापना के तुरन्त बाद ही उनको सर्वप्रथम शास्त्रार्थ केकड़ी में ही करना पड़ा था। यह शास्त्रार्थ मौखिक रूप से आमने-सामने स्टेज लगाकर ६ दिन तक चला था।

स्थानकवासी समाज के कोई भी विद्वान् संत-सती केकड़ी पधारते थे तो आते ही उन्हें शास्त्रार्थ का चैलेंज मिलता था। तदनुरूप आचार्य श्री को पधारते ही चैलेंज मिला तो आचार्य श्री ने फरमाया कि यद्यपि मुझे बहुत जल्दी है किन्तु यदि मैंने विहार कर दिया तो यही समझेंगे कि डरकर भाग गये अतः उन्होंने ८ दिन विराजकर शास्त्रार्थ किया। श्वे. मू. पू. समाज की ओर से शास्त्रार्थकर्ता श्री मूलचन्द जी श्रीमाल थे। ये पं० श्री घेवरचन्द जी बांठिया (वर्तमान में ज्ञानगच्छीय मुनि श्री) के श्वसुर थे। ये श्री कानमल जी कर्णावट के नाम से शास्त्रार्थ करते थे। संयोग देखिए कि शास्त्रार्थ के निर्णायक भी इन्हीं पं० सा० मूलचन्द जी श्रीमाल को बनाया गया। और इनको अपने निर्णय में कहना पड़ा कि आचार्य श्री का पक्ष जैन दर्शन की दृष्टि से सही है किन्तु अन्य दर्शनों की दृष्टि से कुछ बाधा आती हैं। आचार्य श्री ने फरमाया कि मैं एक जैन आचार्य हूँ और जैन दर्शन के अनुसार मेरा पक्ष और समाधान सही है। मुझे इसके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये। इस प्रकार केकड़ी में शास्त्रार्थ में विजयश्री प्राप्त करने के बाद ही आचार्य श्री ने विहार किया। शास्त्रार्थ में आचार्य श्री ने संस्कृत में शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी थी। इसके बाद सन् १९३६ के अजमेर चातुर्मास में आचार्य प्रवर ने श्वे० मू० पू० समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् संत श्री दर्शनविजयजी को सिंहनाद करते हुए संस्कृत में शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा। शुद्ध सनातन जैन समाज अर्थात् स्था० जैन समाज की ओर से संस्कृत में शास्त्रार्थ की चुनौती दिये जाना अभूतपूर्व ऐतिहासिक घटना थी। जो इसके पहले और इसके बाद आज तक कभी नहीं हुई। आचार्य भगवन्त ने यह

बहुत बड़ा कीर्तिमान स्थापित किया। शास्त्रार्थ के क्षेत्र में यह आपकी सबसे बड़ी देन थी।

प्रतिभा-खोज—स्था० समाज में विद्वानों और पंडितों की विपुलता अधिक नहीं रही है। आपने इस आवश्यकता को पहचाना। अज्ञानियों के समक्ष तो हीरे भी काचवत् होते हैं। रत्नों की परीक्षा जौहरी ही कर सकते हैं और आप तो जौहरियों के भी गुरु थे। पहले समाज के कुछ व्यक्ति विद्वानों से यही आशा करते थे कि वे ज्ञान-दान हमेशा मुफ्त में ही देते रहें। जबकि वे यह भूल जाते थे कि विद्वान् भी गृहस्थ ही होते हैं। उनकी भी पारिवारिक आवश्यकताएँ होती हैं। आपने अपनी पैनी दृष्टि से इसका अनुभव किया और विद्वानों के लिए तदनुरूप व्यवस्था की। उनको समाज में पूरे आदर-सम्मान के साथ प्रतिष्ठित किया। जिनकी प्रतिभा पर आवरण आया हुआ था, ऐसे अनेक व्यक्तियों को आपने पहचाना, उन्हें प्रेरित किया, प्रोत्साहित किया और आगे बढ़ाया। आज वे अपना और समाज का नाम रोशन कर रहे हैं। संस्कारवान विद्वान् तैयार करने में आपके सदुपदेशों से स्थापित संस्था जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर पं० श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा के संयोजन में बहुत उल्लेखनीय कार्य कर रही है। स्था० समाज में पहली बार ही विद्वत् परिषद् की स्थापना आपके सदुपदेशों से ही हुई। इस प्रकार विद्वत्ता की परम्परा और विद्वानों की परम्परा आचार्य श्री की अतीव महत्वपूर्ण देन है।

प्राचीन ग्रंथों एवं शास्त्रों की सुरक्षा—समाज में हस्तलिखित शास्त्रों और ग्रन्थों की बहुत प्राचीन और समृद्ध परम्परा रही है, परन्तु पहले मुनिगण अपने-अपने विश्वसनीय गृहस्थों के यहाँ बस्ते बाँध-बाँधकर रखवा देते थे और आवश्यकता होने पर वहाँ से मंगवाकर वापस भिजवा देते थे। इस व्यवस्था में कभी-कभी मुनिराज का अचानक स्वर्गवास हो जाने से बस्ते गृहस्थों के घर ही रह जाते और विस्मृत होकर लुंज-पुंज हो जाते थे। अलग-अलग स्थान पर रखे रहने से न तो उनकी सूची बन पाती, न ही विद्वान् उनका उपयोग कर पाते एवं महत्त्वपूर्ण साहित्य अन्धेरी कन्दराओं में सड़ता रहता था। आपने इस घोर अव्यवस्था की परम्परा का अन्त कर जयपुर लाल भवन में सभी उपलब्ध हस्त-लिखित ग्रन्थों और आगमों को एकत्रित कर सूचियाँ बनवायीं जिससे वे पूर्णतया सुरक्षित हो गये और विद्वद्जन उनसे लाभ उठा सकते हैं।

संस्थाओं के क्षेत्र में—समाज-सेवा के विभिन्न आयामों की पूर्ति हेतु आपके सदुपदेशों से प्रेरित होकर विभिन्न स्थानों पर बीसियों संस्थाएँ स्थापित हुईं। बहुत से स्थानों पर देखा जाता है कि मुनिराजों के विहार के साथ-साथ संस्थाओं के कार्यालयों का भी विहार होता रहता है। परन्तु आपने इस दिशा में

विधा, नई टेकनीक का प्रयोग किया। संस्थाओं के उपरांत आप उनमें सर्वथा असंग-निसंग रहते, संस्थाएँ अपने ही बलबूते पर स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं। इससे संस्थाएँ अधिक अच्छा और सुन्दर कार्य निष्पादित करती हैं तथा प्रेरक का अधिक समय संस्थाओं के रगड़े-झगड़े और व्यवस्थाओं में व्यय नहीं होता। यह आचार्य श्री की अनुकरणीय देन है।

इतिहास के क्षेत्र में - स्था० समाज पूर्णतया आध्यात्मिक समाज रहा है। कठोर क्रिया पालन, उग्र तपस्या, आत्मचिंतन, आत्मध्यान, आत्मोत्थान ही इसका प्रमुख लक्ष्य रहा है। अहिंसा पालन में सतत जागरूकता इसका ध्येय है। अतः इतिहास लेखन की ओर इस समाज का ध्यान कुछ कम रहा। इसलिए इस समाज में यह खटकने वाली कमी रही है। भगवान महावीर से लेकर इसकी परम्परा तो अविच्छिन्न चली आ रही है पर उसका क्रमबद्ध लेखन और विगत-वार माहिती नहीं थी। प्रभु वीर पट्टावली जैसे प्रयत्न हुए थे परन्तु फिर भी काफी कमी रही। आचार्य श्री ने इस कमी को महसूस किया। लगभग एक युग के भागीरथ प्रयास और ध्येयलक्षी सतत, पुरुषार्थ से आपने 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' निष्पक्ष दृष्टि से लिखकर जैन समाज के इतिहास में अद्भुत, अनुपम, अद्वितीय, ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया। 'जैन आचार्य चरितावली', 'पट्टावली प्रबन्ध संग्रह' आदि ग्रन्थ भी आपने नवीन ऐतिहासिक खोज के आधार पर लिखे। इतिहास के क्षेत्र में यह आपकी अद्भुत अपूर्व देन है।

आगम-प्रेम—आगम ज्ञान के प्रचार-प्रसार में आपको विशेष आनन्द आता था। 'नन्दी सूत्र' आपका सर्वाधिक प्रिय सूत्र था। उत्तराध्ययन, नन्दी, प्रश्न व्याकरण, अन्तगड़, दशवैकालिक आदि सूत्रों का सरल हिन्दी भाषा में व्याख्या विश्लेषणयुक्त अनुवाद प्रकाशित कराये जो बहुत ही लोकप्रिय हुए। इनसे प्रेरणा पाकर अन्यत्र भी काफी प्रयत्न प्रारम्भ हुए।

सामायिक-स्वाध्याय—सामायिक-स्वाध्याय के प्रचार-प्रसार में तो आपने रात-दिन एक कर दिया। आपके प्रयास के फलस्वरूप हजारों नये स्वाध्यायी बने हैं और आप ही की प्रेरणा से लाखों सामायिकें प्रतिवर्ष नई होने लग गई हैं। कोई भी आपके दर्शन करने आता था तो आप प्रथम प्रश्न यही पूछते थे कि स्वाध्याय हो रहा है या नहीं? कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं आदि सांसारिक बातों की तरफ आपका ध्यान था ही नहीं। सामायिक-स्वाध्याय के प्रचार-प्रसार में तो आपने अपना जीवन ही दे दिया। समाज को आपकी यह देन अति उल्लेखनीय है।

करुणासागर दीनदयाल—आचार्य भगवन्त ने इस प्रकार ज्ञान और क्रिया के क्षेत्र में नई-नई बुलन्दियों को तो छुआ ही, इसके साथ-साथ उनके हृदय में

करुणा एवं दया का सतत प्रवाही निर्झर सदा प्रवहमान रहता था। उनके सदुपदेशों से स्थापित बाल शोभा अनाथालय, महावीर विकलांग समिति, वर्द्धमान जैन मेडिकल रिलीफ सोसायटी, भूधर कुशल धर्म बन्धु कल्याण कोष, अमर जैन मेडिकल रिलीफ सोसाइटी, जीवदया, अमर बकरा, महावीर जैन रत्न कल्याण कोष, महावीर जैन हॉस्पिटल आदि अनेक संस्थाएँ इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य निष्पादित कर रही है। हजारों जरूरतमन्द इससे लाभान्वित हो रहे हैं।

इस प्रकार स्व० पू० गुरुदेव की देन हर क्षेत्र में अद्भुत, अपूर्व रही है। हर क्षेत्र में नये-नये कीर्तिमान स्थापित हुए हैं। हृदय की असीम आस्था एवम् अनन्त श्रद्धा के साथ अत्यन्त भक्ति बहुमानपूर्वक स्व० पूज्य गुरुदेव को अनंत-अनंत वन्दन।

—केकड़ी (राजस्थान)

अमृत कण

- सावधानी से की गई क्रिया ही फलवती होती है।
- जिनका चित्त स्वच्छ नहीं है, वे परमात्म-सूर्य के तेज को ग्रहण नहीं कर सकते।
- ज्ञान एक रसायन है जिससे आत्मा की शक्ति बढ़ती है।
- दया करना एक प्रकार से साधु-वृत्ति का अभ्यास है।
- आन्तरिक विजय प्राप्त करने के लिए शास्त्र-शिक्षा की आवश्यकता है।
- समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए संघधर्म आवश्यक है।
- स्वाध्याय से चतुर्विध संघ में ज्योति आ सकती है।

—आचार्य श्री हस्ती

अहिंसा के प्रचार-प्रसार में आचार्य श्री का योगदान

☐ श्री हसमुख शांतिलाल शाह

प्रचार-प्रसार स्वयं के आचार से ही ठीक ढंग से हो सकता है। आचार्य श्री ने अहिंसा महाव्रत का स्वीकार १० साल की लघु आयु में ही करके जैन-साधुत्व की दीक्षा ग्रहण कर ली।

शुभ-कार्य में प्रवृत्त होने से हिंसा से निवृत्ति हो जाती है और स्वाध्याय-सामायिक इन दोनों से अहिंसा का पालन होता है, इसलिये आचार्य श्री ने स्वाध्याय-सामायिक को महान् बताकर उस प्रवृत्ति पर भारी जोर दिया—फरमान किया और उसके लिये संगठनों/मंडलों की रचना करने की प्रेरणा देकर नियमित रूप से स्वाध्याय-सामायिक की व्यापकता द्वारा हिंसा से निवृत्त रहने का घनिष्ठ रूप से/सघनता से प्रचार-प्रसार किया।

स्वाध्याय-सामायिक के साथ-साथ अन्य शुभ-प्रवृत्तियों में रत होने के लिये आपने सर्वहितकारी समाजसेवी संस्थाओं की रचना करने की प्रेरणा दी। जिसके फलस्वरूप कई आत्माओं को पदाधिकारी एवं सदस्य बनकर शुभ कार्यों में प्रवृत्त होने से हिंसा से निवृत्त होने का अवसर मिला। उनमें तीन संस्थाएँ जीवदया की प्रवृत्ति के लिये ही निम्नत: गठित की गईं :—

(१) जीवदया, धर्मपुरा।

(२) जीवदया अमर बकरा ठाट, भोपालगढ़।

(३) पशु क्रूरता निवारण समिति, जयपुर।

हिंसा-विरोधक संघ, अहमदाबाद को भी आपका मार्गदर्शन/सहयोग मिलता रहा और आपकी प्रेरणा से जीवदया प्रेमियों का भी सहयोग मिलता रहा।

आपकी प्रेरणा से ८५ आत्माओं ने अहिंसा महाव्रत को स्वीकार करके जैन-दीक्षा ग्रहण की, जिनमें ३१ मुनिराज और ५४ महासतियां जी समाविष्ट हैं।

आपने ३० से भी अधिक ग्रंथों का निर्माण किया, जिनके पठन के समय पाठक हिंसा से मुक्त रहते हैं।

आपने सतारा (महाराष्ट्र) में स्थंडिल जाते समय काले नाग को मारते मानव-समुदाय को ललकार कर नाग को मुक्त कराके अपनी झोली में लेकर नवकार मंत्र सुनाकर जंगल में छोड़ दिया। ऐसा आत्म-विश्वास, सर्वजीवों के प्रति मैत्री, करुणा और अहिंसा भाव को आत्मसात् करने वाले आचार्य श्री में ही हो सकता है न ?

राजस्थान में मारवाड़ अकाल सहायता कोष की स्थापना आपकी प्रेरणा से हुई। इसके माध्यम से २० करोड़ के फंड से ५ लाख पशुओं की रक्षा की गई। आचार्य श्री ने सैलाना में १९६५ में अपने प्रवचन में बताया कि भगवान महावीर ने साधु और गृहस्थ के अहिंसा के आचार के भेद बताये थे। आनन्द ने गृहस्थ की जान-बूझकर दुर्भाव से हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा स्वीकार कर ली।

आपने पीपाड़ के प्रवचन में फरमाया कि संयम और ज्ञान से मन की हिंसा रोकने का कार्य सरल होता है इसलिए ऐसा करें। सन् १९७८ में सवाई-माधोपुर और जयपुर के बीच में निवाई के पास के गांव में हो रही पशुबलि को आपने अपने उपदेश से सदा के लिए बन्द करवा दिया।

आपके सुदीर्घ जीवन के अहिंसा-पालन से अभिभूत होकर निमाज में आपके संथारा-स्वीकारने पर कसाइयों के नेता श्री हनीफ भाई ने निर्णय किया और घोषणा की कि जब तक संथारा होगा तब तक निमाज में कोई भी पशुवध नहीं होगा और मांस का त्याग मुसलमान परिवार भी करेंगे।

आचार्य श्री के प्रभाव से उनके महाप्रयाण के अवसर पर राजस्थान सरकार ने पूरे राज्य में बूचड़खाने बन्द करवाये।

आचार्य श्री की प्रेरणा से अनेक [illegible] जैसे [illegible] की प्रवृत्ति में जुट गये हैं, जिनमें गृहस्थों में जयपुर निवासी श्री [illegible] और श्री पारसमल जी कुचेरिया प्रमुख हैं।

आचार्य श्री ने अपने आचार, आचरण [illegible] अहिंसा [illegible] में जो योगदान दिया, ऐसा योगदान देने के लिये [illegible] प्रेरणा-सामर्थ्य प्राप्त हो जिससे हम उनके [illegible] सभी जीवों को अभयदान सुख दिलाने में [illegible] इस दिशा में प्रगति कर सकें, ऐसी शुभकामना।

—[illegible]
[illegible] के मंत्री, [illegible]

जीवन्त प्रेरणा-प्रदीप

☐ डॉ० शान्ता भानावत

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० जगमगाते प्रेरणा-प्रदीप थे। आपके जीवन में त्याग-वैराग्य अपनी चरम सीमा पर था। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत के आप महान् विद्वान् थे। आपने कई सूत्रों की टीकायें लिखीं। आपका प्रवचन साहित्य विशाल, प्रेरणास्पद और मार्ग-दर्शक है। आचार्य श्री ने मानव को शुभ कार्यों की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी। मानव में शुभ-अशुभ संस्कारों को प्रेरणा ही जगाती है। शुभ प्रेरणा से मानव उत्थान और प्रगति की ओर कदम बढ़ाता है तो अशुभ प्रेरणा से अवनति और दुर्गति की ओर।

आज का युग भौतिकवादी युग है। पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित सांसारिकता में लीन मानव अध्यात्मप्रिय संस्कृति को भूलता जा रहा है। आज उसका मन भोग में आसक्त रहना चाहता है। त्याग की बात उसे रुचिकर नहीं लगती। वह 'खाओ पीओ और मौज करो' के सिद्धांत का अनुयायी बनता जा रहा है। धर्म-कर्म को वह अंध-विश्वास और रूढ़िवाद कह कर नकारना चाहता है। ऐसे पथ-भ्रमित मानव का आचार्य श्री ने अपने सदुपदेशों से सही दिशा-निर्देश किया है।

आचार्य श्री का मानना है कि व्यक्ति का खान-पान सदैव शुद्ध होना चाहिए। कहावत भी है 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन'। मांस-मछली खाने वाले व्यक्ति की वृत्तियां शुद्ध सात्विक नहीं रहतीं, वे तामसिक होती जाती हैं। मांस भक्षी व्यक्ति की वृत्तियां वैसी ही खूंखार हो जाती हैं जैसी मांस-भक्षी सिंह, भालू आदि की होती हैं। उन्हीं के शब्दों में 'आहार बिगाड़ने से विचार बिगड़ता है और विचार बिगड़ने से आचार में विकृति आती है। जब आचार विकृत होता है तो जीवन विकृत हो जाता है।'[1]

व्यक्ति को भूल कर भी किसी दुर्व्यसन का शिकार नहीं होना चाहिए। दुर्व्यसन का परिणाम बड़ा ही घातक होता है—"जैसे लकड़ी में लगा घुन लकड़ी को नष्ट कर डालता है उसी प्रकार जीवन में प्रविष्ट दुर्व्यसन जीवन को नष्ट कर देता है।"[2] व्यक्ति को सुख-दुःख दोनों ही में समान रहना चाहिए। सुख में अधिक सुखी और दुःख में अधिक दुखी होना कायरता है।

---

१. आध्यात्मिक आलोक, पृ० ६६। २. वही, पृ० ५८।

"जो व्यक्ति खुशी के प्रसंग पर उन्माद का शिकार हो जाता है और दुःख में आपा भूल कर विलाप करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों का नहीं रहता।"[1] व्यक्ति को सदैव मधुर भाषी होना चाहिए। वाणी को मनुष्य के व्यक्तित्व की कसौटी कहा गया है। "अच्छी वाणी वह है जो प्रेममय, मधुर और प्रेरणाप्रद हो। वक्ता हजारों विरोधियों को अपनी वाणी के जादू से प्रभावित करके अनुकूल बना लेता है।"[2]

आज शिक्षा, व्यापार, राजनीति आदि प्रत्येक क्षेत्र में अनैतिकता और भ्रष्टाचार का बोलबाला है। तथाकथित धार्मिक नेताओं के कथनी और करनी में बड़ा अंतर दिखाई देता है। उनके जीवन-व्यवहार में धार्मिकता का कोई लक्षण नहीं होता। ऐसे लोगों के लिए आचार्य श्री ने कहा है—"धर्म दिखावे की चीज नहीं है। नैतिकता की भूमिका पर ही धार्मिकता की इमारत खड़ी है। प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा ही व्यापारी की सबसे बड़ी पूंजी है।"[3]

मानव की इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। उनकी पूर्ति कभी नहीं होती पर अज्ञान में फँसा मानव उनकी पूर्ति के लिए रात-दिन धन के पीछे पड़ा रहता है। इस प्रपंच में पड़ कर वह धर्म, कर्म, प्रभु नाम-स्मरण आदि सभी को विस्मृत कर बैठता है। ऐसे लोगों को प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री ने कहा है—"सब अनर्थों का मूल कामना-लालसा है।" जो कामनाओं को त्याग देता है वह समस्त दुखों से छुटकारा पा लेता है।"[4] "मन की भूख मिटाने का एक मात्र उपाय संतोष है। पेट की भूख तो पाव दो पाव आटे से मिट जाती है मगर मन की भूख तीन लोक के राज्य से भी नहीं मिटती।"[5] लोभ वृत्ति ही सभी विनाशों का मूल है इसलिये सदैव लोभ-वृत्ति पर अंकुश रक्खा जाय और कामना पर नियंत्रण किया जाय।[6] प्रभु का नाम अनमोल रसायन है। वस्तु-रसायन के सेवन का प्रभाव सीमित समय तक ही रहता है किन्तु नाम-रसायन जन्म-जन्मांतरों तक उपयोगी होता है। उसके सेवन से आत्मिक शक्ति बलवती हो जाती और अनादि काल की जन्म-मरण की व्याधियां दूर हो जाती हैं।"[7]

आचार्य श्री ने प्रार्थना को जीवन में विशेष महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि—"वीतराग की प्रार्थना से आत्मा को सम्बल मिलता है, आत्मा

---

१. वही, पृ० ३६४। २. वही, पृ० २३२। ३. वही, पृ० १२७
४. आध्यात्मिक आलोक पृ० ४२। ५. वही, पृ० ४४। ६. वही, पृ० १२८।
७. वही, पृ० १२८।

जीवन्त प्रेरणा-प्रदीप

☐ डॉ० शान्ता भानावत

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० जगमगाते प्रेरणा-प्रदीप थे । आपके जीवन में त्याग-वैराग्य अपनी चरम सीमा पर था । हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत के आप महान् विद्वान् थे । आपने कई सूत्रों की टीकायें लिखीं । आपका प्रवचन साहित्य विशाल, प्रेरणास्पद और मार्ग-दर्शक है । आचार्य श्री ने मानव को शुभ कार्यों की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी । मानव में शुभ-अशुभ संस्कारों को प्रेरणा ही जगाती है । शुभ प्रेरणा से मानव उत्थान और प्रगति की ओर कदम बढ़ाता है तो अशुभ प्रेरणा से अवनति और दुर्गति की ओर ।

आज का युग भौतिकवादी युग है । पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित सांसारिकता में लीन मानव अध्यात्मप्रिय संस्कृति को भूलता जा रहा है। आज उसका मन भोग में आसक्त रहना चाहता है । त्याग की बात उसे रुचिकर नहीं लगती । वह 'खाओ पीओ और मौज करो' के सिद्धांत का अनुयायी बनता जा रहा है । धर्म-कर्म को वह अंध-विश्वास और रूढ़िवाद कह कर नकारना चाहता है । ऐसे पथ-भ्रमित मानव का आचार्य श्री ने अपने सदुपदेशों से सही दिशा-निर्देश किया है ।

आचार्य श्री का मानना है कि व्यक्ति का खान-पान सदैव शुद्ध होना चाहिए । कहावत भी है 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' । मांस-मछली खाने वाले व्यक्ति की वृत्तियां शुद्ध सात्विक नहीं रहतीं, वे तामसिक होती जाती हैं । मांस भक्षी व्यक्ति की वृत्तियां वैसी ही खूंखार हो जाती हैं जैसी मांस-भक्षी सिंह, भालू आदि की होती हैं । उन्हीं के शब्दों में 'आहार बिगाड़ने से विचार बिगड़ता है और विचार बिगड़ने से आचार में विकृति आती है । जब आचार विकृत होता है तो जीवन विकृत हो जाता है ।'[1]

व्यक्ति को भूल कर भी किसी दुर्व्यसन का शिकार नहीं होना चाहिए । दुर्व्यसन का परिणाम बड़ा ही घातक होता है—"जैसे लकड़ी में लगा घुन लकड़ी को नष्ट कर डालता है उसी प्रकार जीवन में प्रविष्ट दुर्व्यसन जीवन को नष्ट कर देता है ।"[2] व्यक्ति को सुख-दुःख दोनों ही में समान रहना चाहिए । सुख में अधिक सुखी और दुःख में अधिक दुखी होना कायरता है ।

आध्यात्मिक आलोक, पृ० ६६ । २. वही, पृ० ५८ ।

जीवन्त प्रेरणा-प्रदीप

☐ डॉ० शान्ता भानावत

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० जगमगाते प्रेरणा-प्रदीप थे । आपके जीवन में त्याग-वैराग्य अपनी चरम सीमा पर था । हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत के आप महान् विद्वान् थे । आपने कई सूत्रों की टीकायें लिखीं । आपका प्रवचन साहित्य विशाल, प्रेरणास्पद और मार्ग-दर्शक है । आचार्य श्री ने मानव को शुभ कार्यों की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी । मानव में शुभ-अशुभ संस्कारों को प्रेरणा ही जगाती है । शुभ प्रेरणा से मानव उत्थान और प्रगति की ओर कदम बढ़ाता है तो अशुभ प्रेरणा से अवनति और दुर्गति की ओर ।

आज का युग भौतिकवादी युग है । पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित सांसारिकता में लीन मानव अध्यात्मप्रिय संस्कृति को भूलता जा रहा है। आज उसका मन भोग में आसक्त रहना चाहता है । त्याग की बात उसे रुचिकर नहीं लगती । वह 'खाओ पीओ और मौज करो' के सिद्धांत का अनुयायी बनता जा रहा है । धर्म-कर्म को वह अंध-विश्वास और रूढ़िवाद कह कर नकारना चाहता है। ऐसे पथ-भ्रमित मानव का आचार्य श्री ने अपने सदुपदेशों से सही दिशा-निर्देश किया है।

आचार्य श्री का मानना है कि व्यक्ति का खान-पान सदैव शुद्ध होना चाहिए । कहावत भी है 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' । मांस-मछली खाने वाले व्यक्ति की वृत्तियां शुद्ध सात्विक नहीं रहतीं, वे तामसिक होती जाती हैं । मांस भक्षी व्यक्ति की वृत्तियां वैसी ही खूंखार हो जाती हैं जैसी मांस-भक्षी सिंह, भालू आदि की होती हैं । उन्हीं के शब्दों में 'आहार बिगाड़ने से विचार बिगड़ता है और विचार बिगड़ने से आचार में विकृति आती है । जब आचार विकृत होता है तो जीवन बिकृत हो जाता है ।'[१]

व्यक्ति को भूल कर भी किसी दुर्व्यसन का शिकार नहीं होना चाहिए । दुर्व्यसन का परिणाम बड़ा ही घातक होता है—"जैसे लकड़ी में लगा घुन लकड़ी को नष्ट कर डालता है उसी प्रकार जीवन में प्रविष्ट दुर्व्यसन जीवन को नष्ट कर देता है ।"[२] व्यक्ति को सुख-दुःख दोनों ही में समान रहना चाहिए । सुख में अधिक सुखी और दुःख में अधिक दुखी होना कायरता है ।

---

१. आध्यात्मिक आलोक, पृ० ९९ । २. वही, पृ० ५८ ।

"जो व्यक्ति खुशी के प्रसंग पर उन्माद का शिकार हो जाता है और दुःख में आपा भूल कर विलाप करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों का नहीं रहता ।"[१] व्यक्ति को सदैव मधुर भाषी होना चाहिए । वाणी को मनुष्य के व्यक्तित्व की कसौटी कहा गया है । "अच्छी वाणी वह है जो प्रेममय, मधुर और प्रेरणाप्रद हो । वक्ता हजारों विरोधियों को अपनी वाणी के जादू से प्रभावित करके अनुकूल बना लेता है ।"[२]

आज शिक्षा, व्यापार, राजनीति आदि प्रत्येक क्षेत्र में अनैतिकता और भ्रष्टाचार का बोलबाला है । तथाकथित धार्मिक नेताओं के कथनी और करनी में बड़ा अंतर दिखाई देता है । उनके जीवन-व्यवहार में धार्मिकता का कोई लक्षण नहीं होता । ऐसे लोगों के लिए आचार्य श्री ने कहा है—"धर्म दिखावे की चीज नहीं है । नैतिकता की भूमिका पर ही धार्मिकता की इमारत खड़ी है । प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा ही व्यापारी की सबसे बड़ी पूंजी है ।"[३]

मानव की इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं । उनकी पूर्ति कभी नहीं होती पर अज्ञान में फँसा मानव उनकी पूर्ति के लिए रात-दिन धन के पीछे पड़ा रहता है । इस प्रपंच में पड़ कर वह धर्म, कर्म, प्रभु नाम-स्मरण आदि सभी को विस्मृत कर बैठता है । ऐसे लोगों को प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री ने कहा है—"सब अनर्थों का मूल कामना-लालसा है ।" जो कामनाओं को त्याग देता है वह समस्त दुखों से छुटकार पा लेता है ।"[४] "मन की भूख मिटाने का एक मात्र उपाय संतोष है । पेट की भूख तो पाव दो पाव आटे से मिट जाती है मगर मन की भूख तीन लोक के राज्य से भी नहीं मिटती ।"[५] लोभ वृत्ति ही सभी विनाशों का मूल है इसलिये सदैव लोभ-वृत्ति पर अंकुश रक्खा जाय और कामना पर नियंत्रण किया जाय ।[६] प्रभु का नाम अनमोल रसायन है । वस्तु-रसायन के सेवन का प्रभाव सीमित समय तक ही रहता है किन्तु नाम-रसायन जन्म-जन्मांतरों तक उपयोगी होता है । उसके सेवन से आत्मिक शक्ति बलवती हो जाती और अनादि काल की जन्म-मरण की व्याधियां दूर हो जाती हैं ।"[७]

आचार्य श्री ने प्रार्थना को जीवन में विशेष महत्त्व दिया [illegible] कहना है कि—"वीतराग की प्रार्थना से आत्मा को सम्बल [illegible]

---

१. वही, पृ० ३६४ । २. वही, पृ० २३२ । ३. वही, पृ० १२[illegible]
४. आध्यात्मिक आलोक पृ० ४२ । ५. वही, पृ० ४४ । ६. वही, पृ० [illegible]
७. वही, पृ० १२८ ।

जीवन्त प्रेरणा-प्रदीप

□ डॉ० शान्ता भानावत

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० जगमगाते प्रेरणा-प्रदीप थे । आपके जीवन में त्याग-वैराग्य अपनी चरम सीमा पर था। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत के आप महान् विद्वान् थे । आपने कई सूत्रों की टीकायें लिखीं । आपका प्रवचन साहित्य विशाल, प्रेरणास्पद और मार्ग-दर्शक है । आचार्य श्री ने मानव को शुभ कार्यों की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी । मानव में शुभ-अशुभ संस्कारों को प्रेरणा ही जगाती है । शुभ प्रेरणा से मानव उत्थान और प्रगति की ओर कदम बढ़ाता है तो अशुभ प्रेरणा से अवनति और दुर्गति की ओर ।

आज का युग भौतिकवादी युग है । पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित सांसारिकता में लीन मानव अध्यात्मप्रिय संस्कृति को भूलता जा रहा है। आज उसका मन भोग में आसक्त रहना चाहता है । त्याग की बात उसे रुचिकर नहीं लगती । वह 'खाओ पीओ और मौज करो' के सिद्धांत का अनुयायी बनता जा रहा है । धर्म-कर्म को वह अंध-विश्वास और रूढ़िवाद कह कर नकारना चाहता है। ऐसे पथ-भ्रमित मानव का आचार्य श्री ने अपने सदुपदेशों से सही दिशा-निर्देश किया है।

आचार्य श्री का मानना है कि व्यक्ति का खान-पान सदैव शुद्ध होना चाहिए । कहावत भी है 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' । मांस-मछली खाने वाले व्यक्ति की वृत्तियां शुद्ध सात्विक नहीं रहतीं, वे तामसिक होती जाती हैं । मांस भक्षी व्यक्ति की वृत्तियां वैसी ही खूंखार हो जाती हैं जैसी मांस-भक्षी सिंह, भालू आदि की होती हैं । उन्हीं के शब्दों में 'आहार बिगाड़ने से विचार बिगड़ता है और विचार बिगड़ने से आचार में विकृति आती है । जब आचार विकृत होता है तो जीवन विकृत हो जाता है ।'[1]

व्यक्ति को भूल कर भी किसी दुर्व्यसन का शिकार नहीं होना चाहिए । दुर्व्यसन का परिणाम बड़ा ही घातक होता है—"जैसे लकड़ी में लगा घुन लकड़ी को नष्ट कर डालता है उसी प्रकार जीवन में प्रविष्ट दुर्व्यसन जीवन को नष्ट कर देता है ।"[2] व्यक्ति को सुख-दुःख दोनों ही में समान रहना चाहिए । सुख में अधिक सुखी और दुःख में अधिक दुखी होना कायरता है ।

आध्यात्मिक आलोक, पृ० ६६ । २. वही, पृ० ५८ ।

"जो व्यक्ति खुशी के प्रसंग पर उन्माद का शिकार हो जाता है और दुख में आपा भूल कर विलाप करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों का नहीं रहता।"[1] व्यक्ति को सदैव मधुर भाषी होना चाहिए। वाणी को मनुष्य के व्यक्तित्व की कसौटी कहा गया है। "अच्छी वाणी वह है जो प्रेममय, मधुर और प्रेरणाप्रद हो। वक्ता हजारों विरोधियों को अपनी वाणी के जादू से प्रभावित करके अनुकूल बना लेता है।"[2]

आज शिक्षा, व्यापार, राजनीति आदि प्रत्येक क्षेत्र में अनैतिकता और भ्रष्टाचार का बोलबाला है। तथाकथित धार्मिक नेताओं के कथनी और करनी में बड़ा अंतर दिखाई देता है। उनके जीवन-व्यवहार में धार्मिकता का कोई लक्षण नहीं होता। ऐसे लोगों के लिए आचार्य श्री ने कहा है— "धर्म दिखावे की चीज नहीं है। नैतिकता की भूमिका पर ही धार्मिकता की इमारत खड़ी है। प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा ही व्यापारी की सबसे बड़ी पूंजी है।"[3]

मानव की इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। उनकी पूर्ति कभी नहीं होती पर अज्ञान में फँसा मानव उनकी पूर्ति के लिए रात-दिन धन के पीछे पड़ा रहता है। इस प्रपंच में पड़ कर वह धर्म, कर्म, प्रभु नाम-स्मरण आदि सभी को विस्मृत कर बैठता है। ऐसे लोगों को प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री ने कहा है—"सब अनर्थों का मूल कामना-लालसा है।" जो कामनाओं को त्याग देता है वह समस्त दुखों से छुटकार पा लेता है।"[4] "मन की भूख मिटाने का एक मात्र उपाय संतोष है। पेट की भूख तो पाव दो पाव आटे से मिट जाती है मगर मन की भूख तीन लोक के राज्य से भी नहीं मिटती।"[5] लोभ वृत्ति ही सभी विनाशों का मूल है इसलिये सदैव लोभ-वृत्ति पर अंकुश रक्खा जाय और कामना पर नियंत्रण किया जाय।[6] प्रभु का नाम अनमोल रसायन है। वस्तु-रसायन के सेवन का प्रभाव सीमित समय तक ही रहता है किन्तु नाम-रसायन जन्म-जन्मांतरों तक उपयोगी होता है। उसके सेवन से आत्मिक शक्ति बलवती हो जाती और अनादि काल की जन्म-मरण की व्याधियां दूर हो जाती हैं।"[7]

आचार्य श्री ने प्रार्थना को जीवन में विशेष महत्त्व दिया कहना है कि—"वीतराग की प्रार्थना से आत्मा को सम्बल

१. वही, पृ० ३६४। २. वही, पृ० २३२। ३. वही, पृ० १२१
४. आध्यात्मिक आलोक पृ० ४२। ५. वही, पृ० ४४। ६. वही, पृ० १२८
७. वही, पृ० १२८।

को एक विशेष शक्ति प्राप्त होती है। जो साधक प्रार्थना के रहस्य को समझ कर आत्मिक शांति के लिए प्रार्थना करता है, उसकी आधि-व्याधियाँ दूर हो जाती हैं, चित्त की आकुलता-व्याकुलता नष्ट हो जाती है, और वह परम पद का अधिकारी बन जाता है।"[१]

पर यह प्रार्थना बाह्य दिखावा मात्र नहीं होनी चाहिए। प्रार्थना करते समय तो "कषाय की जहरीली मनोवृत्ति का परित्याग करके समभाव के सुधा सरोवर में अवगाहन करना चाहिये।"[२]

ऐसी प्रार्थना से मन को अपार शांति मिलती है। वह शांति क्या है? शांति आत्मा से सम्बन्धित एक वृत्ति है। ज्यों-ज्यों राग-द्वेष की आकुलता कम होती जाती है और ज्ञान का आलोक फैलता जाता है त्यों-त्यों अन्तःकरण में शांति का बिकास होता है।[३]

प्रार्थना के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य श्री का कहना है कि प्रार्थना केवल चन्द मिनट के लिए भगवान का नाम गुनगुनाना नहीं है वरन् "चित्तवृत्ति की तूली को परमात्मा के साथ रगड़ने का विधि पूर्वक किया जाने वाला प्रयास ही प्रार्थना है।"[४] "अगर हमारे चित्त में किसी प्रकार का दम्भ नहीं है, वासनाओं की गंदगी नहीं है, तुच्छ स्वार्थ-लिप्सा का कालुष्य नहीं है तो हम वीतराग के साथ अपना सान्निध्य स्थापित कर सकते हैं।"[५]

"आत्मा अमर अजर-अविनाशी द्रव्य है। न इसका आदि है, न अंत, न जन्म है न मृत्यु। इसलिए आत्मा से उत्पन्न विकारों के शमन के लिए आध्यात्मिक ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। जब मनुष्य का ज्ञा[illegible] [illegible]र्शन, चारित्र उन्नत हो जाता है तब वह सांसारिक दुखों में भी सु[illegible] करने लगता है। जल तभी तक ढुलकता, ठोकरें खाता, ऊ[illegible] में पद दलित होता और चट्टानों से टकराता है जब तक कि व[illegible] नहीं मिल जाता।"[६]

सचमुच सत्पुरुषों का जीवन प्रदीप के समान होता[illegible] प्रकाशित होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है[illegible] जीवन ऐसे ही महापुरुषों जैसा था। आज वे हमारे बीच पा[illegible] हैं पर उनके जीवनादर्शों और वचनामृतों से प्रेरणा ले[illegible] को उन्नत बनाना चाहिए। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि[illegible]

—प्रिंसिपल, श्री वीर बालिका कॉलेज,

[illegible]-प्रवचन, पृ० ४१। २. वही, पृ० २३५। ३. वही, पृ[illegible] [illegible] पृ० २१३। ५. वही, पृ० ७। ६. आध्यात्मिक आलो[illegible]

साधुत्व के आदर्श प्रतिमान

सामायिक और स्वाध्याय के प्रबल प्रेरक ५
०० सा० को मैं साधुत्व का आदर्श प्रतिमान मा
आचार्य श्री का सान्निध्य अपने पिता और दादा श्री
हुआ किन्तु जीवन के संघर्षों में [illegible] गया
सान्निध्य मैं प्राप्त नहीं कर सका। बचपन से ही मैं
आचार्य श्री साधुत्व के आदर्श प्रतिमान के रूप में इस
प्रतिष्ठित हुए।

भगवान महावीर ने साधु [illegible] आया
साधु सिंह के समान पराक्रमी, [illegible] समान
भद्र, मृग के समान सरल, वायु के समान निःसंग,
सागर के समान गम्भीर, मेरु के समान निश्चल,
आकाश के समान निरवलम्ब मोक्ष [illegible]
निष्कर्ष पर पूर्णतः खरे उतरते हैं।

आचार्य श्री साधुत्व के
के लिए साधुत्व का आदर्श
और भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित

आचार्य श्री ने अपने जीवन
कि केवल सिर मुंडाने से
ब्राह्मण नहीं होता, कुश चीवर
समता से श्रमण होता है, तप से
है। आचार्य श्री ने अपने जीवन के
लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख
प्रशंसा में, मान और अपमान में समभाव
से रहित है, मान आदि कषायों से पूरी तरह
लीन है, वही सच्चा साधु है।

को एक विशेष शक्ति प्राप्त होती है। जो साधक प्रार्थना के रहस्य को समझ कर आत्मिक शांति के लिए प्रार्थना करता है, उसकी आधि-व्याधियाँ दूर हो जाती हैं, चित्त की आकुलता-व्याकुलता नष्ट हो जाती है, और वह परम पद का अधिकारी बन जाता है।"[१]

पर यह प्रार्थना बाह्य दिखावा मात्र नहीं होनी चाहिए। प्रार्थना करते समय तो "कषाय की जहरीली मनोवृत्ति का परित्याग करके समभाव के सुधा सरोवर में अवगाहन करना चाहिये।"[२]

ऐसी प्रार्थना से मन को अपार शांति मिलती है। वह शांति क्या है? शांति आत्मा से सम्बन्धित एक वृत्ति है। ज्यों-ज्यों राग-द्वेष की आकुलता कम होती जाती है और ज्ञान का आलोक फैलता जाता है त्यों-त्यों अन्तःकरण में शांति का बिकास होता है।[३]

प्रार्थना के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य श्री का कहना है कि प्रार्थना केवल चन्द मिनट के लिए भगवान का नाम गुनगुनाना नहीं है वरन् "चित्तवृत्ति की तूली को परमात्मा के साथ रगड़ने का विधि पूर्वक किया जाने वाला प्रयास ही प्रार्थना है।"[४] "अगर हमारे चित्त में किसी प्रकार का दम्भ नहीं है, वासनाओं की गंदगी नहीं है, तुच्छ स्वार्थ-लिप्सा का कालुष्य नहीं है तो हम वीतराग के साथ अपना सान्निध्य स्थापित कर सकते हैं।"[५]

"आत्मा अमर अजर-अविनाशी द्रव्य है। न इसका आदि है, न अंत, न जन्म है न मृत्यु। इसलिए आत्मा से उत्पन्न विकारों के शमन के लिए आध्यात्मिक ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। जब मनुष्य का ज्ञान, दर्शन, चारित्र उन्नत हो जाता है तब वह सांसारिक दुखों में भी सुख का अनुभव करने लगता है। जल तभी तक ढुलकता, ठोकरें खाता, ऊँचे-नीचे स्थान में पद दलित होता और चट्टानों से टकराता है जब तक कि वह महासागर में नहीं मिल जाता।"[६]

सचमुच सत्पुरुषों का जीवन प्रदीप के समान होता है जो स्वयं भी प्रकाशित होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है। आचार्य श्री का जीवन ऐसे ही महापुरुषों जैसा था। आज वे हमारे बीच पार्थिव रूप से नहीं हैं पर उनके जीवनादर्शों और वचनामृतों से प्रेरणा लेकर हमें अपने जीवन को उन्नत बनाना चाहिए। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

—प्रिंसिपल, श्री वीर बालिका कॉलेज, जयपुर—३०२ ००३

---

१. प्रार्थना-प्रवचन, पृ० ४१। २. वही, पृ० २३५। ३. वही, पृ० १०४।
[illegible], पृ० २१३। ५. वही, पृ० ७। ६. आध्यात्मिक आलोक, पृ० १२३।

साधुत्व के आदर्श प्रतिमान

☐ डॉ० महावीरमल लोढ़ा

सामायिक और स्वाध्याय के प्रबल प्रेरक आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० को मैं साधुत्व का आदर्श प्रतिमान मानता हूँ। बचपन में मुझे आचार्य श्री का सान्निध्य अपने पिता श्री और दादा श्री के माध्यम से प्राप्त हुआ किन्तु जीवन के संघर्षों में इतना उलझ गया कि फिर आचार्य श्री का सान्निध्य मैं प्राप्त नहीं कर सका। बचपन से ही मैं यह मानता रहा हूँ कि आचार्य श्री साधुत्व के आदर्श प्रतिमान के रूप में इस युग के महान् जैनाचार्य प्रतिष्ठित हुए।

भगवान महावीर ने साधु की सही परिभाषा दी है। उनके अनुसार साधु सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, वृषभ के समान भद्र, मृग के समान सरल, वायु के समान निस्संग, सूर्य के समान तेजस्वी, सागर के समान गम्भीर, मेरु के समान निश्चल, चन्द्रमा के समान शीतल, आकाश के समान निरवलम्ब मोक्ष की खोज में रहता है। आचार्य श्री इस निष्कर्ष पर पूर्णतः खरे उतरते हैं।

आचार्य श्री साधुत्व के चरम-शिखर थे जिन्होंने आने वाली पीढ़ियों के लिए साधुत्व का आदर्श स्थापित किया। इस फक्कड़ संत में कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित होती थी।

आचार्य श्री ने अपने जीवन और कृतित्व के आधार पर यह बता दिया कि केवल सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, कुश चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं होता, वह समता से श्रमण होता है, तप से तपस्वी होता है और गुणों से साधु होता है। आचार्य श्री ने अपने जीवन के आधार पर बता दिया कि साधु वह है जो लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में, मान और अपमान में समभाव रखता है। जो देह आदि ममता से रहित है, मान आदि कषायों से पूरी तरह मुक्त है और जो आत्मा में ही लीन है, वही सच्चा साधु है।

को एक विशेष शक्ति प्राप्त होती है। जो साधक प्रार्थना के रहस्य को समझ कर आत्मिक शांति के लिए प्रार्थना करता है, उसकी आधि-व्याधियाँ दूर हो जाती हैं, चित्त की आकुलता-व्याकुलता नष्ट हो जाती है, और वह परम पद का अधिकारी बन जाता है।"[१]

पर यह प्रार्थना बाह्य दिखावा मात्र नहीं होनी चाहिए। प्रार्थना करते समय तो "कषाय की जहरीली मनोवृत्ति का परित्याग करके समभाव के सुधा सरोवर में अवगाहन करना चाहिये।"[२]

ऐसी प्रार्थना से मन को अपार शांति मिलती है। वह शांति क्या है? शांति आत्मा से सम्बन्धित एक वृत्ति है। ज्यों-ज्यों राग-द्वेष की आकुलता कम होती जाती है और ज्ञान का आलोक फैलता जाता है त्यों-त्यों अन्तःकरण में शांति का बिकास होता है।[३]

प्रार्थना के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य श्री का कहना है कि प्रार्थना केवल चन्द मिनट के लिए भगवान का नाम गुनगुनाना नहीं है वरन् "चित्तवृत्ति की तूली को परमात्मा के साथ रगड़ने का विधि पूर्वक किया जाने वाला प्रयास ही प्रार्थना है।"[४] "अगर हमारे चित्त में किसी प्रकार का दम्भ नहीं है, वासनाओं की गंदगी नहीं है, तुच्छ स्वार्थ-लिप्सा का कालुष्य नहीं है तो हम वीतराग के साथ अपना सान्निध्य स्थापित कर सकते हैं।"[५]

"आत्मा अमर अजर-अविनाशी द्रव्य है। न इसका आदि है, न अंत, न जन्म है न मृत्यु। इसलिए आत्मा से उत्पन्न विकारों के शमन के लिए आध्यात्मिक ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। जब मनुष्य का ज्ञान, दर्शन, चारित्र उन्नत हो जाता है तब वह सांसारिक दुखों में भी सुख का अनुभव करने लगता है। जल तभी तक ढुलकता, ठोकरें खाता, ऊँचे-नीचे स्थान में पद दलित होता और चट्टानों से टकराता है जब तक कि वह महासागर में नहीं मिल जाता।"[६]

सचमुच सत्पुरुषों का जीवन प्रदीप के समान होता है जो स्वयं भी प्रकाशित होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है। आचार्य श्री का जीवन ऐसे ही महापुरुषों जैसा था। आज वे हमारे बीच पार्थिव रूप से नहीं हैं पर उनके जीवनादर्शों और वचनामृतों से प्रेरणा लेकर हमें अपने जीवन को उन्नत बनाना चाहिए। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

—प्रिंसिपल, श्री वीर बालिका कॉलेज, जयपुर—३०२ ००३

---

१. प्रार्थना-प्रवचन, पृ० ४१। २. वही, पृ० २३५। ३. वही, पृ० १०४। ४. वही, पृ० २१३। ५. वही, पृ० ७। ६. आध्यात्मिक आलोक, पृ० १२३।

तृतीय खण्ड

प्रेरक पद
एवं
प्रवचन

समता भाव के कारण आचार्य श्री सच्चे श्रमण थे, तप के कारण तपस्वी थे, ज्ञान के कारण मुनि थे, गुणों से साधु थे। आचार्य श्री सचमुच जैन-जगत के आलोकमान भास्कर, श्रमण संस्कृति के महा कल्पवृक्ष, महा-मनीषी प्रज्ञा-पुरुष, इतिहास-पुरुष, युगांतकारी विरल विभूति सिद्ध पुरुष, अहिंसा, दया और करुणा के सागर, ज्ञान के शिखर, साधना के शृंग, युग द्रष्टा और युगस्रष्टा थे।

—सी-७, भागीरथ कॉलोनी, चौमूं हाउस, जयपुर-१

गजेन्द्र प्रवचन-मुक्ता

- सर्वजनहिताय—सबके हित के लिये जो काम किया जाय वही अहिंसा है।
- यदि अहिंसा को देश में बढ़ावा देना है तो उसके लिये संयम जरूरी होगा।
- संयम में रही हुई आत्मा मित्र और असंयम में रही हुई आत्मा शत्रु है।
- सिद्धि में रुकावट डालने वाला आलस्य है, जो मानव का परम शत्रु है।
- आनन्द भौतिक वस्तुओं के प्रति राग में नहीं, उनके त्याग में है।
- कामना घटाई नहीं कि अर्थ की गुलामी से छुटकारा मिला नहीं।
- तपस्वी वह कहलाता है जिसके मन में समता हो।
- दान तब तक दान नहीं है जब तक कि उसके ऊपर से मम भाव विसर्जित न हो।
- धर्म की साधना में कुल का सम्बन्ध नहीं, मन का सम्बन्ध है।
- किसी के पास धन नहीं है, पर धर्म है तो वह परिवार सुखी रह सकता है।
- मन, वचन और काया में शुभ योग की प्रवृत्ति होना पुण्य है।
- भावहीन क्रिया फल प्रदान नहीं करती। भाव क्रिया का प्राण है।
- श्रावक-समाज के विवेक से ही साधु-साध्वियों का संयम निर्मल रह सकता है।
- मरण-सुधार जीवन-सुधार है और जीवन-सुधार ही मरण-सुधार है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

प्रेरक पद एवं प्रवचन

आचार्य श्री के प्रेरक पद

(१)

मेरे अन्तर भया प्रकाश

[तर्ज—दोरो जैन धर्म को मारग....]

मेरे अन्तर भया प्रकाश, नहीं अब मुझे किसी की आश ।।टेर।।

काल अनन्त भूला भव-वन में, बंधा मोह की पाश ।
काम, क्रोध, मद, लोभ भाव से, बना जगत का दास ।।मेरे।।१।।

तन धन परिजन सब ही पर हैं, पर की आश-निराश ।
पुद्गल को अपना कर मैंने, कियां स्वत्व का नाश ।।मेरे।।२।।

रोग शोक नहिं मुझको देते, जरा मात्र भी त्रास ।
सदा शान्तिमय मैं हूँ मेरा, अचल रूप है खास ।।मेरे।।३।।

इस जग की ममता ने मुझको, डाला गर्भावास ।
अस्थि-मांस मय अशुचि देह में, मेरा हुआ निवास ।।मेरे।।४।।

ममता से संताप उठाया, आज हुआ विश्वास ।
भेद ज्ञान की पैनी धार से, काट दिया वह पाश ।।मेरे।।५।।

मोह मिथ्यात्व की गांठ गले तब, होवे ज्ञान प्रकाश ।
'गजेन्द्र' देखे अलख रूप को, फिर न किसी की आश ।।मेरे।।६।।

(२)

आत्म-स्वरूप

[तर्ज—दोरो जैन धर्म को मारग....]

मैं हूँ उस नगरी का भूप, जहाँ नहीं होती छाया-धूप ।।टेर।।

तारामण्डल की न गति है, जहाँ न पहुँचे सूर ।
जगमग ज्योति सदा जगती है, दीसे यह जग कूप ।।१।।

मैं नहीं श्याम गौर तन भी हूँ, मैं न सुरूप-कुरूप ।
नहीं लम्बा, बौना भी मैं हूँ, मेरा अविचल रूप ।।२।।

अस्थि मांस मज्जा नहीं मेरे, मैं नहीं धातु रूप ।
हाथ, पैर, सिर आदि अंग में, मेरा नहीं स्वरूप ।।३।।

दृश्य जगत पुद्गल की माया, मेरा चेतन रूप ।
पूरण गलन स्वभाव धरे तन, मेरा अव्यय रूप ।।४।।

श्रद्धा नगरी वास हमारा, चिन्मय कोष अनूप ।
निराबाध सुख में झूलूं मैं, सद् चित् आनन्द रूप ।।५।।

शक्ति का भण्डार भरा है, अमल अचल मम रूप ।
मेरी शक्ति के सन्मुख नहीं, देख सके अरि भूप ।।६।।

मैं न किसी से दबने वाला, रोग न मेरा रूप ।
'गजेन्द्र' निज पद को पहचाने, सो भूपों का भूप ।।७।।

(३)

आत्म-बोध

[तर्ज—गुरुदेव हमारा करदो]

समझो चेतनजी अपना रूप, यो अवसर मत हारो ।।टेर।।

ज्ञान दरस-मय रूप तिहारो, अस्थि-मांस मय देह न थारो ।
दूर करो अज्ञान, होवे घट उजियारो ।।समझो।।१।।

पोपट ज्यूं पिंजर बंधायो, मोह कर्म वश स्वांग बनायो ।
रूप धरे हैं अनपार, अब तो करो किनारो ।।समझो।।२।।

तन धन के नहीं तुम हो स्वामी, ये सब पुद्गल पिंड हैं नामी ।
सत् चित् गुण भण्डार, तू जग देखनहारो ।।समझो।।३।।

भटकत-भटकत नर तन पायो, पुण्य उदय सब योग सवायो ।
ज्ञान की ज्योति जगाय, भरम-तम दूर निवारो ।।समझो।।४।।

पुण्य पाप का तू है कर्ता, सुख-दुख फल का भी तू भोक्ता ।
तू ही छेदनहार, ज्ञान से तत्त्व विचारो ।।समझो।।५।।

कर्म काट कर मुक्ति मिलावे, चेतन निज पद को तब पावे ।
मुक्ति के मारग चार, जान कर दिल में धारो ।।समझो।।६।।

सागर में जलधार समावे, त्यूं शिवपद में ज्योति मिलावे ।
होवे 'गज' उद्धार, अचल है निज अविकारो ।।समझो।।७।।

(४)

सब जग एक शिरोमणि तुम हो

[तर्ज—वालो पांखा बाहिर आयो, माता वैन सुनावे यूं]

सतगुरु ने यह बोध बताया, नहीं काया नहीं माया तुम हो ।
सोच समझ चहुँ ओर निहारो, कौन तुम्हारा अरु को तुम हो ।।१।।

हाथ पैर नहीं, सिर भी न तुम हो, गर्दन, भुजा, उदर नहीं तुम हो ।
नेत्रादिक इन्द्रिय नहीं तुम हो, पर सबके संचालक तुम हो ।।२।।

अस्थि, मांस, मज्जा नहीं तुम हो, रक्त वीर्य भेजा नहीं तुम हो ।
श्वास न प्राण रूप भी तुम हो, सबमें जीवनदायक तुम हो ।।३।।

पृथ्वी, जल, अग्नि नहीं तुम हो, गगन, अनिल में भी नहीं तुम हो ।
मन, वाणी, बुद्धि नहीं तुम हो, पर सबके संयोजक तुम हो ।।४।।

मात, तात, भाई नहीं तुम हो, वृद्ध नारी नर भी नहीं तुम हो ।
सदा एक अरु पूर्ण निराले, पर्यायों के धारक तुम हो ।।५।।

जीव, ब्रह्म, आतम अरु हंसा, 'चेतन' पुरुष रूह तुम ही हो ।
नाम रूपधारी नहीं तुम हो, नाम-वाच्य फिर भी तो तुम हो ।।६।।

कृष्ण, गौर वर्णा नहीं तुम हो, कर्कश, कोमल भाव न तुम हो ।
रूप, रंग धारक नहीं तुम हो, पर सब ही के ज्ञायक तुम हो ।।७।।

भूप, कुरूप, सुरूप न तुम हो, सन्त महन्त गणी नहीं तुम हो ।
'गजमुनि' अपना रूप पिछानो, सब जग एक शिरोमणि तुम हो ।।८।।

(५)

श्री शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

[तर्ज—शिव सुख पाना हो तो प्यारे त्यागी बनो]

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति, सब मिल शान्ति कहो ।।टेर।।

विश्वसेन अचिरा के नन्दन, सुमिरन है सब दुःख निकंदन ।
अहो रात्रि वंदन हो, सब मिल शान्ति कहो ।।ॐ।।१।।

भीतर शान्ति बाहिर शान्ति, तुझमें शान्ति मुझमें शान्ति ।
सबमें शान्ति बसाओ, सब मिल शान्ति कहो ।।ॐ।।२।।

विषय कषाय को दूर निवारो, काम क्रोध से करो किनारो ।
शान्ति साधना यों हो, सब मिल शान्ति कहो ।।ॐ।।३।।

शान्ति नाम जो जपते भाई, मन विशुद्ध हिय धीरज लाई ।
अतुल शान्ति उसे हो, सब मिल शान्ति कहो ।।ॐ।।४।।

प्रातः समय जो धर्मस्थान में, शान्ति पाठ करते मृदु स्वर में ।
उनको दुःख नहीं हो, सब मिल शान्ति कहो ।।ॐ।।५।।

शान्ति प्रभु-सम समदर्शी हो, करें विश्व-हित जो शक्ति हो ।
'गजमुनि' सदा विजय हो, सब मिल शान्ति कहो ।।ॐ।।६।।

(६)

पार्श्व-महिमा

(तर्ज—शिवपुर जाने वाले तुमको........)

पार्श्व जिनेश्वर प्यारा (हमारा) तुमको कोटि प्रणाम २ ।।टेर।।

अश्वसेन कुल कमल दिवाकर, वामादे मन कुमुद निशाकर ।
भक्त हृदय उजियारा ।।तुमको।।१।।

जड़ जग में वेभान बना नर, आत्म तत्त्व नहीं समझे पामर ।
उनका करो सुधारा ।।तुमको।।२।।

तुम सम दूजा देव न भय हर, वीतराग निकलंक ज्ञान घर।
ध्यान से होवे अमरा ।।तुमको।।३।।

सकल चराचर सम्पत्ति अस्थिर, आत्म रमणता सदानन्द कर।
यही बोध है सुखकर ।।तुमको।।४।।

देव तुम्हारी सेवा मन भर, करें बने वह अजर अमर नर।
सदा लक्ष्य हो सब घर ।।तुमको।।५।।
(हो यह भावना सब घर)

भूल न तू धन में ललचाकर, परिजन तन अरु धन भी नश्वर।
पार्श्व चरण ही दिलधर ।।तुमको।।६।।

दुनिया में मन नहीं लुभाकर, पार्श्व वचन का तो पालन कर।
'गजमुनि' (हस्ती) विषय हटाकर ।।तुमको।।७।।

(७)

प्रभु-प्रार्थना

(तर्ज—धन धर्मनाथ धर्मावतार सुन मेरी)

श्री वर्धमान जिन, ऐसा हमको बल दो।
घट-घट में सबके, आत्म भाव प्रगटा दो ।।टेर।।

प्रभु वैर-विरोध का भाव न रहने पावे,
विमल प्रेम सबके घट में सरसावे।
अज्ञान मोह को, घट से दूर भगा दो ।।घट।।१।।

ज्ञान और सुविवेक बढ़े हर जन में,
शासन सेवा नित रहे सभी के मन में।
तन मन सेवा में त्यागें, पाठ पढ़ा दो ।।घट।।२।।

हम शुद्ध हृदय से करें तुम्हारी भक्ति,
संयुक्त प्रेम से बढ़े संघ की शक्ति।
निःस्वार्थ बंधुता सविनय हमें सिखा दो ।।घट।।३।।

चिरकाल संघ सहवास में लाभ कमावें,
नहीं भेद भाव कोई दिल में लावें।
एक सूत्र में हम, सबको दिखला दो ।।घट।।४।।

चर स्थावर साधन भरपूर मिलावें,
साधना मार्ग में नहीं चित्त अकुलावे।
'गज' बर्धमान पद के, अधिकारी कर दो ।।घट।।५।।

(८)

गुरु-महिमा

(तर्ज—कुंथू जिनराज तू ऐसा)

अगर संसार में तारक, गुरुवर हो तो ऐसे हों ।।टेर।।

क्रोध औ लोभ के त्यागी, विषय रस के न जो रागी।
सूरत निज धर्म से लागी, मुनीश्वर हो तो ऐसे हों ।।अगर।।१।।

न धरते जगत से नाता, सदा शुभ ध्यान मन भाता।
वचन अघ मेल के हरता, सुज्ञानी हो तो ऐसे हों ।।अगर।।२।।

क्षमा रस में जो सरसाये, सरल भावों से शोभाये।
प्रपंचों से विलग स्वामिन्, पूज्यवर हो तो ऐसे हों ।।अगर।।३।।

विनयचंद पूज्य की सेवा, चकित हो देखकर देवा।
गुरु भाई की सेना के, करैय्या हो तो ऐसे हों ।।अगर।।४।।

विनय और भक्ति से शक्ति, मिलाई ज्ञान की तुमने।
बने आचार्य जनता के, सुभागी हो तो ऐसे हों ।।अगर।।५।।

(९)

गुरुदेव तुम्हारे चरणों में

जीवन धन आज समर्पित है, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में ।।टेर।।

यद्यपि मैं बंधन तोड़ रहा, पर मन की गति नहीं पकड़ रहा ।
तुम ही लगाम थामे रखना, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में ।।१।।

मन-मन्दिर में तुम को बैठा, मैं जड़ बंधन को तोड़ रहा ।
शिव मंदिर में पहुंचा देना, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में ।।२।।

मैं बालक हूँ नादान अभी, एक तेरा भरोसा भारी है ।
अब चरण-शरण में ही रखना, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में ।।३।।

अंतिम बस एक विनय मेरी, मानोगे आशा है पूरी ।
काया छायावत् साथ रहे, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में ।।४।।

(१०)

गुरु-भक्ति

(तर्ज—साता बरतेजी)

घणो सुख पावेला, जो गुरु बचनों पर प्रीति बढ़ावेला ।।घणो।।टेर।।

विनयशील की कैसी महिमा, मूल सूत्र बतलावेला ।
वचन प्रमाण करे सो जन, सुख-सम्पत्ति पावेला ।।घणो।।१।।

गुरु सेवा जोर आज्ञाधारी, सिद्धा खूब गिलावेला ।
जल पाये तरुवर सम वे, जग में सरसावेला ।।घणो।।२।।

वचन प्रमाणे जो नर चाले, चिन्ता दूर भगावेला ।
आप मति आरति भोगे नित, धोखा खावेला ।।घणो।।३।।

एकलव्य लखि चकित पांडुसुत, मन में सोच करावेला ।
कहा गुरु से हाल भील भी, भक्ति बतावेला ।।घणो।।४।।

देश भक्ति उस भील युवा की, बनदेवी खुश होवेला ।
बिना अंगूठे बाण चले यों, वर दे जावेला ।।घणो।।५।।

गुरु कारीगर के सम जग में, वचन जो खावेला।
पत्थर से प्रतिमा जिम वो नर, महिमा पावेला ।।घणो।।६।।

कृपा दृष्टि गुरुदेव की मुझ पर, ज्ञान शांति बरसावेला।
'गजेन्द्र' गुरु महिमा का नहिं कोई, पार मिलावेला ।।घणो।।७।।

(११)

गुरु-विनय

(तर्ज—धन धर्मनाथ धर्मावतार सुन मेरी)

श्री गुरुदेव महाराज हमें यह वर दो।
रग-रग में मेरे एक शान्ति रस भर दो ।। टेर ।।

मैं हूँ अनाथ भव दुःख से पूरा दुखिया,
प्रभु करुणा सागर तू तारक का मुखिया।
कर महर नजर अब दीननाथ तब कर दो ।। रग ।। १ ।।

ये काम क्रोध मद मोह शत्रु हैं घेरे,
लूटत ज्ञानादिक संपद को मुझ डेरे।
अब तुम बिन पालक कौन हमें बल दो ।। रग ।। २ ।।

मैं करूं विजय इन पर आतम बल पाकर,
जग को बतला दूं धर्म सत्य हर्षाकर।
हर घर सुनीति विस्तार करूं, वह ज़र दो ।। रग ।। ३ ।।

देखी है अद्भुत शक्ति तुम्हारी जग में,
अधमाधम को भी लिये तुम्हीं निज मग में।
मैं भी मांगू अय नाथ सिर धर दो ।। रग ।। ४ ।।

क्यों संघ तुम्हारा धनी मानी भी भीरू,
सच्चे मारग में भी न त्याग गंभीरू।
सबमें निज शक्ति भरी प्रभो ! भय हर दो ।। रग ।। ५ ।।

सविनय अरजी गुरुराज चरण कमलन में,
कीजे पूरी निज विरुद जानि दीनन में।
आनन्द पूर्ण करी सबको सुखद वचन दो ।। रग ।। ६ ।।

गाई यह गाथा अविचल मोद करण में,
सौभाग्य गुरु की पर्व तिथि के दिन में।
सफली हो आशा यही कामना पूरण कर दो ।। रग ।। ७ ।।

(१२)

सामायिक का स्वरूप

(तर्ज—अगर जिनराज के चरणों में)

अगर जीवन बनाना है, तो सामायिक तू करता जा ।
हटाकर विषमता मन, साम्यरस पान करता जा ।। टेर ।।

मिले धन सम्पदा अथवा, कभी विपदा भी आ जावे ।
हर्ष और शोक से बचकर, सदा एक रंग रखता जा ।। १ ।।

विजय करने विकारों को, मनोबल को बढ़ाता जा ।
हर्ष से चित्त का साधन, निरंतर तू बनाता जा ।। २ ।।

अठारह पाप का त्यागन, ज्ञान में मन रमाता जा ।
अचल आसन व मित-भाषण, शांत भावों में रमता जा ।। ३ ।।

पड़े अज्ञान के बन्धन, सदा मन को घुमाता है ।
ज्ञान की ज्योति में आकर, अमित आनन्द बढ़ाता जा ।। ४ ।।

पड़ा है कर्म का बन्धन, पराक्रम तू बढ़ाता जा ।
हटा आलस्य विकथा को, अमित आनन्द पाता जा ।। ५ ।।

कहे 'गजमुनि' भरोसा कर, परम रस को मिलाता जा ।
भटक मत अन्य के दर पर, स्वयं में शान्ति लेता जा ।। ६ ।।

(१३)

सामायिक-सन्देश

(तर्ज—तेरा रूप अनुपम गिरधारी दर्शन की छटा निराली है)

जीवन उन्नत करना चाहो, तो सामायिक साधन करलो ।
आकुलता से बचना चाहो, तो....सा० ।। टेर ।।

तन धन परिजन सब सपने हैं, नश्वर जग में नहीं अपने हैं।
अविनाशी सद्गुण पाना हो, तो....सा० ॥ १ ॥

चेतन निज घर को भूल रहा, पर घर माया में भूल रहा।
सद्चिद् आनन्द को पाना हो, तो....सा० ॥ २ ॥

विषयों में निज गुण मत भूलो, अब काम क्रोध में मत भूलो।
समता के सर में नहाना हो, तो....सा० ॥ ३ ॥

तन पुष्टि-हित व्यायाम चला, मन-पोषण को शुभ ध्यान भला।
आध्यात्मिक बल पाना चाहो तो....सा० ॥ ४ ॥

सब जग-जीवों में बंधु भाव, अपनालो तज के वैर भाव।
सब जन के हित में सुख मानो, तो....सा० ॥ ५ ॥

निर्व्यसनी हो, प्रामाणिक हो, धोखा न किसी जन के संग हो।
संसार में पूजा पाना हो, तो....सा० ॥ ६ ॥

साधक सामायिक-संघ बनें, सब जन सुनीति के भक्त बनें।
नर लोक में स्वर्ग बसाना हो, तो....सा० ॥ ७ ॥

(१४)

सामायिक-गीत

(तर्ज—नवीन रसिया)

करलो सामायिक रो साधन, जीवन उज्ज्वल होवेला ॥ टेर ॥

तन का मैल हटाने खातिर, नित प्रति नहावेला।
मन पर मल चहुँ ओर जमा है, कैसे धोवेला ॥ करलो ॥ १ ॥

बाल्यकाल में जीवन देखो, दोष न पावेला।
मोह माया का संग किया से, दाग लगावेला ॥ करलो ॥ २ ॥

ज्ञान-गंग ने क्रिया धुलाई, जो कोई धोवेला।
काम, क्रोध, मद, लोभ, दाग को दूर हटावेला ॥ करलो ॥ ३ ॥

सत्संगत और शान्त स्थान में, दोष बचावेला।
फिर सामायिक साधन करने, शुद्धि मिलावेला ॥ करलो ॥ ४ ॥

दोय घड़ी निज-रूप रमण कर, जग बिसरावेला।
धर्म-ध्यान में लीन होय, चेतन सुख पावेला ॥ करलो ॥ ५ ॥

सामायिक से जीवन सुधरे, जो अपनावेला।
निज सुधार से देश, जाति सुधरी हो जावेला ॥ करलो ॥ ६ ॥

गिरत-गिरत प्रतिदिन रस्सी भी, शिला घिसावेला।
करत-करत अभ्यास मोह को, जोर मिटावेला ॥ करलो ॥ ७ ॥

(१५)

जीवन-उत्थान गीत

(तर्ज—करने भारत का कल्याण—पधारे वीर प्रभु भगवान्....)

करने जीवन का उत्थान, करो नित समता रस का पान ॥ टेर ॥

सामायिक की महिमा भारी, यह सबको साताकारी।
इसमें पापों का पच्चखान, करो नहीं आत्म-गुणों की हान ॥ १ ॥

नित प्रति हिंसादिक जो करते, त्याग को मान कठिन जो डरते।
घड़ी दो कर अभ्यास महान्, बनाते जीवन को बलवान् ॥ २ ॥

चोर केशरिया ने ली धार, हटाये मन के सकल विकार।
मिलाया उसने केवल ज्ञान, किया भूपति ने भी सम्मान ॥ ३ ॥

मन की सकल व्यथा मिट जाती, स्वानुभव सुख-सरिता बह जाती।
होता उदय ज्ञान का भान, मिलाते सहज शान्ति असमान ॥ ४ ॥

जो भी गए मोक्ष में जीव, सबों ने दी समता की नींव।
उन्हीं का होता है निर्वाण, यही है भगवत् का फरमान ॥ ५ ॥

कहता 'गजमुनि' बारम्बार, करलो प्रामाणिक व्यवहार।
हटाओ मोह और अज्ञान, मिले फिर अमित सुखों की खान ॥ ६ ॥

(१६)

स्वाध्याय-सन्देश

[तर्ज – नवीन रसिया]

करलो श्रुतवाणी का पाठ, भविकजन, मन-मल हरने को ।।टेर।।

विन स्वाध्याय ज्ञान नहीं होगा, ज्योति जगाने को।
राग रोष की गांठ गले नहीं, बोधि मिलाने को ।।१।।

जीवादिक स्वाध्याय से जानो, करणी करने को।
वंध मोक्ष का ज्ञान करो, भव भ्रमण मिटाने को ।।२।।

तुंगियापुर में स्थविर पधारे, ज्ञान सुनाने को ।
सुज्ञ उपासक मिलकर पूछे, सुरपद पाने को ।।३।।

स्थविरों के उत्तर थे, सव जन मन हर्षाने को।
गौतम पूछे स्थविर समर्थ हैं, उत्तर देने को ।।४।।

जिनवाणी का सदा सहारा, श्रद्धा रखने को।
विन स्वाध्याय न संगत होगी, भव दुःख हरने को ।।५।।

सुबुद्धि ने भूप सुधारा, भव–जल तिरने को।
पुद्गल परिणति को समझाकर, धर्म दीपाने को ।।६।।

नित स्वाध्याय करो मन लाकर, शक्ति वढ़ाने को।
'गजमुनि' चमत्कार कर देखो, निज बल पाने को ।।७।।

(१७)

स्वाध्याय-महिमा

[तर्ज– ए वीरो उठो वीर के तत्त्वों को अपनाओ]

हम करके नित स्वाध्याय, ज्ञान की ज्योति जगाएंगे।
अज्ञान हृदय का धो करके, उज्ज्वल हो जाएंगे ।।१।।

श्री वीर प्रभु के शासन को, जग में चमकाएंगे।
सत्य–अहिंसा के बल को, जन-जन समझाएंगे ।।२।।

घर–घर में ज्ञान फैलायेंगे, जीवादिक समझेंगे।
कर पुण्य–पाप का ज्ञान, सुगति पथ को अपनाएंगे ।।३।।

श्रेणिक ने शासन सेवा की, जिन पद को पाएंगे।
हम भी शासन की सेवा में, जीवन दे जाएंगे ।।४।।

श्री लोंकशाह सम शास्त्र वांच कर, ज्ञान बढ़ायेंगे।
शासन-सेवी श्री धर्मदास मुनि, के गुण गायेंगे ।।५।।
देकर प्राणों को शासन की, हम ज्ञान बढ़ायेंगे।
हर प्रान्तों में स्वाध्यायी जन, अब फिर दिखलायेंगे ।।६।।

(१८)

स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो

[तर्ज–उठ भोर भई टुक जाग सही........]

जिनराज भजो, सब दोष तजो, अब सूत्रों का स्वाध्याय करो।
मन के अज्ञान को दूर करो, स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो ।।
जिनराज की निर्दूषण वाणी, सब सन्तों ने उत्तम जानी।
तत्त्वार्थ श्रवण कर ज्ञान करो, स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो ।।१।।
स्वाध्याय सुगुरु की वाणी है, स्वाध्याय ही आतम कहानी है।
स्वाध्याय से दूर प्रमाद करो, स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो ।।२।।
स्वाध्याय प्रभु के चरणों में, पहुँचाने का साधन जानो।
स्वाध्याय मित्र स्वाध्याय गुरु, स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो ।।३।।
मत खेल-कूद निद्रा-विकथा में, जीवन धन बर्बाद करो।
सद्ग्रन्थ पढ़ो, सत्संग करो, स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो ।।४।।
मन-रंजन नॉविल पढ़ते हो, यात्रा विवरण भी सुनते हो।
पर निज-स्वरूप ओलखने को, स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो ।।५।।
स्वाध्याय बिना घर सूना है, मन सूना है सद्ज्ञान बिना।
घर-घर गुरुवाणी गान करो, स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो ।।६।।
जिन शासन की रक्षा करना, स्वाध्याय प्रेम जन-मन भरना।
'गजमुनि' ने अनुभव कर देखा, स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो ।।७।।

[१९]

जागृति - सन्देश

(तर्ज—जाओ २ रे मेरे साधु)

जागो-जागो हे आत्मबन्धु मम, अब जल्दी जागो ।। टेर ।।
अनन्त-ज्ञान श्रद्धा-बल के हो, तुम पूरे भंडार।
बने आज अल्पज्ञ मिथ्यात्वी, खोया सद् आचार ।।जागो०।।१।।

कामदेव और भक्त सुदर्शन, ने दी निद्रा त्याग।
नत मस्तक देवों ने मानां, उनका सच्चा त्याग ।।जागो०।।२।।

अजात-शत्रु भूपति ने रक्खा, प्रभु भक्ति से प्यार।
प्रतिदिन जिनचर्या सुन लेता, फिर करता व्यवहार ।।जागो०।।३।।

जग प्रसिद्ध भामाशाह हो गए, लोक चन्द्र इस वार।
देश धर्म अरु आत्म धर्म के, हुए कई आधार ।।जागो०।।४।।

तुम भी हो उनके ही वंशज, कैसे भूले मान।
कहाँ गया वह शौर्य तुम्हारा, रक्खो अपनी शान ।।जागो०।।५।।

तन धन जोवन लगा मोर्चे, अब ना रहो अचेत।
देखो जग में सभी पंथ के, हो गए लोग सचेत ।।जागो०।।६।।

तन धन लज्जा त्याग धर्म का, करलो अब सम्मान।
'गजमुनि' विमल कीर्ति अरु जग का, हो जावे उत्थान ।।जागो०।।७।।

(२०)

आह्वान

(तर्ज—विजयी विश्व तिरंगा प्यारा)

ए वीरो ! निद्रा दूर करो, तन-धन दे जीवन सफल करो।
अज्ञान अंधेरा दूर करो, जग में स्वाध्याय प्रकाश करो ।।टेर।।

घर-घर में अलख जगा देना, स्वाध्याय मशाल जला देना।
अब जीवन में संकल्प करो, तन-धन० ।। १ ।।

चम्पा का पालित स्वाध्यायी, दरिया तट का था व्यवसायी।
है मूल सूत्र में विस्तारो, तन-धन० ।। २ ।।

स्वाध्याय से मन-मल धुलता है, हिंसा झूठ न मन घुलता है।
सुविचार से शुभ आचार करो, तन-धन० ।। ३ ।।

अज्ञान से दुःख दूना होता, अज्ञानी धीरज खो देता।
सद्ज्ञान से दुःख को दूर करो, तन-धन० ।। ४ ।।

ज्ञानी को दुःख नहीं होता है, ज्ञानी धीरज नहीं खोता है।
स्वाध्याय से ज्ञान भण्डार भरो, तन-धन० ।। ५ ।।

है सती जयन्ती सुखदायी, जिनराज ने महिमा बतलाई।
भगवती सूत्र में विस्तारो, तन-धन० ।। ६ ।।

वीरों का एक ही नारा हो, जन-जन स्वाध्याय प्रमाना हो ।
सब जन में यही विचार भरो, तन-धन ॥ ७ ॥
श्रमणो ! अब महिमा बतलाओ, बिन ज्ञान क्रिया सूनी गाओ ।
'गजमुनि' सद्ज्ञान का प्रेम भरो, तन-धन० ॥ ८ ॥

(२१)

वीर - सन्देश

(तर्ज—लाखों पापी तिर गये सत्संग के परताप से)

वीर के सन्देश को दिल में जमाना सीखलो ।
विश्व से हिंसा हटाकर, सुख से रहना सीखलो ॥टेर॥
छोड़ दो हिंसा की वृत्ति, दुःख की जड़ है यही ।
शत्रुता अरु द्रोह की, जननी इसे समझो सही ॥ १ ॥
प्रेम मूर्ति है अहिंसा, दिव्य शक्ति मानलो ।
वैर नाशक प्रीति वर्द्धक, भावना मन धारलो ॥ २ ॥
क्रोध और हिंसा अनल से, जलते जग को देखलो ।
नित नये संहार साधन, का बना है लेख लो ॥ ३ ॥
परिणाम हिंसा का समझलो, दुःखदाई है सही ।
मरना अरु जग को मिटाना, पाठ इसका देखलो ॥ ४ ॥

(२२)

जिनवाणी की महिमा

(तर्ज—[illegible])

श्री वीर प्रभु की वाणी, म्हाने प्यारी लागे जी ॥टेर॥
[illegible] लोक दिखायो, [illegible] ।
[illegible] ॥श्री०॥१॥
[illegible] ज्ञान की [illegible] ।
[illegible] अज्ञान की [illegible] ॥श्री०॥२॥
अनेकान्त का मर्म बताकर [illegible] ।
[illegible] ॥श्री०॥३॥

त्रिपदी से जग खेल बतायो, गौतम को दियो बोध।
दान दया दम को आराधो, यही शास्त्र की शोध हो ।।श्री०।।४।।
'गजमुनि' वीर चरण चित्त लाओ, पाओ शान्ति अपार।
भव-बन्धन से चेतन छूटे, करणी का यह सार हो ।।श्री०।।५।।

(२३)

जिनवाणी का माहात्म्य

(तर्ज—जाओ-जाओ ए मेरे साधु रहो गुरु के संग)

करलो-करलो, अय प्यारे सजनो, जिनवाणी का ज्ञान ।।टेर।।

जिसके पढ़ने से मति निर्मल, जगे त्याग तप भाव।
क्षमा दया मृदु भाव विश्व में, फैल करे कल्याण ।।१।।

मिथ्या-रीति अनीति घटे जग, पावे सच्चा मान।
देव गुरु के भक्त बनें सब, हट जावे अज्ञान ।।२।।

पाप-पुण्य का भेद समझ कर, विधियुत देवो दान।
कर्मबन्ध का मार्ग घटाकर, कर लेओ उत्थान ।।३।।

गुरुवाणी में रमने वाला, पावे निज गुण भान।
रायप्रदेशी क्षमाशील बन, पाया देव विमान ।।४।।

घर-घर में स्वाध्याय बढ़ाओ, तजकर आरत ध्यान।
जन-जन की आचार शुद्धि हो, बना रहे शुभ ध्यान ।।५।।

मातृ-दिवस में जोड़ बनाई, धर आदीश्वर ध्यान।
दो हजार अष्टादश के दिन, 'गजमुनि' करता गान ।।६।।

(२४)

सच्चा श्रावक

(तर्ज—प्रभाती)

साचा श्रावक तेने कहिये, ज्ञान क्रिया जो धारे रे ।।टेर।।

हिंसा झूठ कुशील निवारे, चोरी कर्म ने टाले रे।
संग्रह-वृद्धि तृष्णा त्यागे, संतोषामृत पाले रे ।। १ ।।

द्रोह नहीं कोई प्राणी संग, आतम सम सब लेखे रे।
पर दुःख में दुखिया बन जावे, सब सुख में सुख देखे रे ।। २ ।।

परम देव पर श्रद्धा राखे, निर्ग्रन्थ गुरु ने सेवे रे।
धर्म दया जिनदेव प्ररूपित, सार तीन को मन सेवे रे ॥ ३ ॥

श्रद्धा और विवेक विचारां, विमल क्रिया भव तारे रे।
तीन वसे गुण जिन में जानो, श्रावक साचा तेहने रे ॥ ४ ॥

(२५)

सच्ची सीख

(तर्ज—जाओ जाओ ए मेरे साधु....)

गाओ गाओ अय प्यारे गायक, जिनवर के गुण गाओ ॥ टेर ॥

मनुज जन्म पाकर नहीं कर से, दिया पात्र में दान।
मौज शौक अरु प्रभुता खातिर, लाखों दिया विगाड़ ॥१॥

बिना दान के निष्फल कर हैं, शास्त्र श्रवण बिन कान।
व्यर्थ नेत्र मुनि दर्शन के बिन, तके पराया गात ॥२॥

धर्म-स्थान में पहुंचि सके ना, व्यर्थ मिले वे पाँव।
इनके सकल करण जग में, है सत्संगति का दांव ॥३॥

खाकर सरस पदार्थ बिगाड़े, बोल बिगाड़े बात।
वृथा मिली वह रसना, जिसने गाई न जिन गुण गात ॥४॥

सिर का भूषण गुरु वन्दन है, धन का भूषण दान।
क्षमा वीर का भूषण, सबका भूषण है आचार ॥५॥

काम मोह अरु पुद्गल के हैं, गायें गान हजार।
'गजमुनि' आत्म रूप को गाओ, हो जावे भव पार ॥६॥

(२६)

हित-शिक्षा

(तर्ज— आज रंग वरसे रे)

घणो पछतावेला, जो धर्म-ध्यान में मन न लगावेला ॥टेर॥

रम्मत गम्मत काम कुतूहल, में जो चित्त लगावेला।
सत्संगत बिन मूरख निष्फल, जन्म गमावेला ॥ घणो ॥१॥

वीतराग की हितमय वाणी, सुणतां नींद बुलावेला।
रंग-राग नाटक में सारी, रात वितावेला ॥ घणो ॥२॥

मात-पिता गुरुजन की आज्ञा, हिय में नहीं जमावेला ।
इच्छाचारी बनकर हित की, सीख भुलावेला ।। घणो ।।३।।
यो तन पायो चिंतामणि सम, गयां हाथ नहीं आवेला ।
दया दान सद्गुण संचय कर, सद्गति पावेला ।। घणो ।।४।।
निज आतम ने वश कर पर की, आतम ने पहचानेला ।
परमातम भजने से चेतन, शिवपुर जावेला ।। घणो ।।५।।
महापुरुषों की सीख यही है, 'गजमुनि' आज सुनावेला ।
गोगोलाव में माह वदि को, जोड़ सुनावेला ।। घणो ।।६।।

(२७)

देह से शिक्षा

(तर्ज—शिक्षा दे रहा जी हमको रामायण अति प्यारी)

शिक्षा दे रही जी हमको, देह पिंड सुखदाई ।। टेर ।।

दस इन्द्रिय अरु बीसों अंग में, देखो एक सगाई ।
सबमें एक–एक में सबकी, शक्ति रही समाई ।। शिक्षा ।।१।।
आँख चूक से लगता कांटा, पैरों में दुखदाई ।
फिर भी पैर आँख से चाहता, देवे मार्ग बताई ।। शिक्षा ।।२।।
सबके पोषण हित करता है, संग्रह पेट सदाई ।
रस कस ले सबको पहुंचाता, पाता मान बढ़ाई ।। शिक्षा ।।३।।
दिल सबके सुख-दुख में धड़के, मस्तक कहे भलाई ।
इसी हेतु सब तन में इनकी, बनी आज प्रभुताई ।। शिक्षा ।।४।।
अपना काम करें सब निश्छल, परिहर स्वार्थ मिताई ।
कुशल देह के लक्षण से ही, स्वस्थ समाज रचाई ।। शिक्षा ।।५।।
विभिन्न व्यक्ति अंग समझलो, तन समाज सुखदाई ।
'गजमुनि' सबके हित सब दौड़ें, दुःख दरिद्र नस जाई ।। शिक्षा ।।६।।

(२८)

शुभ कामना

(तर्ज–यही है महावीर संदेश)

दयामय होवे मंगलाचार, दयामय होवे बेड़ा पार ।। टेर ।।

करें विनय हिलमिल कर सब ही, हो जीवन उद्धार ।। दयामय० ।। १ ।।

देव निरंजन ग्रन्थ-हीन गुरु, धर्म दयामय धार।
तीन तत्व आराधन से मन, पावे शान्ति अपार ।। दयामय० ।। २ ।।
नर भव सफल करन हित हम सब, करें शुद्ध आचार।
पावें पूर्ण सफलता इसमें, ऐसा हो उपकार ।। दयामय० ।। ३ ।।
तन-धन-अर्पण करें हर्ष से, नहीं हों शिथिल विचार।
ज्ञान धर्म में रमे रहें हम, उज्ज्वल हो व्यवहार ।। दयामय० ।। ४ ।।
दिन-दिन बढ़े भावना सबकी, घटे अविद्या मार।
यही कामना 'गजमुनि' की हो, तुम्हीं एक आधार ।। दयामय० ।। ५ ।।

(२९)

संघ की शुभ कामना

(तर्ज–लाखों पापी तिर गये····)

श्री संघ में आनन्द हो, कहते ही वन्दे जिनवरम् ।। टेर ।।
मिथ्यात्व निशिचर का दमन, कहते ही वन्दे जिनवरम्,
सम्यक्त्व के दिन का उदय, कहते····।। १ ।।
दिल खोल अरु मल दूर कर, अभिमान पहले गाल दो,
कल्याण हो सच्चे हृदय, कहते····।। २ ।।
दानी दमी ज्ञानी बनें, धर्माभिमानी हम सभी,
बिन भेद प्रेमी धर्म के, कहते····।। ३ ।।
सत्य, समता, शील अरु संतोष मानस चित्त हो,
त्यागानुरत मम चित्त हो, कहते····।। ४ ।।
शुभ धर्म सेवी से नहीं, परहेज अणुभर भी हमें,
सर्वस्व देवें संघ हित, कहते····।। ५ ।।
जिनवर हमें वर दो यही, सहधर्मी वत्सलता करें,
अनभिज्ञ को 'करी' बोध दें, कहलावे वन्दे जिनवरम्····।। ६ ।।
श्री संघ में आनन्द हो, कहते ही वन्दे जिनवरम् ।।

(३०)

भगवद् चरणों में

(तर्ज–तू धार सके तो धार संयम सुखकारी)

होवे शुभ आचार प्यारे भारत में, सब करें धर्म प्रचार,
प्यारे भारत में ।। टेर ।।

धर्म प्राण यह देश हमारा, सद्-पुरुषों का बड़ा दुलारा,
धर्मनीति आधार प्यारे ।। १ ।।

सादा जीवन जीएँ सब जन, पश्चिम की नहीं चाल चले जन,
सदाचार से प्यारे ।। २ ।।

न्याय नीति मय धन्धा चावें, प्राथमिकता को अपनावें,
सब धर्मों का सार ।। ३ ।।

मैत्री हो सब जग जीवों में, निर्भयता हो सब जीवों में,
भारत के संस्कार ।। ४ ।।

हिंसा झूठ न मन को भावे, सब सबको आदर से चावें,
होवे न मन में खार ।। ५ ।।

(३१)

सुख का मार्ग–विनय

(तर्ज–रिषभजी मूंडे बोल)

सदा सुख पावेला २ जो अहंकार तज विनय बढ़ावेला ।। सदा० ।।

अहंकार में अकड़ा जो जन, अपने को नहीं मानेला ।
ज्ञान-ध्यान-शिक्षा-सेवा, का लाभ न पावेला ।। १ ।।

विनयशील नित हँसते रहता, रूठे मित्र मनावेला ।
निज-पर के मन को हर्षित कर, प्रीत बढ़ावेला ।। २ ।।

विनय प्रेम से नरपुर में भी - सुरपुर सा रंग लावेला ।
उदासीन मुख की सूरत नहीं, नजर निहालेला ।। ३ ।।

विनय धर्म का मूल कहा है, इज्जत खूब मिलावेला ।
योग्य समझ स्वामी, गुरु-पालक मान दिलावेला ।। ४ ।।

पुत्र पिता से कुंजी पावे, शिष्य गुरु मन भावेला ।
विनयशील शासक जन को भी, खूब रिझावेला ।। ५ ।।

यत् किंचित् कर विनय-गुरु का 'गजमुनि' मन हर्षावेला ।
अनुभव कर देखो, जीवन–गौरव बढ़ जावेला ।। ६ ।।

(३२)

सेवा धर्म की महिमा

(तर्ज–सेवो सिद्ध सदा जयकार)

सेवा-धर्म बड़ा गंभीर, पार कोई विरला पाते हैं।
विरले पाते हैं, बंधुता भाव बढ़ाते हैं ।।
जगत का खार मिटाते हैं ।।

तन–धन–औषध–वस्त्रादिक से—सेवा करते हैं ।
स्वार्थ–मोह–भय–कीर्ति हेतु–कई कष्ट उठाते हैं ।।१।।

सेवा से हिंसक प्राणी भी, वश में आते हैं ।
सेवा के चलते सेवक–अधिकार मिलाते हैं ।।२।।

नंदिषेण मुनि ने सेवा की, देव परखते हैं ।
क्रोध–खेद से बचकर–मन अहंकार न लाते हैं ।।३।।

धर्मराज की देखो सेवा, कृष्ण बताते हैं ।
क्रोड़ों व्यय कर अहंभाव से, अफल बनाते हैं ।।४।।

द्रव्य-भाव दो सेवा होती; मुनि जन गाते हैं ।
रोग और दुर्व्यसन छुड़ाया–जग सुख पाते हैं ।।५।।

जीव–जीव का उपयोगी हो–दुःख न देते हैं ।
जगहित में उपयोगी होना, विरला चाहते हैं ।।
'गजमुनि' चाहते हैं ।।६।।

(३३)

यह पर्व पर्युषण आया

(तर्ज–वीरा रमक झमक हुई आइजो)

यह पर्व पर्युषण आया, सब जग में आनन्द छाया रे ।। टेर ।।

यह विषय कषाय घटाने, यह आतम गुण विकसाने ।
जिनवाणी का बल लाया रे ।। पर्व० ।। १ ।।

ये जीव रुले चहुँ गति में, ये पाप करण की रति में ।
निज गुण सम्पद को खोया रे ।। पर्व० ।। २ ।।

तुम छोड़ प्रमाद मनाओ, नित धर्म ध्यान रम जाओ ।
लो भव-भव दुःख मिटाया रे ।। पर्व० ।। ३ ।।

तप-जप से कर्म खपाओ, दे दान द्रव्य-फल पाओ।
ममता त्यागी सुख पाया रे ॥ पर्व० ॥ ४ ॥

मूरख नर जन्म गमाये, निन्दा विकथा मन भावे।
इन से ही गोता खाया रे ॥ पर्व० ॥ ५ ॥

जो दान शील आराधे, तप द्वादश भेदे सावे।
शुद्ध मन जीवन बरसाया रे ॥ पर्व० ॥ ६ ॥

वेला तेला और अठायां, संवर पौषध करे भाया।
शुद्ध पालो शील सवाया रे ॥ पर्व० ॥ ७ ॥

तुम विषय कषाय घटाओ, मन मलिन भाव मत लाओ।
निन्दा विकथा तज माया रे ॥ पर्व० ॥ ८ ॥

केई आलस में दिन खोवे, शतरंज तास या सोवे।
पिक्चर में समय गमाया रे ॥ पर्व० ॥ ९ ॥

संयम की शिक्षा लेना, जीवों की जयणा करना।
जो जैन धर्म थें पाया रे ॥ पर्व० ॥ १० ॥

जन-जन का मन हरषाया, वालकगण भी हुलसाया।
आतम शुद्धि हित आया रे ॥ पर्व० ॥ ११ ॥

समता से मन को जोड़ो, ममता का बन्धन तोड़ो।
है सार ज्ञान का भाया रे ॥ पर्व० ॥ १२ ॥

सुरपति भी स्वर्ग से आवे, हर्षित हो जिन गुण गावे।
जन-जन को अभय दिलाया रे ॥ पर्व० ॥ १३ ॥

'गजमुनि' निज मन समझावे, यह सोई शक्ति जगावे।
अनुभव रस पान कराया रे ॥ पर्व० ॥ १४ ॥

(३४)

पर्युषण है पर्व हमारा

(तर्ज—झण्डा ऊँचा रहे हमारा....)

पर्युषण है पर्व हमारा, देश मुक्ति का है यह द्वारा ॥ टेर ॥

अनंतजीव की मुक्ति विधाता, शान्ति सुधा सब जग बरसाता।
आत्म शुद्धि का पाठ पढ़ाता, तभी बना जग का यह प्यारा ॥ १ ॥

सुरपति इसमें पुण्य कमाते, मृत्युलोक भी पर्व मनाते।
मुनिजन के मन सुन हर्षाते, संयमियों का परम आधारा ॥ २ ॥

पाप ताप संताप मिटाता, मुद मंगल सन्मति का दाता ।
जीव मात्र के हो तुम त्राता, निर्मल करदो चित्त हमारा ॥ ३ ॥

युग-युग में जो इसे मनावें, राग-द्वेष को दूर भगावें ।
दिव्य भाव की संपद पावें, आनन्द भोगेगा अब सारा ॥ ४ ॥

(३५)

शील री चुन्दड़ी

(तर्ज—सीता माता की गोद में)

धारो धारो री सोभागिन शील री चुन्दड़ीजी……॥ टेर ॥

झूठे भूषण में मत राचो, शील धर्म भूषण है सांचो ।
राखो तन मन से ये प्रेम, एक सत धर्म से जी……धारो ॥ १ ॥

मस्तक देव गुरु ने नमाओ, यही मुकट सिर सच्चा समझो ।
काने जिनवाणी का श्रवण, रत्नमय कुंडलो जी……धारो ॥ २ ॥

जीव दया और सद्गुरु दर्शन, सफल करो इसमें निज लोचन ।
नथवर अटल नियम सूं, धर्म प्रेम है नाक रो जी……धारो ॥ ३ ॥

मुख से सत्यवचन प्रिय बोलो, जिन गुरु गुण में शक्ति लगालो ।
भगिनी यही चूंप के अविनाशी, सुख दायिनी जी……धारो ॥ ४ ॥

सज्जन या दुर्बल सेवा, दीन हीन प्राणी सुख देवा ।
भुजबल कंकण रत्न जटित, सुख वस्त्र री जी……धारो ॥ ५ ॥

(३६)

पालो पालो री सौभागिन बहनां

(तर्ज—सीता माता की गोद में)

पालो पालो री सौभागिन बहनां, [illegible]

[illegible] ॥ १ ॥

[illegible] ॥ २ ॥

[illegible] ॥ ३ ॥

देवी अब यह भूषण धारो, घर संतति को शीघ्र सुधारो
सर्वस्व देव मिटावो आज, जगत के धर्म को जी""पालो""।। ४ ।।

धारिणी शोभा सी बन जाओ, वीर वंश को फिर शोभाओ
"हस्ती" उन्नत करदो, देश धर्म अरु संघ को जी""पालो""।। ५ ।।

(३७)

भगवान तुम्हारी शिक्षा

जीवन को शुद्ध बना लेऊँ, भगवान तुम्हारी शिक्षा से।

सम्यग् दर्शन को प्राप्त करूँ, जड़ चेतन का परिज्ञान करूँ।
जिनवाणी पर विश्वास करूँ, भगवान तुम्हारी शिक्षा से ।।१।।

अरिहंत देव निर्ग्रन्थ गुरु, जिन मार्ग धर्म को नहीं विसरूँ।
अपने बल पर विश्वास करूँ, भगवान तुम्हारी शिक्षा से ।।२।।

हिंसा असत्य चोरी त्यागूँ, विषयों को सीमित कर डालूं।
जीवन धन को नहीं नष्ट करूँ, भगवान तुम्हारी शिक्षा से ।।३।।

(३८)

विदाई - सन्देश

(तर्ज—सिद्ध अरिहंत में मन रमा जायेंगे)

जीवन धर्म के हित में लगा जाएंगे,
महावीर का तत्त्व सिखा जाएंगे ।। टेर ।।

चाहे कहो कोई बुरा अथवा भला कहो,
पर हम कर्तव्य अपना बजा जाएंगे ।। महा० १ ।।

चाहे सुने कोई प्रेम से अथवा घृणा करे,
पर हम धर्म का तत्त्व बता जाएंगे ।। महा० २ ।।

चाहे करो धन में श्रद्धा या धार्मिक कार्य में,
पर हम शान्ति का मार्ग जचा जाएंगे ।। महा० ३ ।।

अहमदनगर के श्रोताओं, कुछ करके दिखलाना,
हम भी प्रेम से मान बढ़ा जाएंगे ।। महा० ४ ।।

□ □ □

आचार्य श्री के प्रेरणास्पद प्रवचन

[१]

जैन साधना की विशिष्टता

साधना का महत्त्व और प्रकार :

साधना मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। संसार में विभिन्न प्रकार के प्राणी जीवन-यापन करते हैं, पर साधना-शून्य होने से उनके जीवन का कोई महत्त्व नहीं आंका जाता। मानव साधना-शील होने से ही सब में विशिष्ट प्राणी माना जाता है। किसी भी कार्य के लिये विधिपूर्वक पद्धति से किया गया कार्य ही सिद्धि-दायक होता है। भले वह अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष में से कोई हो। अर्थ व भोग की प्राप्ति के लिये भी साधना करनी पड़ती है। कठिन से कठिन दिखने वाले कार्य और भयंकर स्वभाव के प्राणी भी साधना से सिद्ध कर लिये जाते हैं। साधना में कोई भी कार्य ऐसा नहीं, जो साधना से सिद्ध न हो। साधना के बल से मानव प्रकृति को भी अनुकूल बना कर अपने अधीन कर लेता है और दुर्दान्त देव-दानव को भी त्याग, तप एवं प्रेम के दृढ़ साधन से मनोनुकूल बना पाता है। वन में निर्भय गर्जन करने वाला केशरी सर्कस में मास्टर के संकेत पर क्यों खेलता है? मानव की यह कौन-सी शक्ति है जिससे सिंह, सर्प जैसे भयावने प्राणी भी उससे डरते हैं। यह साधना का ही बल है। संक्षेप में साधना को दो भागों में बांट सकते हैं—लोक साधना और लोकोत्तर साधना। देश-साधना, मंत्र-साधना, तन्त्र-साधना विद्या-साधना आदि काम निमित्तक की जाने वाली सभी साधनाएँ लौकिक और धर्म तथा मोक्ष के लिये की जाने वाली साधना लोकोत्तर या आध्यात्मिक कही जाती है। हमें यहाँ उस अध्यात्म-साधना पर ही विचार करना है, क्योंकि जैन-साधना अध्यात्म साधना का ही प्रमुख अंग है।

जैन साधना—आस्तिक दर्शकों ने दृश्यमान् तन-धन आदि जड़ जगत् से चेतनासम्पन्न आत्मा को भिन्न और स्वतंत्र माना है। अनन्तानन्त शक्ति सम्पन्न होकर भी आत्मा कर्म संयोग से, स्वरूप से च्युत हो चुका है। उसकी अनन्त शक्ति पराधीन हो चली है। वह अपने मूल धर्म को भूल कर दुःखी, विकल औ चिन्तामग्न दृष्टिगोचर होता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म का आवर दूर हो जाय तो जीव और शिव में, आत्मा एवं परमात्मा में कोई भेद रहता।

कर्म के पाश में बंधे हुए आत्मा को मुक्त करना प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों का लक्ष्य है, साध्य है। उसका साधन धर्म ही हो सकता है, जैसा कि 'सूक्ति मुक्तावली' में कहा है—

> "त्रिवर्ग संसाधनमन्तरेण, पशोरिवायु विफलं नरस्य ।
> तत्राऽपि धर्मं प्रवरं वदन्ति, नतं विनोयद् भवतोर्थकामौ ।।"

पशु की तरह निष्फल है। इनमें भी धर्म मुख्य है, क्योंकि उसके विना अर्थ एवं काम सुख रूप नहीं होते। धर्म साधना से मुक्ति को प्राप्त करने का उपदेश सब दर्शनों ने एक-सा दिया है। कुछ ने तो धर्म का लक्षण ही अभ्युदय एवं निश्रेयस, मोक्ष की सिद्धि माना है। कहा भी है—'यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धि रसौ धर्म' परन्तु उनकी साधना का मार्ग भिन्न है। कोई 'भक्ति रे कैव मुक्तिदा' कहकर भक्ति को ही मुक्ति का साधन कहते हैं। दूसरे 'शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः संसिद्धि लभते नर' शब्द ब्रह्म में निष्णात पुरुष की सिद्धि बतलाते हैं, जैसा कि सांख्य आचार्य ने भी कहा है—

> "पंच विंशति तत्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः ।
> जटी मुंडी शिखी वाऽपि, मुच्यते नाम संशयः ।।"

अर्थात् पच्चीस तत्त्व की जानकारी रखने वाला साधक किसी भी आश्रम में और किसी भी अवस्था में मुक्त हो सकता है। मीमांसकों ने कर्मकाण्ड को ही मुख्य माना है। इस प्रकार किसी ने ज्ञान को, किसी ने एकान्त कर्मकाण्ड-क्रिया को, तो किसी ने केवल भक्ति को ही सिद्धि का कारण माना है, परन्तु वीतराग अर्हन्तों का दृष्टिकोण इस विषय में भिन्न रहा है। उनका मन्तव्य है कि एकान्त ज्ञान या क्रिया से सिद्धि नहीं होती, पूर्ण सिद्धि के लिये ज्ञान, श्रद्धा और चरण-क्रिया का संयुक्त आराधन आवश्यक है। केवल अकेला ज्ञान गति हीन है, तो केवल अकेली क्रिया अन्धी है, अतः कार्य-साधक नहीं हो सकते। जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है—'हयं नाणं क्रिया हीणं हया अन्नाणओ क्रिया।' वास्तव में क्रियाहीन ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों सिद्धि में असमर्थ होने से व्यर्थ हैं। ज्ञान से चक्षु की तरह मार्ग-कुमार्ग का बोध होता है, गति नहीं मिलती। बिना गति के आँखों से रास्ता देख लेने भर से इष्ट स्थान की प्राप्ति नहीं होती। मोदक का थाल आँखों के सामने है, फिर भी विना खाये भूख नहीं मिटती। वैसे ही ज्ञान से तत्वातत्त्व और मार्ग-कुमार्ग का बोध होने पर भी तदनुकूल आचरण नहीं किया तो सिद्धि नहीं मिलती। ऐसे ही क्रिया है, कोई दौड़ता है, पर मार्ग का ज्ञान नहीं तो वह भी भटक जायगा। ज्ञान शून्य क्रिया भी घाणी के बैल की तरह भव-चक्र से मुक्त नहीं कर पाती। अतः शास्त्रकारों ने कहा है—'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः'। ज्ञान और क्रिया के संयुक्त साधन से ही

सिद्धि हो सकती है। बिना ज्ञान की क्रिया—बाल तप मात्र हो सकती है, साधना नहीं। जैनागमों में कहा है—

"नाणेण जाणइ भावं, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेणं परिसुज्झइ।।"

अर्थात्—ज्ञान के द्वारा जीवाजीवादि भावों को जानना, हेय और उपादेय पहचानना, दर्शन से तत्वातत्त्व यथार्थ श्रद्धान करना, चारित्र से आने वाले रागादि विकार और तज्जन्य कर्म दलिकों को रोकना एवं तपस्या से पूर्व संचित कर्मों को क्षय करना, यही संक्षेप में मुक्ति मार्ग या आत्म-शुद्धि की साधना है।

आत्मा अनन्त ज्ञान, श्रद्धा, शक्ति और आनन्द का भंडार होकर भी अल्पज्ञ, निर्बल, अशक्त और शोकाकुल एवं विश्वासहीन बना हुआ है। हमारा साध्य उसके ज्ञान, श्रद्धा और आनन्द गुण को प्रकट करना है। अज्ञान एवं मोह के आवरण को दूर कर आत्मा के पूर्णज्ञान तथा वीतराग भाव को प्रकट करना है। इसके लिये अन्धकार मिटाने के लिये प्रकाश की तरह अज्ञान को ज्ञान से नष्ट करना होगा और बाह्य-आभ्यान्तर चारित्र भाव से मोह को निर्मूल करना होगा। पूर्ण द्रष्टा सन्तों ने कहा—साधको! अज्ञान और राग-द्वेषादि विकार आत्मा में सहज नहीं हैं। ये कर्म-संयोग से उत्पन्न पानी में मल और दाहकता की तरह विकार हैं। अग्नि और मिट्टी का संयोग मिलते ही जैसे पानी अपने शुद्ध रूप में आ जाता है, वैसे ही कर्म-संयोग के छूटने पर अज्ञान एवं राग-द्वेषादि विकार भी आत्मा से छूट जाते हैं, आत्मा अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। इसका सीधा, सरल और अनुभूत मार्ग यह है कि पहले नवीन कर्म मल को रोका जाय, फिर संचित मल को क्षीण करने का साधन करें, क्योंकि जब तक नये दोष होते रहेंगे—कर्म-मल बढ़ता रहेगा और उस स्थिति में संचित को क्षीण करने की साधना सफल नहीं होगी। अतः आने वाले कर्म-मल को रोकने के लिये प्रथम हिंसा आदि पाप वृत्तियों से तन-मन और वाणी का संवरण रूप संयम किया जाय और फिर अनशन, स्वाध्याय, ध्यान आदि बाह्य और अन्तरंग तप किये जायं तो संचित कर्मों का क्षय सरलता से हो सकेगा।

आचार-साधना—शास्त्र में चारित्र-साधना के अधिकारी भेद से साधना के दो प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं—१. देशविरति साधना और २. सर्वविरति साधना। प्रथम प्रकार की साधना आरम्भ-परिग्रह वाले गृहस्थ की होती है। सम्पूर्ण हिंसादि पापों के त्याग की असमर्थ दशा में गृहस्थ हिंसा आदि पापों का आंशिक त्याग करता है। मर्यादाशील जीवन की साधना करते हुये भी पूर्ण हिंसा आदि पापों का त्याग करना वह इष्ट मानता है, पर सांसारिक विक्षेप कारण वैसा कर नहीं पाता। इसे वह अपनी कमजोरी मानता है। अर्थ व का सेवन करते हुये भी वह जीवन में धर्म को प्रमुख समझकर चलता है।

भी अर्थ और काम से धर्म को ठेस पहुँचती हो, वहाँ वह इच्छा का संवरण कर लेता है। मासिक छः दिन पौषध और प्रतिदिन सामायिक की साधना से गृहस्थ भी अपना आत्म-बल बढ़ाने का प्रयत्न करे और प्रतिक्रमण द्वारा प्रातः सायं अपनी दिनचर्या का सूक्ष्म रूप से अवलोकन कर अहिंसा आदि व्रतों में लगे हुए, दोषों की शुद्धि करता हुआ आगे बढ़ने की कोशिश करे, यह गृहस्थ जीवन की साधना है।

अन्य दर्शनों में गृहस्थ का देश साधना का ऐसा विधान नहीं मिलता, उसके नीति धर्म का अवश्य उल्लेख है, पर गृहस्थ भी स्थूल रूप से हिंसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह की मर्यादा करें, ऐसा वर्णन नहीं मिलता। वहाँ कृषि-पशुपालन को वैश्यधर्म, हिंसक प्राणियों को मार कर जनता को निर्भय करना क्षत्रिय धर्म, कन्यादान आदि रूप से संसार की प्रवृत्तियों को भी धर्म कहा है, जबकि जैन धर्म ने अनिवार्य स्थिति में की जाने वाली हिंसा और कन्यादान एवं विवाह आदि को धर्म नहीं माना है। वीतराग ने कहा—मानव ! धन-दारा-परिवार और राज्य पाकर भी अनावश्यक हिंसा, असत्य और संग्रह से बचने की चेष्टा करना, विवाहित होकर स्वपत्नी या पति के साथ सन्तोष या मर्यादा रखोगे, जितना कुशील भाव घटाओगे, वही धर्म है। अर्थ-संग्रह करते अनीति से बचोगे और लालसा पर नियन्त्रण रखोगे, वह धर्म है। युद्ध में भी हिंसा भाव से नहीं, किन्तु आत्म रक्षा या न्याय की दृष्टि से यथाशक्य युद्ध टालने की कोशिश करना और विवश स्थिति में होने वाली हिंसा को भी हिंसा मानते हुए रसानुभूति नहीं करना अर्थात् मार कर भी हर्ष एवं गर्वानुभूति नहीं करना, यह धर्म है। घर के आरम्भ में परिवार पालन, अतिथि तर्पण या समाज रक्षण कार्य में भी दिखावे की दृष्टि नहीं रखते हुए अनावश्यक हिंसा से बचना धर्म है। गृहस्थ का दण्ड-विधान कुशल प्रजापति की तरह है, जो भीतर में हाथ रख कर बाहर चोट मारता है। गृहस्थ संसार के आरम्भ-परिग्रह में दर्शक की तरह रहता है, भोक्ता रूप में नहीं।

'असंतुष्टा द्विजानष्टाः, सन्तुष्टाश्च मही भुजः' की उक्ति से अन्यत्र राजा का सन्तुष्ट रहना दूषण बतलाया गया है, वहाँ जैन दर्शन ने राजा को भी अपने राज्य में सन्तुष्ट रहना कहा है। गणतन्त्र के अध्यक्ष चेटक महाराज और उदयन जैसे राजाओं ने भी इच्छा परिमाण कर संसार में शान्ति कायम रखने की स्थिति में अनुकरणीय चरण बढ़ाये थे। देश संयम द्वारा जीवन-सुधार करते हुए मरण-सुधार द्वारा आत्म-शक्ति प्राप्त करना गृहस्थ का भी चरम एवं परम लक्ष्य होता है।

सर्वविरति साधना—सम्पूर्ण आरम्भ और कनकादि परिग्रह के त्यागी मुनि की साधना पूर्ण साधना है। जैन मुनि एवं आर्या को मन, वाणी एवं काय

से सम्पूर्ण हिंसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह आदि पापों का त्याग होता है। स्वयं किसी प्रकार के पाप का सेवन करना नहीं, अन्य से नहीं करवाना और हिंसादि पाप करने वाले का अनुमोदन भी करना नहीं, यह मुनि जीवन की पूर्ण साधना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जैसे सूक्ष्म जीवों की भी जिसमें हिंसा हो, वैसे कार्य वह त्रिकरण त्रियोग से नहीं करता। गृहस्थ अपने लिए आग जला कर तप रहे हैं, यह कह कर वह कड़ी सर्दी में भी वहाँ तपने को नहीं बैठता। गृहस्थ के लिए सहज चलने वाली गाड़ी का भी वह उपयोग नहीं करता और जहाँ रात भर दीपक या अग्नि जलती हो, वहाँ नहीं ठहरता। उसकी अहिंसा पूर्ण कोटि की साधना है। वह सर्वथा पाप कर्म का त्यागी होता है।

फिर भी जब तक रागदशा है, साधना की ज्योति टिमटिमाते दीपक की तरह अस्थिर होती है। जरा से झोंके में उसके गुल होने का खतरा है। हवादार मैदान के दीपक की तरह उसे विषय-कषाय एवं प्रमाद के तेज झटके का भय रहता है। एतदर्थ सुरक्षा हेतु आहार-विहार-संसर्ग और संयमपूर्ण दिनचर्या की कांच भित्ति में साधना के दीपक को मर्यादित रखा जाता है।

साधक को अपनी मर्यादा में सतत जागरूक तथा आत्म निरीक्षक होकर चलने की आवश्यकता है। वह परिमित एवं निर्दोष आहार ग्रहण करे और अपने से हीन गुणी की संगति नहीं करे। साध्वी का पुरुष मण्डल से और साधु का स्त्री जनों से एकान्त तथा अमर्यादित संग न हो, क्योंकि अतिपरिचय साधना में विक्षेप का कारण होता है। सर्व विरति साधकों के लिए शास्त्र में कहा है—

"गिहि संथवं न कुज्जा, कुज्जा साहुहि संथवं।"

साधनाशील पुरुष संसारी जनों का अधिक संग-परिचय न करे, वह साधक जनों का ही संग करे। इससे साधक को साधना में बल मिलेगा और संसार के काम, क्रोध, मोह के वातावरण से वह बचा रह सकेगा। साधना में आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि साधक महिमा, व्यक्ति पूजा और अहंकार से दूर रहे।

साधना के सहायक—जैनाचार्यों ने साधना के दो कारण माने हैं—अन्तरंग और बहिरंग। देव, गुरु, सत्संग, शास्त्र और स्वरूप शरीर एवं शान्त, एकान्त स्थान आदि को बहिरंग साधन माना है, जिसको निमित्त कहते हैं। बहिरंग साधन बदलते रहते हैं। प्रशान्त मन और ज्ञानावरण का क्षयोपशम अन्तर साधन है। इसे अनिवार्य माना गया है। शुभ वातावरण में आन्तरिक साधन अनायस जागृत होता और क्रियाशील रहता है, पर बिना मन की अनुकूलता के वे कार्यकारी नहीं होते। भगवान् महावीर का उपदेश पाकर कूणिक अपनी बढ़ी हुई लालसा को शान्त नहीं कर सका, कारण अन्तर स

भी अर्थ और काम से धर्म को ठेस पहुँचती हो, वहाँ वह इच्छा का संवरण कर लेता है। मासिक छः दिन पौषध और प्रतिदिन सामायिक की साधना से गृहस्थ भी अपना आत्म-बल बढ़ाने का प्रयत्न करे और प्रतिक्रमण द्वारा प्रातः सायं अपनी दिनचर्या का सूक्ष्म रूप से अवलोकन कर अहिंसा आदि व्रतों में लगे हुए, दोषों की शुद्धि करता हुआ आगे बढ़ने की कोशिश करे, यह गृहस्थ जीवन की साधना है।

अन्य दर्शनों में गृहस्थ का देश साधना का ऐसा विधान नहीं मिलता, उसके नीति धर्म का अवश्य उल्लेख है, पर गृहस्थ भी स्थूल रूप से हिंसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह की मर्यादा करें, ऐसा वर्णन नहीं मिलता। वहाँ कृषि-पशुपालन को वैश्यधर्म, हिंसक प्राणियों को मार कर जनता को निर्भय करना क्षत्रिय धर्म, कन्यादान आदि रूप से संसार की प्रवृत्तियों को भी धर्म कहा है, जबकि जैन धर्म ने अनिवार्य स्थिति में की जाने वाली हिंसा और कन्यादान एवं विवाह आदि को धर्म नहीं माना है। वीतराग ने कहा—मानव! धन-दारा-परिवार और राज्य पाकर भी अनावश्यक हिंसा, असत्य और संग्रह से बचने की चेष्टा करना, विवाहित होकर स्वपत्नी या पति के साथ सन्तोष या मर्यादा रखोगे, जितना कुशील भाव घटाओगे, वही धर्म है। अर्थ-संग्रह करते अनीति से बचोगे और लालसा पर नियन्त्रण रखोगे, वह धर्म है। युद्ध में भी हिंसा भाव से नहीं, किन्तु आत्म रक्षा या न्याय की दृष्टि से यथाशक्य युद्ध टालने की कोशिश करना और विवश स्थिति में होने वाली हिंसा को भी हिंसा मानते हुए रसानुभूति नहीं करना अर्थात् मार कर भी हर्ष एवं गर्वानुभूति नहीं करना, यह धर्म है। घर के आरम्भ में परिवार पालन, अतिथि तर्पण या समाज रक्षण कार्य में भी दिखावे की दृष्टि नहीं रखते हुए अनावश्यक हिंसा से बचना धर्म है। गृहस्थ का दण्ड-विधान कुशल प्रजापति की तरह है, जो भीतर में हाथ रख कर बाहर चोट मारता है। गृहस्थ संसार के आरम्भ-परिग्रह में दर्शक की तरह रहता है, भोक्ता रूप में नहीं।

'असंतुष्टा द्विजानष्टाः, सन्तुष्टाश्च मही भुजः' की उक्ति से अन्यत्र राजा का सन्तुष्ट रहना दूषण बतलाया गया है, वहाँ जैन दर्शन ने राजा को भी अपने राज्य में सन्तुष्ट रहना कहा है। गणतन्त्र के अध्यक्ष चेटक महाराज और उदयन जैसे राजाओं ने भी इच्छा परिमाण कर संसार में शान्ति कायम रखने की स्थिति में अनुकरणीय चरण बढ़ाये थे। देश संयम द्वारा जीवन-सुधार करते हुए मरण-सुधार द्वारा आत्म-शक्ति प्राप्त करना गृहस्थ का भी चरम एवं परम लक्ष्य होता है।

सर्वविरति साधना—सम्पूर्ण आरम्भ और कनकादि परिग्रह के त्यागी मुनि की साधना पूर्ण साधना है। जैन मुनि एवं आर्या को मन, वाणी एवं काय

से सम्पूर्ण हिंसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह आदि पापों का त्याग होता है। स्वयं किसी प्रकार के पाप का सेवन करना नहीं, अन्य से नहीं करवाना और हिंसादि पाप करने वाले का अनुमोदन भी करना नहीं, यह मुनि जीवन की पूर्ण साधना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जैसे सूक्ष्म जीवों की भी जिसमें हिंसा हो, वैसे कार्य वह त्रिकरण त्रियोग से नहीं करता। गृहस्थ अपने लिए आग जला कर तप रहे हैं, यह कह कर वह कड़ी सर्दी में भी वहाँ तपने को नहीं बैठता। गृहस्थ के लिए सहज चलने वाली गाड़ी का भी वह उपयोग नहीं करता और जहाँ रात भर दीपक या अग्नि जलती हो, वहाँ नहीं ठहरता। उसकी अहिंसा पूर्ण कोटि की साधना है। वह सर्वथा पाप कर्म का त्यागी होता है।

फिर भी जब तक रागदशा है, साधना की ज्योति टिमटिमाते दीपक की तरह अस्थिर होती है। जरा से झोंके में उसके गुल होने का खतरा है। हवादार मैदान के दीपक की तरह उसे विषय-कषाय एवं प्रमाद के तेज झटके का भय रहता है। एतदर्थ सुरक्षा हेतु आहार-विहार-संसर्ग और संयमपूर्ण दिनचर्या की कांच भित्ति में साधना के दीपक को मर्यादित रखा जाता है।

साधक को अपनी मर्यादा में सतत जागरूक तथा आत्म निरीक्षक होकर चलने की आवश्यकता है। वह परिमित एवं निर्दोष आहार ग्रहण करे और अपने से हीन गुणी की संगति नहीं करे। साध्वी का पुरुष मण्डल से और साधु का स्त्री जनों से एकान्त तथा अमर्यादित संग न हो, क्योंकि अतिपरिचय साधना में विक्षेप का कारण होता है। सर्व विरति साधकों के लिए शास्त्र में कहा है—

"मिहि संथवं न कुन्जा, कुज्जा साहुहि संथवं।"

साधनाशील पुरुष संसारी जनों का अधिक संग-परिचय न करे, वह साधक जनों का ही संग करे। इससे साधक को साधना में बल मिलेगा और संसार के काम, क्रोध, मोह के वातावरण से वह बचा रह सकेगा। साधना में आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि साधक महिमा, व्यक्ति पूजा और अहंकार से दूर रहे।

साधना के सहायक—जैनाचार्यों ने साधना के दो कारण माने हैं—अन्तरंग और बहिरंग। देव, गुरु, सत्संग, शास्त्र और स्वरूप शरीर एवं शान्त, एकान्त स्थान आदि को बहिरंग साधन माना है, जिसको निमित्त कहते हैं। बहिरंग साधन बदलते रहते हैं। प्रशान्त मन और ज्ञानावरण का क्षयोपशम अन्तर साधन है। इसे अनिवार्य माना गया है। शुभ वातावरण में आन्तरिक साधन अनायस जागृत होता और क्रियाशील रहता है, पर बिना अनुकूलता के वे कार्यकारी नहीं होते। भगवान् महावीर का उपदेश। कूणिक अपनी बढ़ी हुई लालसा को शान्त नहीं कर सका, कारण अन्त

भी अर्थ और काम से धर्म को ठेस पहुँचती हो, वहाँ वह इच्छा का संवरण कर लेता है। मासिक छः दिन पौषध और प्रतिदिन सामायिक की साधना से गृहस्थ भी अपना आत्म-बल बढ़ाने का प्रयत्न करे और प्रतिक्रमण द्वारा प्रातः सायं अपनी दिनचर्या का सूक्ष्म रूप से अवलोकन कर अहिंसा आदि व्रतों में लगे हुए, दोषों की शुद्धि करता हुआ आगे बढ़ने की कोशिश करे, यह गृहस्थ जीवन की साधना है।

अन्य दर्शनों में गृहस्थ का देश साधना का ऐसा विधान नहीं मिलता, उसके नीति धर्म का अवश्य उल्लेख है, पर गृहस्थ भी स्थूल रूप से हिंसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह की मर्यादा करें, ऐसा वर्णन नहीं मिलता। वहाँ कृषि-पशुपालन को वैश्यधर्म, हिंसक प्राणियों को मार कर जनता को निर्भय करना क्षत्रिय धर्म, कन्यादान आदि रूप से संसार की प्रवृत्तियों को भी धर्म कहा है, जबकि जैन धर्म ने अनिवार्य स्थिति में की जाने वाली हिंसा और कन्यादान एवं विवाह आदि को धर्म नहीं माना है। वीतराग ने कहा—मानव ! धन-दारा-परिवार और राज्य पाकर भी अनावश्यक हिंसा, असत्य और संग्रह से बचने की चेष्टा करना, विवाहित होकर स्वपत्नी या पति के साथ सन्तोष या मर्यादा रखोगे, जितना कुशील भाव घटाओगे, वही धर्म है। अर्थ-संग्रह करते अनीति से बचोगे और लालसा पर नियन्त्रण रखोगे, वह धर्म है। युद्ध में भी हिंसा भाव से नहीं, किन्तु आत्म रक्षा या न्याय की दृष्टि से यथाशक्य युद्ध टालने की कोशिश करना और विवश स्थिति में होने वाली हिंसा को भी हिंसा मानते हुए रसानुभूति नहीं करना अर्थात् मार कर भी हर्ष एवं गर्वानुभूति नहीं करना, यह धर्म है। घर के आरम्भ में परिवार पालन, अतिथि तर्पण या समाज रक्षण कार्य में भी दिखावे की दृष्टि नहीं रखते हुए अनावश्यक हिंसा से बचना धर्म है। गृहस्थ का दण्ड-विधान कुशल प्रजापति की तरह है, जो भीतर में हाथ रख कर बाहर चोट मारता है। गृहस्थ संसार के आरम्भ-परिग्रह में दर्शक की तरह रहता है, भोक्ता रूप में नहीं।

'असंतुष्टा द्विजानष्टाः, सन्तुष्टाश्च मही भुजः' की उक्ति से अन्यत्र राजा का सन्तुष्ट रहना दूषण बतलाया गया है, वहाँ जैन दर्शन ने राजा को भी अपने राज्य में सन्तुष्ट रहना कहा है। गणतन्त्र के अध्यक्ष चेटक महाराज और उदयन जैसे राजाओं ने भी इच्छा परिमाण कर संसार में शान्ति कायम रखने की स्थिति में अनुकरणीय चरण बढ़ाये थे। देश संयम द्वारा जीवन-सुधार करते हुए मरण-सुधार द्वारा आत्म-शक्ति प्राप्त करना गृहस्थ का भी चरम एवं परम लक्ष्य होता है।

सर्वविरति साधना—सम्पूर्ण आरम्भ और कनकादि परिग्रह के त्यागी मुनि की साधना पूर्ण साधना है। जैन मुनि एवं आर्या को मन, वाणी एवं काय

से सम्पूर्ण हिंसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह आदि पापों का त्याग होता है। स्वयं किसी प्रकार के पाप का सेवन करना नहीं, अन्य से नहीं करवाना और हिंसादि पाप करने वाले का अनुमोदन भी करना नहीं, यह मुनि जीवन की पूर्ण साधना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जैसे सूक्ष्म जीवों की भी जिसमें हिंसा हो, वैसे कार्य वह त्रिकरण त्रियोग से नहीं करता। गृहस्थ अपने लिए आग जला कर तप रहे हैं, यह कह कर वह कड़ी सर्दी में भी वहाँ तपने को नहीं बैठता। गृहस्थ के लिए सहज चलने वाली गाड़ी का भी वह उपयोग नहीं करता और जहाँ रात भर दीपक या अग्नि जलती हो, वहाँ नहीं ठहरता। उसकी अहिंसा पूर्ण कोटि की साधना है। वह सर्वथा पाप कर्म का त्यागी होता है।

फिर भी जब तक रागदशा है, साधना की ज्योति टिमटिमाते दीपक की तरह अस्थिर होती है। जरा से झोंके में उसके गुल होने का खतरा है। हवादार मैदान के दीपक की तरह उसे विषय-कषाय एवं प्रमाद के तेज झटके का भय रहता है। एतदर्थ सुरक्षा हेतु आहार-विहार-संसर्ग और संयमपूर्ण दिनचर्या की कांच भित्ति में साधना के दीपक को मर्यादित रखा जाता है।

साधक को अपनी मर्यादा में सतत जागरूक तथा आत्म निरीक्षक होकर चलने की आवश्यकता है। वह परिमित एवं निर्दोष आहार ग्रहण करे और अपने से हीन गुणी की संगति नहीं करे। साध्वी का पुरुष मण्डल से और साधु का स्त्री जनों से एकान्त तथा अमर्यादित संग न हो, क्योंकि अतिपरिचय साधना में विक्षेप का कारण होता है। सर्व विरति साधकों के लिए शास्त्र में कहा है—

"मिहि संथवं न कुन्जा, कुज्जा साहुहि संथवं।"

साधनाशील पुरुष संसारी जनों का अधिक संग-परिचय न करे, वह साधक जनों का ही संग करे। इससे साधक को साधना में बल मिलेगा और संसार के काम, क्रोध, मोह के वातावरण से वह बचा रह सकेगा। साधना में आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि साधक महिमा, व्यक्ति पूजा और अहंकार से दूर रहे।

साधना के सहायक—जैनाचार्यों ने साधना के दो कारण माने हैं—अन्तरंग और बहिरंग। देव, गुरु, सत्संग, शास्त्र और स्वरूप शरीर एवं शान्त, एकान्त स्थान आदि को वहिरंग साधन माना है, जिसको निमित्त कहते हैं। वहिरंग साधन बदलते रहते हैं। प्रशान्त मन और ज्ञानावरण का क्षयोपशम अन्तर साधन है। इसे अनिवार्य माना गया है। शुभ वातावरण में आन्तरिक साधन अनायस जागृत होता और क्रियाशील रहता है, पर विना मन की अनुकूलता के वे कार्यकारी नहीं होते। भगवान् महावीर का उपदेश पाकर भी कूणिक अपनी बढ़ी हुई लालसा को शान्त नहीं कर सका, कारण अन्तर साधन

प्रशान्त मन नहीं था। सामान्य रूप से साधना की प्रगति के लिए स्वस्थ-समर्थ-तन, शान्त एकान्त स्थान, विघ्न रहित अनुकूल समय, सबल और निर्मल मन तथा शिथिल मन को प्रेरित करने वाले गुणाधिक योग्य साथी की नितान्त आवश्यकता रहती है। जैसा कि कहा है—

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा, विवज्जणा बाल जणस्स दूरा ।
सज्झाय एगंत निसेवणाय, सुत्तत्थ संचितण या धिईय ॥"

इसमें गुरु और वृद्ध पुरुषों की सेवा तथा एकान्त सेवन को बाह्य साधन और स्वाध्याय, सूत्रार्थ चिन्तन एवं धर्म को अन्तर साधन कहा है। अधीर मन वाला साधक सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। जैन साधना के साधक को सच्चे सैनिक की तरह विजय-साधना में शंका, कांक्ष रहित, धीर-वीर, जीवन-मरण में निस्पृह और दृढ़ संकल्प बली होना चाहिये। जैसे वीर सैनिक, प्रिय पुत्र, कलत्र का स्नेह भूलकर जीवन-निरपेक्ष समर भूमि में कूद पड़ता है, पीछे क्या होगा, इसकी उसे चिन्ता नहीं होती। वह आगे कूच का ही ध्यान रखता है। वह दृढ़ लक्ष्य और अचल मन से यह सोचकर बढ़ता है कि—"जितो वा लभ्यसे राज्यं, मृत: स्वर्ग स्वप्स्यसे। उसकी एक ही धुन होती है—

"सूरा चढ़ संग्राम में, फिर पाछो मत जोय ।
उतर जा चौगान में, कर्ता करे सो होय ॥"

वैसे साधना का सेनानी साधक भी परिषह और उपसर्ग का भय किये बिना निराकुल भाव से वीर गजसुकुमाल की तरह भय और लालच को छोड़ एक भाव से जूझ पड़ता है। जो शंकालु होता है, उसे सिद्धि नहीं मिलाती। विघ्नों की परवाह किये बिना 'कार्यं व साधवेयं देहं वापात येयम्' के अटल विश्वास से साहसपूर्वक आगे बढ़ते जाना ही जैन साधक का व्रत है। वह 'कंखे गुणे जाव सरीर भेओ' वचन के अनुसार आजीवन गुणों का संग्रह एवं आराधन करते जाता है।

साधना के विघ्न—साधन की तरह कुछ साधक के बाधक विघ्न या शत्रु भी होते हैं, जो साधक के आन्तरिक बल को क्षीण कर उसे मेरु के शिखर से नीचे गिरा देते हैं। वे शत्रु कोई देव, दानव नहीं, पर भीतर के ही मानसिक विकार हैं। विश्वामित्र को इन्द्र की दैवी शक्ति ने नहीं गिराया, गिराया उसके भीतर के राग ने। संभूति मुनि ने तपस्या से लब्धि प्राप्त कर ली, उसका तप बड़ा कठोर था। नमुचि मन्त्री उन्हें निर्वासित करना चाहता, पर नहीं कर सका। सम्राट् सनत्कुमार को अन्त:पुर सहित आकर इसके लिये क्षमा याचना करनी पड़ी, परन्तु रानी के कोमल स्पर्श और चक्रवर्ती के ऐश्वर्य में जब राग किया, तब वे भी पराजित हो गये। अत: साधक को काम, क्रोध, लोभ, भय और अहंकार से सतत जागरूक रहना चाहिये। ये हमारे भयंकर शत्रु हैं। भक्तों का सन्मान और अभिवादन रमणीय-हितकर भी हलाहल विष का काम करेगा। □

[२]

जैन आगमों में सामायिक

सामायिक का महत्त्व :

जैन धर्म में 'सामायिक' प्रतिक्रमण का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। तीर्थंकर भगवान भी जब साधना-मार्ग में प्रवेश करते हैं तो सर्वप्रथम सामायिक चारित्र स्वीकार करते हैं। जैसे आकाश सम्पूर्ण चराचर वस्तुओं का आधार है, वैसे ही सामायिक चरण करणादि गुणों का आधार है, कहा भी है :—

'सामायिकं गुणना-माधारः खमिव सर्व भावानाम्।
नहीं सामायिक हीना-श्चरणादिगुणान्विता येन ॥१॥'

बिना समत्व के संयम या तप के गुण टिक नहीं सकते। हिंसादि दोष सामायिक में सहज ही छोड़ दिये जाते हैं। अतः आत्मस्वरूप को पाने की इसे मुख्य सीढ़ी कह सकते हैं। भगवती सूत्र में स्पष्ट कहा है कि—

'आया खलु सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे।'

अर्थात् आत्मा ही सामायिक है और आत्मा (आत्म-स्वरूप की प्राप्ति) ही सामायिक का प्रयोजन है।

सामायिक शब्द का अर्थ :

सामायिक शब्द की रचना 'सम' और 'आय' इन दो पदों से हुई है।

प्राकृत के 'सामाइय' पद के संस्कृत में अनेक रूप होते हैं। 'समाय' 'शमाय' और 'सामाय' तथा 'सम आय' से भी सामायिक रूप बनता है। फिर 'समये भवं' अथवा 'समये अयनं समायः' इस व्युत्पत्ति से भी सामायिक बनता है। सामायिक के निम्नलिखित अर्थ हो सकते हैं—

(१) 'सम' याने राग द्वेष रहित मनः स्थिति और 'आय' का अर्थ लाभ— अर्थात् सम भाव का जिससे लाभ हो, वह क्रिया।

(२) 'शम' से समाय बनता है। 'शम' का अर्थ है—कषायों का उपशम; जिसमें क्रोधादि कषायों का उपशम हो, वह शामायिक।

(३) 'समे अयनं समाय:' समभाव में पहुँचने या जाने को भी सामायिक कहते हैं।

(४) 'सामे अयनं सामस्य वा आय:–सामाय:' अर्थात् मैत्री भाव में जाना, या मैत्री-भाव मिलाने का कार्य।

(५) सम–को सम्यग् अर्थ में मानकर भी समाय* बनाया जाता है। इसका अर्थ है—सम्यग् ज्ञानादि रत्नत्रय के आय का साधन।

(६) 'समये भवं' अथवा 'समये अयनं' इस व्युत्पत्ति से सामायिक रूप होता है। यहां समय का अर्थ काल की तरह सम्यग् आचार या आत्म-स्वरूप है। मर्यादानुसार चलना अथवा आत्म-स्वभाव में जाना भी सामायिक है।

सामायिक का दूसरा नाम 'सावद्य योगविरति' है। रागद्वेष रहित दशा में साधक हिंसा, झूठ, चोर, कुशील और परिग्रह आदि सम्पूर्ण पापों का त्याग करता है, उसकी प्रतिज्ञा होती है, 'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'—सावद्य योग का त्याग।

सामायिक के विभिन्न प्रकार :

साधक की दृष्टि से सामायिक के दो एवं तीन प्रकार भी किये गये हैं। 'स्थानाँग सूत्र' में आगार सामायिक और अनगार सामायिक दो भेद हैं। आचार्यों ने तीन एवं चार प्रकार भी बतलाये हैं, जैसे कहा है—

'सामाइयं च तिविहं; सम्मत्त सुअं तहा चरित्तं च।
दुविहं चैव चरित्तं, आगार मणगारियं चेव' आ० ७९५॥

सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक और चारित्र सामायिक-ये सामायिक के तीन प्रकार हैं। आगार, अनगार भेद से चारित्र सामायिक के दो भेद होते हैं। सम्यक्त्व की स्थिति में साधक वस्तु-स्वरूप का ज्ञाता होने से राग, द्वेप में नहीं उलझता। भरत महाराज ने अपने अपवाद करने वालों को भी तेल का कटोरा देकर शिक्षित किया। पर उस पर राग-द्वेप की परिणति नहीं आने दी। यह सम्यक्त्व सामायिक है। निसर्ग और उपदेश से प्राप्त होने की अपेक्षा इसके दो भेद हैं। उपशम, सासादन, वेदक, क्षयोपशम और क्षायिक भेद से पाँच, निसर्ग आदि रुचि भेद से दस, क्षायिक-औपशमिक क्षाय-पशमिक भेद से तीन तथा कारक, रोचकर और दीपक भेद से भी सामायिक के तीन प्रकार

*समानां ज्ञानादीनामायो लाभः समाय सए व सामायिकम्—स्थानांगसूत्र।

हैं। जहां श्रद्धा पूर्वक सदनुष्ठान का आसेवन भी होता हो उसे कारक। जो श्रद्धा मात्र रखता हो, क्रिया नहीं करता वह रोचक और सम्यग् श्रद्धाहीन होकर भी जो दूसरों में तत्व श्रद्धा उत्पन्न करता हो—मरीचि की तरह धर्म-कथा आदि से अन्य को सम्यक् मार्ग की ओर प्रेरित करता हो, उसे दीपक सम्यक्त्व कहा है।

सम्यक्त्व सामायिक में यथार्थ तत्वश्रद्धान होता है। श्रुत सामायिक में जड़ चेतन का परिज्ञान होता है। सूत्र, अर्थ और तदुभय रूप से श्रुत के तीन अथवा अक्षर-अनक्षरादि क्रम से अनेक भेद हैं।

श्रुत से मन की विषमता गलती है, अतः श्रुताराधन को श्रुत सामायिक कहा है।

चारित्र सामायिक के आगार और अनगार दो प्रकार किये हैं। गृहस्थ के लिए मुहूर्त आदि प्रमाण से किया गया सावद्य-त्याग आगार सामायिक है। अनगार सामायिक में सम्पूर्ण सावद्य त्याग रूप पांच चारित्र जीवन भर के लिये होते हैं। आगार सामायिक में दो कारण तीन योग से हिंसादि पापों का नियत काल के लिये त्याग होता है, जब कि मुनि जीवन में हिंसादि पापों का तीन करण, तीन योग ने आजीवन त्याग होता है।

श्रावक अल्प काल के लिये पापों का त्याग करके भी श्रमण जीवन के लिये लालायित रहता है, वह निरन्तर यही भावना रखता है कि कब मैं आरम्भ-परिग्रह और विषय-कषाय का त्याग कर श्रमण-धर्म की पालना करूँ!

व्यावहारिक रूप :—जहाँ वीतराग दशा में शत्रु-मित्र पर समभाव रखना सामायिक का पारमार्थिक स्वरूप है, वहां सावद्य-योग का त्याग कर तप, नियम और संयम का साधन करना सामायिक का व्यवहार-पक्ष भी है। इसमें यम-नियम की साधना द्वारा साधक राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करता है। व्यवहार पक्ष परमार्थ की ओर बढ़ाने वाला होना चाहिये, इसलिये आचार्यों ने कहा है—

'जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे-नियमे तवे।
तस्स, सामाइयं होइ, इहकेवलिभासियं ।। आ० ९६ ।।

अर्थात् जिसकी आत्मा मूलगुण रूप संयम, उत्तर—गुण रूप नियम और तपस्या में समाहित है, वैसे अप्रमादी साधक को सम्पूर्ण सामायिक प्राप्त

होता है।" गृहस्थ-दान, शील, सेवा, पूजा और उपकार आदि करते हुये भी यदि सामायिक द्वारा आत्म-संयम प्राप्त नहीं करता है, तो वह सावद्य से नहीं बच पाता। अतः कहा गया है कि—

'सावज्ज—जोग—परिवज्जणट्ठा, सामाइअं केवलियं पसत्थं।
गिहत्थधम्मा परमंतिनच्चा, कुज्जा बुहो आयहियं परत्था ।।' ७९८

अर्थात् सावद्य योग से बचने के लिये सामायिक पूर्ण और प्रशस्त कार्य है इससे आत्मा पवित्र होती है। गृहस्थ धर्म से इसकी साधना ऊँची है—श्रेष्ठ है, ऐसा समझ कर बुद्धिमान, साधक को आत्महित और परार्थ—परलोक सुधार के लिये सामायिक का साधन करना आवश्यक है।

जो भी गृहस्थ तीन करण, तीन योग से सामायिक नहीं कर पाता, तब आत्महितार्थी गृहस्थ को दो करण, तीन योग से आगार सामायिक अवश्य करना चाहिये। क्योंकि वह भी विशिष्ट फल की साधक है। जैसा कि निर्युक्ति में कहा है—

'सामाइयम्मि उ कए, समणोइव सावओ हवइ जम्प्त।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।' ८०१ ।।

'सामायिक करने पर श्रावक श्रमण-साधु की तरह होता है, इसलिये गृहस्थ को समय-समय पर सामायिक का साधन करना चाहिये।'

सामायिक करने का दूसरा लाभ यह भी है कि गृहस्थ संसार के विविध प्रपंचों में विषय-कषाय और निद्रा विकथा आदि में निरन्तर पाप संचय करता रहता है। घड़ी भर उससे बचे और आत्म-शांति का अनुभव कर सके, क्योंकि सामायिक साधन से आत्मा मध्यस्थ होती है। कहा भी है—

'जीवो पमाय बहुलो, बहुसोऽविय बहु विहेसु अत्थेसु।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।' ८०२ ।।

जो लोग यह सोचते हैं कि मन शांत हो और राग-द्वेष मिटे, तभी सामायिक करना चाहिये। उसको सूत्रकार के वचनों पर गहराई से विचार करना चाहिये। आचार्य वार-वार करने का संकेत ही इसलिये करते हैं कि मनुष्य प्रमाद में निज गुण को भूले नहीं।

साधु की तरह होने के कारण व्रती गृहस्थ व्यवहार में सामायिक करता हुआ मुकुट, कुण्डल और नाम मुद्रादि भी हटा देता है।

सावद्य और आर्त, रौद्र रूप दुर्ध्यान रहित साधक का जो मुहूर्त भर समभाव रहता है इसी को सामायिक व्रत कहा गया है। जैसे कि—

'सावद्य कर्म—मुक्तस्य, दुर्ध्यान रहितस्य च।
समभावो मुहूर्तं तद्—व्रतं सामायिकं स्मृतम् ॥' धर्म० ३७॥

सामायिक में कोई यह नहीं समझ लें कि इसमें कोरा अकर्मण्य होकर बैठना है। व्रत में सदोष-प्रवृत्ति का त्याग और पठन-पाठन-प्रतिलेखन, प्रमार्जन, स्वाध्याय-ध्यान आदि निर्दोष कर्म का आसेवन भी होता है। सदोष कार्य से बचने के लिये निर्दोष में प्रवृत्तिशील रहना आवश्यक भी है, इसीलिये कहा है—

'सामाइयं नाम सावज्ज जोगपरि वज्जणं,
निखज्ज जो पडिसेवणं च।'

सामायिक का निरुक्त अर्थ :

सामायिक का निरुक्त अर्थ विभिन्न प्रकार से किया गया है, जैसा कि कहा है—

रागद्दोस विरहिओ, समोत्ति अयणं अओत्ति गमणं ति।
समगमणं ति समाओ, स एव सामाइयं नाम। ३४७७॥

अहवा समाइं सम्म-तं, नाण चरणाइं तेसु तेहि वा।
अयणं अओ समाओ, स एवं सामाइयं नाम। ३४७६॥

अहवा समस्सं आओ, गुणाण लाभोत्ति जो समाओ सो।
अहवा समस्त माओ, चेओ सामाइयं नाम। ३४८०॥

प्रकारान्तर से अर्थ करते हैं—प्राणिमात्र पर मैत्री भाव रूप साम में अयन-गमन अर्थात् साम्य भाव से रहना अथवा नाम का आय-लाभ जहां हो, वह भी सामायिक है। सम्यगाय का भी प्राकृत में सम्माय बनता है। इस दृष्टि से—सम्यग् भाव से रहना भी सामायिक है और साम्य भाव का जिससे आय लाभ होता हो. तो उसे सामायिक समझना चाहिये। देखिये कहा है—

अहवा सामं मित्ती, तत्थ अओ तेण होइ समाओ।
अहवा सामस्साओ, लाभो सामाइयं नाम ॥ ३४८१

सम्ममश्रो वा समश्रो, सामाइयं मुभय विट्ठि भावाश्रो ।
श्रहवा सम्मस्साओ, लाभो सामाइयं होइ ।। ३४८२ ।।

सामायिक : विभिन्न दृष्टियों में :

निश्चय दृष्टि—पूर्ण निश्चय दृष्टि से त्रस-स्थावर जीव मात्र पर सम भाव रखने वाले को ही सामायिक होता है, क्योंकि जब तक श्रात्म प्रदेशों से सर्वथा श्रकंपदशा प्राप्त नहीं होती—निश्चय में सम नहीं कहा जा सकता । कहा है—

जो समो सव्व भूएसु, तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होई, इइ केवलि भासियं ।। अनु० १२८

नय दृष्टि—जैन शास्त्र हर बात को नयदृष्टि से करा कर उसके अंतरंग और बहिरंग दोनों रूप का कथन करता है । अतः सामायिक का भी जरा हम नय दृष्टि से विचार करते हैं ।

नैगमादि प्रथम के तीन नय सामायिक के तीनों प्रकार को मोक्षमार्ग रूप से मान्य करते हैं । उनका कहना है कि—जैसे सर्व संवर के विना मोक्ष नहीं होता, वैसे ज्ञान, दर्शन के बिना सर्व संवर का लाभ भी तो नहीं होता, फिर उनको क्यों नहीं मोक्ष मार्ग कहना चाहिये । इस पर ऋजु सूत्र आदि नय बोले—ज्ञान, दर्शन सर्व संवर के कारण नहीं है, किन्तु सर्व संवर ही मोक्ष का आसन्नतर कारण है ।

(१) सामायिक जीव है या उससे भिन्न, इस पर नय अपना विचार प्रस्तुत करते हैं । संग्रह कहता है—आत्मा ही सामायिक है । आत्मा से पृथक कोई गुण सामायिक जैसा नहीं है ।

(२) व्यवहार बोला—आत्मा को सामायिक कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर जो भी आत्मा हैं, वे सव सामायिक कहलायेंगे, इसलिए ऐसा कहना ठीक नहीं । ऐसा कहो कि जो आत्मा यतनावान है, वह सामायिक है, अन्य नहीं ।

(३) व्यवहार की वात का खण्डन करते ऋजुसूत्र वोला—यतनावान सभी आत्मा सामायिक माने जायेंगे, तो तामलि जैसा मिथ्या दृष्टि भी अपने अनुष्ठान में यतनाशील होते हैं, उनके भी सामायिक मानना होगा, परन्तु ऐसा इष्ट नहीं, उपयोग पूर्वक यतना करने वाला आत्मा ही सामायिक है,

ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि जब हेयोपादेय का ज्ञान कर त्याग करेगा तो उसका व्रत स्वतः प्रमाणित हो जायगा।

(४) शब्द नय कहता है—उपयोग-पूर्वक यतनाशील तो अविरत सम्यग् दृष्टि और देश विरति भी हो सकता है, किन्तु उनके सामायिक नहीं होता, अतः ऐसा कहना चाहिए कि षट्काय के जीवों पर जो विधिपूर्वक विरति वाला हो, वह संयमी आत्मा सामायिक है।

(५) शब्द नय की बात पर समभिरूढ़ कहता है—यह ठीक नहीं, ऐसे संयमी तो प्रमत्त-साधु भी हो सकते हैं, किन्तु वहाँ सामायिक नहीं है, इसलिए ऐसा कहो—त्रिगुप्तिगुप्त यतमान संयमी आत्मा ही सामायिक है।

(६) एवभूत अपनी शुद्ध दृष्टि में इसे भी नहीं मानता, वह कहता है कि इस प्रकार अप्रमत्त-संयत आदि के भी सामायिक मानना होगा, जो ठीक नहीं, क्योंकि उनको कर्म का बंध होता है। अतः आत्म-प्रदेशों में स्थिरता नहीं है, इसलिए ऐसा कहो—सावद्ययोग से विरत, त्रिगुप्त, संयमी उपयोग-पूर्वक यतनावान आत्मा ही सामायिक है। इस नय की दृष्टि से शैलेशीदशा प्राप्त आत्मा ही सामायिक है। क्योंकि आत्मा के प्रदेश वहीं सम्पूर्ण स्थिर रहते हैं।

(१) नयगम नय कहता है—शिष्य को जब गुरु ने सामायिक की अनुमति प्रदान की, तब से ही वह सामायिक का कर्त्ता हो जाता है, क्योंकि कारण में कार्य का उपचार होता है।

(२) संग्रह और व्यवहार कहते हैं—अनुमति प्रदान करने मात्र से नहीं, पर जब शिष्य गुरुदेव के चरणों में सामायिक के लिए बैठ गया, तब उसे कर्त्ता कहना चाहिए।

(३) ऋजु कहता है—गुरु चरणों में बैठा हुआ भी जब सामायिक पाठ को पढ़ रहा है और उसके लिए क्रिया करता है, तब सामायिक का कर्त्ता कहना चाहिए।

(४) किन्तु शब्दादि नय कहते हैं—जब सामायिक में उपयोगवान् है तब शब्द क्रिया नहीं करते हुए भी, सामायिक का कर्त्ता होता है, क्योंकि मनोज्ञ-परिणाम ही सामायिक है।

इस प्रकार सामायिक और सामायिकवान् का विभिन्न दृष्टियों से स्वरूप समझ कर साधक को सावद्य योग से विरत होने का अभ्यास करना

चाहिए। द्रव्य नय जो गुण पर्याय को आत्म-द्रव्य से भिन्न नहीं मानते, उनकी दृष्टि से संयमादि गुणवान् आत्मा ही सामायिक है और पर्याय नय की अपेक्षा समभाव लक्षण गुण को सामायिक कहा गया है, किन्तु जनमत निश्चय और व्यवहार उभयात्मक है। उसमें अकेले व्यवहार और अकेले निश्चय को कार्य साधक नहीं माना जाता, व्यवहार में जप-तप स्वाध्याय एवं ध्यान में संयत जीवन से रहना और सादे वेश-भूषा में शांत बैठकर साधना करना सामायिक है। राग द्वेष को घटाना या विकारों को जीत लेना सामायिक का निश्चय पक्ष है। साधक को ऐसा व्यवहार साधन करना चाहिए, जो निश्चय के निकट पहुँचावे। साधना करते हुए भी आत्मा में रागद्वेष की मंदता प्राप्त नहीं हो तो सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए कि व्यवहार में कहाँ गलती है।

अभ्यास में बड़ी शक्ति है। प्रति दिन के अभ्यास से मनुष्य अलभ्य को भी सुलभ कर लेता है। यह ठीक है कि मानसिक शांति के बिना सामायिक अपूर्ण है। साधक उसका पूर्ण आनन्द नहीं पा सकता, परन्तु अपूर्ण एक दिन में ही तो पूर्ण नहीं हो जाता है। उसके लिए साधना करनी होती है। व्यापार में २-४ रु० मिलाने वाला अभ्यास की कुशलता से एक दिन हजार भी मिला लेता है।

साधक जब तक अपूर्ण है, त्रुटियां हो सकती हैं, पर खास कर विषय-कषाय में जिस वृत्ति का जोर हो, सदा उसी पर सद्भावना की चोट मारनी चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन के अभ्यास से सहज ही जीवन स्वच्छ एवं शान्त बन सकेगा।

यही जीवन को महान बनाने की कुंजी है। जैसे कहा भी है—

'सारे विकल्पों को हटा, निज आत्म को पहचानले।
संसार-वन में भ्रमण का, कारण इन्हीं को मानले।
जड़ भिन्न तेरी आत्मा, ऐसा हृदय में जान तू।
बस, लीन हो परमात्मा में, बन जा महान् महान् तू ॥'

सामायिक सौदो नहीं, सामायिक सम भाव।
लेणो-देणो सब मिटै, छूटै वैर विभाव ॥ १ ॥
सामायिक में खरच नीं, वै समता री आय।
विषय-भोग सब छूट जा, छूटै करम कषाय ॥ २ ॥

—डॉ. नरेन्द्र भानावत

जैन आगमों में स्वाध्याय

सर्व विदित बात है कि स्वाध्याय के अभाव में बड़े से बड़ा साधन-सम्पन्न सम्प्रदाय भी सुरक्षित नहीं रह सकता। जैन शासन में स्वाध्याय का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वाध्याय ध्यान का महत्त्वपूर्ण अवलम्बन और श्रमण जीवन को अनुप्राणित करने वाला है। प्रत्येक श्रमण एवं श्रमणी की दिनचर्या में स्वाध्याय का प्रमुख स्थान है। चारों काल स्वाध्याय नहीं करने पर श्रमण को प्रतिक्रमण करना होता है। 'भगवती सूत्र' में गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु ने स्वाध्याय के पांच प्रकार बतलाये हैं।

१. वाचना, २. पृच्छना, ३. पर्यटना, ४. अनुप्रेक्षा, ५. धर्मकथा। बिना पठन-पाठन के ज्ञान-वृद्धि नहीं होती, इसलिए सर्व प्रथम वाचना रखा गया है। दूसरे में पठित विषयों में शंकाओं का समाधान करने और ज्ञातव्य विषय को समझने हेतु पृच्छा होती है, यह स्वाध्याय का दूसरा भेद हैं। तीसरे में ज्ञात विषय को स्थिर करने हेतु परावर्तन-रूप स्वाध्याय होता है। परावर्तन उपयोग पूर्वक हो और स्वाध्यायी उसमें आनन्दानुभूति प्राप्त कर सके। एतदर्थ चौथे में अनुप्रेक्षा-चिंतन रूप स्वाध्याय बतलाया है। शास्त्रवाणी से प्राप्त ज्ञान के नवनीत को जनता में वितरण करने को धर्मकथा-रूप पाँचवाँ स्वाध्याय है। स्वाध्याय की व्याख्या में आचार्यों ने इस प्रकार विवेचन किया है—

अध्ययन[1] को अध्याय कहा है, सुन्दर उत्तम अध्याय ही स्वाध्याय है। अच्छी तरह मर्यादा-पूर्वक पढ़ना भी स्वाध्याय है। अच्छी तरह मर्यादा के साथ—अकाल को छोड़कर अथवा पौरुषी की अपेक्षा काल-अकाल का ध्यान रखकर पढ़ना स्वाध्याय कहलाता है।

उपरोक्त वचन के अनुसार जिन प्ररूपित द्वादशांग-सूत्रवाणी को विद्वानों ने स्वाध्याय कहा है। इसी को **'सुयनाणं-सुज्झाओ'** पद से श्रुतज्ञान को स्वाध्याय से अभिन्न कहा है।

---

१. अध्ययनं अध्यायः शोभनोऽध्यायः स्वाध्यायः ।आ०। अथवा सुष्ठु आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः । स्थ. २।। सुष्ठु आ-मर्यादया—कालवेला परिहरिण पौरुष्य पक्षेयाना अध्यायः—अध्ययनं स्वाध्यायः ।ध. ३ अधि.।

स्व. याने आत्म गुण अथवा स्व-सिद्धान्त का जिससे ज्ञान हो, वैसे सद्ग्रंथों का पठन-पाठन भी स्वाध्याय कहा जाता है।

स्वाध्याय योग्य श्रुत :

श्रुतज्ञान के १४ और २० भेद भी किये गये हैं। परन्तु पठन-पाठन की दृष्टि से दो ही भेद उपयुक्त होते हैं—सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत। अनुयोग द्वार सूत्र में लौकिक और लोकोत्तर भेद से भी कथन किया गया है।

अल्पज्ञ-छद्मस्थों के द्वारा स्वेच्छा से जिन ग्रन्थों की रचना की गई है उनको मिथ्याश्रुत या लौकिक श्रुत कहते हैं। लौकिक श्रुत एकान्त हितकरी नहीं होते। सरागियों की वाणी वीतराग वाणी के आश्रित होने पर ही सम्यक्श्रुत होकर पठनीय हो सकती है। रागादि दोष से दूषित होने के कारण वह शास्त्र अचूक मुक्तिमार्ग नहीं बता सकता। मुमुक्षु जीवों के लिए वीतराग वाणी या उसके अनुकूल छद्मस्थ वाणी भव-बन्धन काटने में समर्थ होती है। सरागियों के वचन दोषयुक्त होने के कारण कभी-कभी पाठक या श्रोता के मन मोह उत्पन्न कर उनको भवसागर में भटका देते हैं। वीतराग भाषित सम्यक्श्रुत में ये दोष नहीं होते हैं, क्योंकि काम, क्रोध, लोभादि विकारों के सम्पूर्ण क्षय से वीतराग निर्दोष है। निर्दोष वाणी श्रोताओं में भी उपशम रस का संचार करती है और अनादि संचित दोषों का उपशम करती है। इसलिए कहा है—

> श्लोको वरं परम तत्त्व-पथ-प्रकाशी, न ग्रंथ कोटि-पठनं जन-रंजनाय।
> संजीवनीति वरमौषध मेकमेव, व्यर्थ-श्रमस्य 'जननो न तु' मूलभारः॥

परमतत्त्व को प्रकाशित करने वाला एक भी श्लोक करोड़ों ग्रन्थों से अच्छा है, व्यर्थ का भार देने वाले मूलों के ढेर से संजीवनी का एक भी टुकड़ा अच्छा है। मोक्ष साधन के दुर्लभ चतुरंगों में इस प्रकार की धर्मश्रुति को दुर्लभ कहा गया है। मनुष्य तन पाकर भी हजारों लोकधर्म की श्रुति अनायास नहीं पाते, जिसको सुनकर जीव तप-शांति और अहिंसा भाव को प्राप्त करें, ऐसे सद्-ग्रन्थों का श्रवण अत्यन्त दुर्लभ है। जैसे कि कहा है—

> जं सुच्चा पड़िवज्जंति, तवं खंति महिंसयं॥ उ० ३॥

सम्यक् श्रुत धर्मकथा प्रधान होता है, वहाँ अर्थकथा और कामकथा को महत्त्व नहीं मिलता—आत्म स्वरूप का ज्ञान होने से सम्यक् श्रुत के द्वारा जीव को स्वरूपाभिमुख गति करने को प्रेरणा मिलती है। अतः स्वरूप और आत्मगुण का अध्ययन होने से ही सम्यक्श्रुत का पठन-पाठन स्वाध्याय कहा गया है।

स्वाध्याय और समाधि :

चार प्रकार की समाधियों में श्रुत भी दूसरे नम्बर का समाधि-स्थान माना गया है। जैसे 'चत्ताणि विणय समाहिट्टाणा पन्नता। तंजहा-विणयसमाही, सुयसमाही सव समाही, आयार'समाही ।। शास्त्र ज्ञान के अध्ययन और परिशीलन से आत्मा को शारीरिक एवं मानसिक समाधि की प्राप्ति होती है। अतः अनेक प्रकार के समाधि स्थानों में 'श्रुत स्वाध्याय' को भी समाधि का एक कारण माना है। श्रुतवान ही तप और आचार की सम्यक् साधना कर पाता है। इसलिए 'श्रुत समाधि' के पश्चात् 'तप-समाधि' और 'आचार-समाधि' का उल्लेख किया गया है।

श्रुत समाधि में जिज्ञासु शिष्य ने विनयपूर्वक गुरु से पृच्छा की कि शास्त्र क्यों पढ़े जायं ? और उनसे कौनसी समिति प्राप्त होती है ? उत्तर में आचार्य ने कहा—(१) श्रुत ज्ञान का लाभ होगा, इसलिए पढ़ो। (२) चित्त की चंचलता दूर होकर एकाग्रता प्राप्त होगी, इसलिए पढ़ो। (३) आत्मा को धर्म में स्थिर कर सकोगे, इसलिए पढ़ो। (४) स्वयं स्थिर होने पर दूसरों को स्थिर कर सकोगे, इसलिए पढ़ो। एकाग्रता प्राप्त होना ही समाधि है।

तप में स्वाध्याय का स्थान :

स्वाध्याय का मोक्ष मार्ग में प्रमुख स्थान है। श्रुताराधन का स्थान ज्ञान और तपस्या दोनों में आता है। बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय चौथा अन्तरंग तप है, स्वाध्याय के द्वारा मन वौर वाणी का तप होता है।

स्वाध्याय परमं तपः—मन के विकारों को शमन करने और धर्म-ध्यान का आलम्बन होने से स्वाध्याय परम तप है।

अनशन आदि बाह्य तप शरीर से लक्षित होते हैं, पर स्वाध्याय अन्तरंग तप होने से लक्षित नहीं होता, अतः यह गुप्त तप है।

शास्त्र का वाचन और शिक्षण क्यों ?

'स्थाणांग सूत्र' में शास्त्र की वाचना क्यों करना और शिष्य को शास्त्र का शिक्षण क्यों लेना, इस पर विचार किया है। सूत्र की वाचना के पाँच कारण बतलाये हैं—(१) वाचना से श्रुत का संग्रह होगा। (२) शिष्य का उपकार होगा और श्रुतज्ञान से उपकृत होकर शिष्य भी प्रेम से सेवा करेगा। (३) ज्ञान के प्रतिबंधक कर्मों की श्रुत पाठ से निर्जरा होगी। अभ्यस्त श्रुत विशेष स्थिर होगा। (५) वाचना से सूत्र का विच्छेद भी नहीं होगा और अविच्छिन्न पर-

से शास्त्र ज्ञान चलता रहेगा। जैसे कहा है—पंचाहें ठाणेहिं सुत्तंवाएज्जा, तंजहा १. संग्रहट्ठयाए, २, उवग्गहट्ठयाए, ३, निज्जरट्ठयाए, ४. सुत्तेवामे पज्जवजाए भविस्सए—५. सुत्तस्सवा अवोच्छित्तिनयट्ठयाए।ठा०।।

सूत्र सीखने के भी पाँच कारण बतलाये हैं, जैसे—१. ज्ञान की बृद्धि के लिए २. सम्यग् दर्शन की शुद्धि और रक्षा के लिए ३. शास्त्र ज्ञान से चारित्र की निर्मलता रहेगी, इसलिए सूत्र सीखें ४. मिथ्यातत्त्व आदि के अभिनिवेश से छुटकारा पाने के लिए अर्थात् मिथ्यात्व आदि दोषों से मुक्त होने के लिए ५. यथावस्थित भावों का ज्ञान करने के लिए सूत्र सीखना चाहिए। कहा भी है—पंचहिठाणेहिं सुत्तं सिक्खेज्जा, तंजहा—१ णाणट्ठयाए—२ दंसणट्ठयाए—३ चरित्तट्ठयाए ४ वुग्गहविमोयणट्ठयाए—५ अहवत्थंवाभाए जाणिस्सामित्ति कट्टू। स्वाध्याय के लिए आचार्यों ने अन्य हेतु भी दिये हैं—१. बुद्धि की निर्मलता, २. प्रशस्त अध्यवसाय की प्राप्ति, ३. शासन रक्षा, ४, संशय निबृत्ति, ५. परवादियों के शंका का निरसन, ६. त्याग तप की वृद्धि व अतिचार शुद्धि आदि के लिए स्वाध्याय किया जाता है—तत्त्वार्थ राजवार्तिक।

स्वाध्याय से लाभ :

स्वाध्याय से ज्ञानावरणी कर्म का क्षय होता है। वाचना से ज्ञानावरण आदि कर्म की निर्जरा होती है और सूत्र की वाचना से आशतना टलती है। विधिपूर्वक शास्त्र की वाचना देने से श्रुतयान रूप तीर्थ धर्म का अवलम्बन करने से महती कर्म निर्जरा और महान् संसार का अन्त होता है। वाचना करने वाले को पृच्छना करनी पड़ती है। पृच्छना करने से सूत्र अर्थ और तदुभय त्रुटियाँ दूर होती और सूत्रादि की शुद्धि होती है तथा अध्ययन विषय की विविध आकांक्षाएँ, जो मन को अस्थिर करती हैं, कांक्षा मोहनीय के नाश से नष्ट हो जाती हैं। स्थिरीकरण के लिए पठित विषय का परावर्तन किया जाता है। परावर्तन से भूले हुए अक्षर याद होते और विशेष प्रकार के क्षयोपशम से पदानुसारी आदि व्यंजनलब्धि प्राप्त होती है।

चिंतनरूप अनुप्रेक्षा भी स्वाध्याय है। चिन्तन से आयुकर्म को छोड़ सात कर्म प्रकृतियों को दृढ़ वन्धन से शिथिल वन्धन वाली करता है, दीर्घकाल की स्थिति को छोटी करता है और तीव्र रस को घटाकर मन्दरस करता है। बहुप्रदेशी प्रकृतियों को अल्प प्रदेश वाली कर देता एवं आयुकर्म कभी बांधता, कभी नहीं भी बांधता है। असात और कर्कश वेदनीय कर्म का उपचय नहीं करता। चिन्तन करने वाला अनादि-अनन्त, दीर्घमार्ग वाले चतुर्गत्तिक संसार कान्तार को अल्प समय में ही पार कर लेता है।

धर्मकथा से कर्मों की निर्जरा होती और प्रभावशाली कथा से शासन की प्रभावना होती है। शासन की प्रभावना करने वाला भविष्य के लिए निरन्तर भद्ररूप शुभानुबन्धी कर्म का संचय करता है।

श्रमण चर्या में स्वाध्याय :

जिस प्रकार प्रतिलेखन, प्रमार्जन, प्रतिक्रमण, वैयावृत्यकरण और ध्यान नियत कर्म है, ऐसे स्वाध्याय भी श्रमण वर्ग का नियत कर्म है। सदाचारी अध्याय में कहा गया है कि प्रातःकाल प्रतिलेखन करके साधुगुरु से विनयपूर्वक यह पृच्छा करे—'भगवन्' मुझे अब क्या करना चाहिये, वैयावच्च या स्वाध्याय जो करना हो उसके लिए आज्ञा चाहता हूँ। २६।६

गुरुसेवा में नियुक्त करें तो बिना ग्लानि के सेवा करें और स्वाध्याय की अनुमति प्रदान करें तो सर्वदुःख मोचन स्वाध्याय करे।उ०।२६।६-१०।।

आगे कहते हैं—"पढ़मं पोरिसि सज्जायं, बीयंझाणं झियायइ।"

प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करना और दूसरे में ध्यान—अर्थात् अर्थ का चिन्तन करना, तीसरे प्रहर भिक्षा और चौथे पहर में फिर स्वाध्याय करना। ऐसा रात्रि के प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ पहर के लिए समझना। केवल नियत कर्म बता के ही नहीं छोड़ा, किन्तु स्वाध्याय के समय स्वाध्याय नहीं करने के लिए प्रतिक्रमण में आयोजन भी किया गया है। जैसे—

"पडिक्कमायि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरण्याए।" आव०।।

चारों काल स्वाध्याय नहीं किया हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

स्वाध्याय की विधि :

साधुओं का अपना निराबाध स्वाध्याय होता रहे, इसके लिए स्वतन्त्र रूप से स्वाध्याय भूमि की गवेषणा करते और वहाँ विधिपूर्वक स्वाध्याय किया करते थे। शास्त्र-पाठ मंगल और देवाधिष्ठित माना गया है। इसके लिए उसका अध्ययन करने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि आस-पास कहीं अस्थि या कलेवर आदि तो नहीं है। यदि अस्वाध्याय की कोई वस्तु हो, तो उसे मर्यादित भूमि से बाहर डालकर गुरु को निवेदन कर देना चाहिए और फिर गुरुजी की आज्ञा पाकर उपयोगपूर्वक अध्ययन करना—यह सामान्य विधि है।

प्राचीन समय में प्रथम पहर में सूत्र का स्वाध्याय और द्वितीय पहर में अर्थ का चिन्तन किया जाता था, इसलिए प्रथम सूत्र पौरुपी और दूसरी अर्थ-पोरुपी कही जाती थी। जैसा कि कहा है—"उत्सग्गेणं पढ़मा, इग्घड़िआ ~ पोरिसी भणिआ। विइआय अत्थ विसया, निद्दिट्ठा दिट्ठसमएहिं" ।१। वि

पूर्वक श्रुत का आराधन करने के लिए आठ आचार बताये गये हैं—१. जिस शास्त्र का जो काल हो, उसको उसी समय पढ़ना कालाचार है। २. विनयपूर्वक गुरु को वंदन कर पढ़ना, विनयाचार है। ३. शास्त्र एवं ज्ञानदाता के प्रति बहुमान होना, बहुमानआचार है। ४. तप-आयंबिल या नीवी करके पढ़ना, उपधान आचार है। ५. शब्दों में ह्रस्व-दीर्घादि का शुद्ध आचरण करना, व्यंजनाचार हैं। ६. सम्यग् अर्थ की विचारणा, अर्थाचार है। ७. मूल एवं अर्थ दोनों का सम्यक् उच्चारण और प्ररूपण करना, तदुभयाचार है। कल्याणार्थियों को अकाल और अस्वाध्याय को बचाकर विधिपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए, यह उभय लोक में मंगलकारी है।

श्रावक समाज और स्वाध्याय :

श्रमण एवं श्रमणियों में तो आज भी शास्त्र वाचन होता है। हाँ, पूर्व की अपेक्षा अवश्य इस ओर रुचि घटी है और कई तो वर्तमान पत्र एवं साहित्य को ही स्वाध्याय मान चलते हैं, परन्तु श्रावक समाज इस ओर से प्रायः सर्वथा ही दूर है। बहुत से लोगों की यह धारणा है कि श्रावक को शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिये और धर्म ग्रन्थ तथा सिद्धान्त विचार का पढ़ना-पढ़ाना साधुओं का काम है। ठीक है उनकी धारणा को भी आधार है, परन्तु उससे श्रावकों की सूत्र पाठ का निषेध नहीं होता। शास्त्र में सूत्र वाचना के लिए अधिकारी की चर्चा की गई है—वहाँ साधु-साध्वियों की अपेक्षा ही विचार किया है और गुरु शिष्य परम्परा से सुत्तागमे का अध्ययन साधु ही कर सकते थे।

श्रावक लोग अधिकांश अर्थरूप आगम के अभ्यासी होते और गुरुमुख से सुनकर वे तत्त्व ज्ञान एवं सिद्धान्त के प्रमुख स्थानों को धारण कर लेते थे। सिलसिले से किसी शास्त्र को वाचने व पढ़ने का उन्हें अवसर नहीं मिलता। फिर भी विशिष्ट धारणा व मेधा शक्ति वाले श्रावक-श्राविका मूल व अर्थ के अच्छे जानकार हुआ करते थे। शास्त्र में उनके परिचय में 'लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, विणिच्छियट्ठा' आदि कहा है, श्रावक परमार्थ को ग्रहण करने वाले और तत्त्वार्थ का निश्चय करने वाले होते। फिर उनको 'अभिगय, जीवा जीवा ....वन्ध मोक्ख कुसला' आदि पद से तत्त्वज्ञान में कुशल भी बताया है।' भगवती सूत्र में वर्णित तुंगिया नगरी के श्रावक, राजगृदी का मंडूक और राजकुमारी जयन्ती आदि के उल्लेख स्पष्ट श्रावक-श्राविका समाज में शास्त्रीय ज्ञान को प्रमाणित करते हैं। पालित श्रावक के लिए तो स्वयं शास्त्रकार ने निग्रन्थ प्रवचन में 'कोविद' कहकर शास्त्र ज्ञान का पंडित बतलाया है। फिर ज्ञाता धर्म कथा में सुबुद्धि प्रधान का वर्णन आता है, उसने पुद्गल परिणति को समझा कर राजा जित शत्रु को जिन धर्मानुगामी बना दिया था। शास्त्र की मौलिक जान-

कारी के बिना यह सब सम्भव नहीं हो सकता, इसलिए मानना चाहिये कि श्रावक भी स्वाध्यायशील होते थे। तुंगिया नगरी के श्रावकों की जानकारी तो मुनियों को भी प्रभावित करने वाली थी। साधुजन गुरुजनों से क्रमिक वाचना लेकर शास्त्र ग्रहण किया करते और श्रावक जन श्रवण परम्परा से प्रसंग प्रसंग पर सुने हुए प्रवचनों से संकलन कर ग्रहण करते थे।

इस प्रकार प्रधानता से श्रावक समाज में अर्थागम और गौणरूप से सुत्तागम का ज्ञान भी किया जाता था, यह प्रायः निर्विवाद है। प्रतिक्रमण सूत्र में व्रतों की तरह ज्ञान के अतिचारों का उल्लेख है। यहाँ सूत्र, अर्थ और तदुभय रूप तीन आगम बताकर उनके १४ दोष बतलाये हैं, जो मूल सूत्र की अपेक्षा ही संगत हो सकते हैं। परम्परा की दृष्टि से मन्दिर मार्ग परम्परा और तेरहपंथ परम्परा में श्रावक के लिए सूत्र वाचन का निषेध था, परन्तु अब मुद्रण युग में शास्त्र इतने सुलभ हो गये हैं कि जैन ही नहीं, अजैन और विदेशीजनों को भी शास्त्र हस्तगत होने लगे, लोग काल अकाल की अपेक्षा किये बिना ही पढ़ने लगे। कई अजैन और विदेशी विद्वानों ने तो शास्त्र के अनुवाद भी कर डाले हैं। ऐसे समय में जैन गृहस्थों के लिए शास्त्र का पठन-पाठन विशेष आवश्यक हो गया है, जिससे वे अजैनों में सही स्थिति प्रस्तुत कर सकें।

मध्यकाल के श्रावक मुनिजनों से आज्ञा लेकर कुछ शास्त्रों का वाचन करते और अर्थागम से शास्त्रों के पठन-पाठन और श्रवण में बड़ी श्रद्धा रखते थे।

शास्त्र के अतिरिक्त थोकड़ों के द्वारा भी वे स्वाध्याय का लाभ लिया करते थे। परन्तु आज स्थिति ऐसी हो गई है कि व्याख्यान में भी शास्त्र श्रवण की रुचि वाले श्रोता ढूंढे भी नहीं मिल पाते। शिक्षित पीढ़ी को अन्य साहित्य पढ़ने का प्रेम है, पर धर्म शास्त्र का नाम आता है तो कोई कहता है महाराज भाषा समझ में नहीं आती, कोई बोलता है पढ़ें क्या, वर्णन में रोचकता नहीं है। इस प्रकार विदेशी विद्वान जहाँ प्राकृत का अध्ययन कर समझने का प्रयत्न करते हैं, वहाँ जैन गृहस्थ उस भाषा से ही अरुचि प्रदर्शित करें और पठन-पाठन के क्षेत्र में साधु साध्वियों को छोड़कर स्वयं उदासीन रहें, तो शास्त्रों का संरक्षण कैसे होगा? और भावी प्रजा में श्रुत का प्रचार-प्रसार किस बल पर चल सकेगा, विचार की बात है। वास्तव में यदि आपको जिनवाणी पर प्रीति और शासन रक्षा के लिए दर्द है तो स्वाध्याय को अधिक से अधिक अपनाइये। अर्थागम या शास्त्र पर के व्याख्यान ही पढ़िये, पर पढ़िये अवश्य। शास्त्रानुकूल आचार्यों के विचार और वैसे द्रव्यानुयोग तथा आध्यात्मिक ग्रन्थ भी पठनीय होते हैं। प्रतिदिन शास्त्र पठन की परिपाटी से समाजधर्म पुष्ट और शास्त्रीय ज्ञान की वृद्धि से श्रावक समाज धर्म साधन में स्वाश्रयी

है। साधु-साध्वियों के अभाव में भी वाचन की परम्परा रहने से धर्म स्थान सदा मुक्त द्वार रह सकता है। बिना साधुओं के आर्य समाज, ब्रह्म समाज और सिक्ख आदि अमूर्ति पूजक संघ स्वाध्याय से ही प्रगतिशील दिख रहे हैं। यह गृहस्थ समाज में धर्म शिक्षा के प्रसार का ही फल है। स्थानकवासी जैन समाज को तो साधुजनों के अतिरिक्त श्रुत स्वाध्याय का ही प्रमुख आधार है। अतः साधु संख्या की अल्पता और विशाल धार्मिक क्षेत्र को देखते हुए यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होता कि श्रावक समाज ने स्वाध्याय का उचित प्रसार नहीं किया तो संघ का भविष्य खतरे से खाली नहीं होगा।

ज्ञाता धर्म कथा में नंदन मणियार का वर्णन आता है। भगवान महावीर का शिष्य होकर भी वह साधुओं के दर्शन नहीं होने से, सेवा और शिक्षा के अभाव से सम्यक्त्व पर्याप्त से गिर गया, सत्संग या स्वाध्याय के द्वारा धर्म शिक्षा मिलती रहती तो यह परिणाम नहीं आता और न उसे आर्तभाव में मरकर दुर्दुरयोनि में ही जाना पड़ता। वर्तमान के श्रावक समाज को इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

शास्त्र वाचन में योग्यता :

षडावश्यक में सामायिक प्रतिक्रमण और जीवादि तत्त्वों की जानकारी तो सामान्य स्वाध्याय है, उसके लिए खास अधिकारी का प्रश्न नहीं होना पर विशिष्ट श्रुत को वाचना के लिए योग्यता का विचार किया गया है। शास्त्र पाठक में विनय, रस-विजय और शांत स्वभाव होना आवश्यक माना गया है। शास्त्रकारों का स्पष्ट आदेश है कि—अविनीत, रस लम्पट और कलह को शांत नहीं करने वाला शास्त्र वाचन के योग्य नहीं होता। जैसे कहा है—१. तओनो कप्पंति वाइत्तए—२. अविणीए विगह पडिबद्धे—३. अवि उसवियपा हुड़े। स्थ० और वृह०। वाचना प्रेमी को प्रथम शास्त्र वाचना की भूमिका प्रदत करके फिर विद्वान मुनि या अनुभवी स्वाध्यायी के आदेशानुसार उत्तराध्ययन, आवश्यक सूत्र या उपासक दशा, दशाश्रुतकन्थ आदि से वाचन प्रारम्भ करना चाहिए और शास्त्र के विचारों को शास्त्रकार की दृष्टि से अनुकूल ही ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिये। शास्त्र में कई ज्ञेय विषय और अपवाद कथन भी आते हैं, वाचक को गम्भीरता से उनका पठन-पाठन करना चाहिये, तभी स्वाध्याय का सच्चा आनन्द अनुभव कर सकेंगे।

□ □ □

जैनागमों में श्रावक-धर्म

स्वभाव च्युत आत्मा को जो पुनः स्वभाव-स्थित करे और गिरते हुए को स्वभाव में धारण करे। वैसे आचार-विचार को शास्त्रीय भाषा में धर्म कहते हैं। "एगे धम्मे" अर्थात् धारण करने के स्वभाव से वह एक है। स्थित-भेद, क्षेत्र-भेद और पात्र-भेद की अपेक्षा मूल में वह एक होकर भी, जैसे पानी विविध नाम और रूपों से पहचाना जाता है, वैसे धर्म भी अधिकारी-भेद और साधना-भेद से अनेक प्रकार का कहा जाता है। स्थानांग सूत्र के दूसरे स्थान में धर्म के श्रुतधर्म और चारित्र धर्म के रूप से दो प्रकार बतलाये हैं, फिर चारित्र धर्म को भी आगार धर्म और अणगार धर्म के भेद से विभक्त किया हैं। आगार का अर्थ है घर। घर के प्रपंचमय वातावरण में रहकर जो धर्म-साधना की जाय, उसे आगार धर्म और घर के सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह से विरत होकर जो धर्म-साधना की जाय उसको अणगार धर्म कहा गया है। आगार धर्म का ही दूसरा नाम श्रावक धर्म है। त्यागी-श्रमणों की उपासना करने से गृहस्थ को श्रमणोपासक या उपासक भी कहा गया है।

दशाश्रुतस्कंध में सम्यग्दर्शनी गृहस्थ को व्रत-नियम के अभाव में दर्शन श्रावक कहा है। आचार्य कहते हैं कि जो व्रत-नियम रहित होकर भी जिन शासन की उन्नति के लिए सदा तत्पर रहता है और चतुर्विध संघ की भक्ति करता है, वह अविरत-सम्यग् दृष्टि भी प्रभावक श्रावक होता है, जैसा कि कहा है—

> जो अविरओवि संघे, भत्तितित्थुन्नइं सया कुणई ।
> अविरय-सम्मदिट्ठी, पभावगो सावगो सोऽवि ।।

आगमों में प्रायः बारहव्रतधारी श्रावकों का ही निर्देश मिलता है। एक आदि व्रतधारी देशविरत होते हैं, पर आगमों में वैसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। उस समय में राज्य-शासन के चालक चेटक और उदायी जैसे राजा और सुबाहु जैसे राजकुमारों के भी द्वादश व्रतों के धारण का ही उल्लेख आता है। परन्तु पूर्वाचार्यों ने श्रावक धर्म की भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसी तीन श्रेणियाँ निर्धारित की हैं।

जघन्य श्रावक :

जघन्य श्रावक के लिए तीन बातें आवश्यक बतलाई हैं, जो निम्न प्रकार हैं :

१. मारने की भावना से प्रेरित होकर किसी त्रस जीव की हत्या नहीं करना।

२. मद्य-मांस का त्यागी होना।

३. नमस्कार मन्त्र पर पूर्ण श्रद्धा रखना।

कहा भी है—आउट्टि थूल-हिंसाई, मज्ज-मंसाइ चाइओ।
जहन्नओ सावगो होइ, जो नमुक्कार धारओ॥

मध्यम श्रावक :

मध्यम श्रावक की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

१. देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा रखता हुआ जो बड़ी हिंसा नहीं करता।

२. मद्य मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का त्यागी होकर जो धर्म-योग्य लज्जालुता, दयालुता, गंभीरता और सहिष्णुता आदि गुण युक्त हो।

३. जो प्रतिदिन षट्कर्म का साधन करता और द्वादश व्रतों का पालन करता हो। कहा गया है—

देवार्चा गुरु-शुश्रुषा स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दान चतिगृहस्थाना षट् कर्माणि दिने दिने॥

षट्कर्म : छह दैनिक कर्म इस प्रकार हैं—

१. देव भक्ति :

वीतराग और सर्वज्ञ देवाधिदेव अरिहंत ही श्रावक के आराध्य, देव हैं।

श्रावक की प्रतिज्ञा होती है—"अरिहंतो महदेवो" अर्थात अरिहंत मेरे उपास्य देव हैं, उनके लिए कहा गया है—"दसट्ठ दोसा न जस्स सो देवो" जिनमें दस और आठ (अट्ठारह) दूषण नहीं हैं, वे ही लोकोत्तर पक्ष में आराध्य-देव हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों के क्षय से जिनमें अट्ठारह दोष नहीं होते, वे अरिहंत कहलाते हैं। अठारह दोष निम्न प्रकार हैं—

(१) अज्ञान (२) निद्रा (३) मिथ्यात्व (४) अविरति (५) राग (६) द्वेष (७) हास्य (८) रति (९) अरति (१०) भय (११) शोक (१२) जुगुप्सा (१३) काम (१४) दानान्तराय (१५) लाभान्तराय (१६) भोगान्तराय (१७) उपभोगान्तराय और (१८) वीर्यान्तराय।

कुछ आचार्य अठारह दोषों में 'कवलाहार' को एक मानकर केवली भगवान् के 'कवलाहार' नहीं मानते, पर आहार का सम्बन्ध शरीर से है, वह 'गमनागमन' और श्वास की तरह शरीर-धर्म होने से आत्म गुण का घातक नहीं बनता, अतः यहाँ उसका ग्रहण नहीं किया गया। इस प्रकार अठारह दोष-रहित, बारह गुण सहित, अरिहंत देव ही आराध्य हैं। देव त्यागी, विरागी एवं वीतराग हैं, अतः त्याग, विराग और वीतराग भाव की ओर बढ़ना एवं तदनुकूल करणी करना ही उनकी सच्ची भक्ति हो सकती है, जैसा कि सन्तों ने कहा है—

ध्यान धूपं मनः पुष्पं, पंचेन्द्रिय-हुताशनं।
क्षमा जाप संतोष पूजा, पूजो देव निरंजनं॥

२. गुरु सेवा :

दूसरा कर्म गुरुसेवा है। "जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो" के अनुसार श्रावक, आरंभ-परिग्रह के त्यागी, सम्यक्ज्ञानी, मुनि एवं महासतियों को ही गुरु मानता है। सच्चे संत छोटी-बड़ी किसी प्रकार की हिंसा करते नहीं, करवाते नहीं, करने वाले को भला भी समझते नहीं। इस प्रकार वे झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के भी तीन करण, तीन योग से सर्वथा त्यागी होते हैं। श्रावक प्रतिदिन ऐसे गुरुजनों के दर्शन व वंदन कर उपदेश ग्रहण करते हैं और उनके संयम गुण के रक्षण व पोषण हित वस्त्र, पात्र, आहार, औषध एवं शास्त्रादि दान से सेवा-भक्ति करते हैं।

जैसा कि उपासकदशांग सूत्र में आनन्द श्रावक ने कहा, "कप्पइ में समणे निग्गंथे फासुय-एसणिज्जेणं असण, पाण, खाइम, साइम, वत्थ, पडिग्गह, कंवल, पाय पुंच्छणेणं, पीढ, फलग, सिज्जा, संथारएणं, ओसहभेसज्जेणं, पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए" अर्थात् मुझे श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक और निर्दोष अशनादि चारों आहार, वस्त्र, पात्र, कंवल, पादपोंछन, पीठ, फलक, शैया, संस्तारक और औषध-भैषज से प्रतिलाभ देते हुए विचरण करना योग्य है। अन्य तीर्थ के देव या अन्य-तीर्थ-परिगृहीत चैत्य का वंदन-नमस्कार करना योग्य नहीं, वैसे ही उनके पहले विना वतलाये उनसे आलाप-संलाप करना तथा उनको (गुरुओं को) अशनादि देना नहीं कल्पता।

३. स्वाध्याय :

सद्गुरु का संयोग सर्वदा नहीं मिलता और मिलने पर भी उनकी शिक्षा का लाभ बिना स्वाध्याय के नहीं मिलता। अतः गुरु-सेवा के पश्चात् स्वाध्याय कहा गया है। श्रावक गुरु की वाणी सुनकर चिंतन, मनन और प्रश्नोत्तर द्वारा ज्ञान को हृदयंगम करता है। शास्त्र में वर्णित श्रावक के लिए 'निग्रन्थ प्रवचन' का 'कोविद' विशेषण दिया गया है। स्वाध्याय के द्वारा ही शास्त्र का कोविद-पंडित हो सकता है। अतः प्रत्येक श्रावक-श्राविका को वाचना, पृच्छा, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा द्वारा धर्मशास्त्र का स्वाध्याय करना चाहिये। सद्गुरु की अनुपस्थिति में उनके प्रवचनों का स्वाध्याय गुरु सेवा का आनन्द प्रदान करता है। कहा भी है—"स्वाध्याय बिना घर सूना है, मन सूना है सद्ज्ञान बिना।"

४. संयम :

जितेन्द्रिय, संयमशील पुरुष का ही स्वाध्याय शोभास्पद होता है। अतः स्वाध्याय के बाद चतुर्थ कर्म संयम बतलाया है। श्रावक को प्रतिदिन कुछ काल के लिए संयम का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास-बल से चिरकाल संचित भी काम, क्रोध और लोभ का प्रभाव कम होता है और उपशम भाव की वृद्धि होती है। अतः श्रावक को पाप से बचने के लिए प्रतिदिन संयम का साधन करना चाहिए।

५. तप :

गृहस्थ को संयम की तरह प्रतिदिन कुछ न कुछ तप भी अवश्य करना चाहिए। तप-साधन से मनुष्य में सहिष्णुता उत्पन्न होती है। अतः आत्म-शुद्धि के लिए अनशन, उणोदरी, रसपरित्याग आदि में से कोई भी तप करना आवश्यक है। तप से इन्द्रियों के विषय क्षीण होते हैं और परदुःख में समवेदना जागृत होती है। रात्रि-भोजन और व्यसन का त्याग भी तप का अंग है। आवश्यकताओं से दबा हुआ गृहस्थ तप द्वारा शान्ति-लाभ प्राप्त करता है।

६. दान :

श्रावक-जीवन के मुख्य गुण दान और शील हैं। श्रावक तप की तरह अपने न्यायोपार्जित वित्त का प्रतिदिन दान करना भी आवश्यक मानता है, जैसे शरीर विभिन्न प्रकार के पकवान ग्रहण कर फिर मल रूप से कुछ विसर्जन भी करता है। स्वस्थ शरीर की तरह श्रावक भी प्रतिदिन प्राप्त द्रव्य का देश, काल एवं पात्रानुसार उचित वितरण कर दान धर्म की आराधना करता है। पूणिया श्रावक के लिए कहा जाता है कि उसने धर्मी भाई को प्रीतिदान करने के लिए

एकान्तर व्रत करना प्रारम्भ किया। पूणी के धन्धे में तो घर का खर्च मात्र चलता था। अतः वह तपस्या से अपना खाना बचा कर स्वधर्मी बन्धु की सेवा करता था।

मध्यम श्रावक षट्कर्म की साधना के समान द्वादश व्रत का भी पालन करता है।

द्वादश व्रत :

आनन्द श्रावक ने भगवान् महावीर का उपदेश श्रवण कर प्रार्थना की—प्रभो ! जैसे आपके पास बहुत से राजा, ईश्वर, तलवर, मांडवी, कोटुम्बी और सार्थवाह आदि मुण्डित होकर अणगार धर्म की प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, वैसे मैं अणगार धर्म ग्रहण करने में समर्थ नहीं हूँ। मैं आपके पास पाँच अणुव्रत, सात शिक्षा व्रत रूप द्वादश विध गृहस्थ धर्म को ग्रहण करूँगा। मालूम होता है प्राचीन समय के श्रावक प्रारम्भ से ही सम्यग्दर्शन पूर्वक बारह व्रत ग्रहण करते थे। वे बीच के जघन्य मार्ग में अटके नहीं रहते थे। आनन्द ने जिन श्रावक व्रतों को स्वीकार किया था, उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

१. **स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत :** इस व्रत के अनुसार गृहस्थ त्रस जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा करने व करवाने का दो करण, तीन योग से त्याग करता है। चलते-फिरते जीवों की जीवन भर मन, वचन, काय से दुर्भावनावश हिंसा करनी नहीं, करवानी नहीं।

२. **स्थूल मृषावाद विरमण व्रत :** इसके अनुसार श्रावक स्थूल झूठ का त्याग करता है। दूसरे का जानी माली नुकसान हो ऐसा झूठ मन, वचन, काय से ज्ञानपूर्वक बोलना नहीं। बड़ा झूठ पाँच प्रकार का है जैसे—(१) कन्या सम्बन्धी, (२) गोआदि पशु शम्बन्धी, (३) भूमि सम्बन्धी, (४) जमा रकम या धरोहर दबाने सम्बन्धी तथा (५) झूठी साक्षी या मिथ्या लेख सम्बन्धी। श्रावक को इनका त्याग करना होता है, तभी वह समाज, राष्ट्र और परिवार में विश्वासपात्र माना जाता है।

३. **स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत :** इसके अनुसार श्रावक बड़ी चोरी का त्याग करता है। वह स्वयं चोरी नहीं करता, जानकर चोरी का माल नहीं लेता, एक देश का माल दूसरे देश में बिना अनुमति नहीं भेजता और बिना अनुमति के राज्य-सीमा का अतिक्रमण नहीं करता। कम ज्यादा तोल माप रखना और माल में मिलावट कर ग्राहक को धोखा देने में, श्रावक अपने अचौर्य व्रत का दूषण मानता है। इस तरह वह चोरी का दो करण तीन योग से त्याग करता है। "जाइजो लाख रहीजो साख" के अनुसार वह इतना विश्वस्त होता है कि [illegible]

राज-भण्डार में भी चला जाय, तो अविश्वास का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यही अचौर्य व्रत की महिमा है।

४. **स्वदार संतोष परदार विवर्जन व्रत :** इसके अनुसार गृहस्थ परस्त्री का त्यागी होता है। पाणिगृहीत स्त्री और पुरुष अपने क्षेत्र में मर्यादाशील होते हैं। वह भोग को आत्मिक दुर्बलता समझकर शनैः शनैः अभ्यासबल से काम वासना पर विजय प्राप्त करना चाहता है। यह यथाशक्य ऐसे आहार, विहार और वातावरण में रहना पसंद करता है, जहाँ वासना को प्रोत्साहन नहीं मिलता है। हस्त-मैथुन, अनंग-क्रीड़ा, अश्लील नृत्य गान और नग्न चित्रपटों से रुचि रखना इस व्रत के दूषण माने गये हैं। श्रावक नसबंदी जैसे कृत्रिम उपयोगों से संतति-निरोध को इष्ट नहीं मानता। वह इन्द्रिय-संयम द्वारा गर्भ-निरोध को ही स्वपरहितकारी मानता है।

५. **इच्छा परिमाण व्रत :** इस व्रत में श्रावक हिरण्य-सुवर्ण-भूमि और पशुधन का परिमाण कर तृष्णा की बढ़ती आग को घटाता है। वह धन को शरीर की भौतिक आवश्यकता पूर्ति का साधन मात्र मानता है। जीवन का साध्य धन नहीं, धर्म है। अतः धनार्जन में धर्म और नीति को भूलकर तन मन से अस्वस्थ हो जाना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जाता। वृद्ध और दुर्बल को लाठी की तरह गृहस्थ को धन का सहारा है। लाठी चलने में मदद के लिए है, पर वह पैरों में टकराने लगे तो कुशल पथिक उसे वहीं छोड़ देगा। श्रावक इसी भावना से परिग्रह का परिमाण करता है। आनन्द ने भगवान के पास हिरण्य सुवर्ण, चतुष्पद और भूमि का परिमाण किया था। वर्तमान में जो सम्पदा थी, उन्होंने उसको सीमित कर इच्छा पर नियंत्रण किया। परिणाम स्वरूप करोड़ों की संपदा होकर भी उनका मन शांत था। समय पाकर उन्होंने प्राप्त सम्पदा से किनारा कर एकान्त साधन किया और निराकुल भाव से अवधिज्ञान की ज्योति प्राप्त की। इस प्रकार परिग्रह का परिमाण करना इस व्रत का लक्ष्य है।

६. **दिग्व्रत :** अहिंसादि मूल व्रतों की रक्षा एवं पुष्टि के लिए दिग्व्रत, भोगोपभोग परिमाण और सामायिक आदि शिक्षाव्रतों की आवश्यकता होती है। जितना जिसका देश-देशान्तर में भ्रमण होगा, उतना ही उसका आरम्भ-परिग्रह भी बढ़ता रहेगा अतः इस व्रत में गृहस्थ के भ्रमण को सीमित किया गया है। सारंभी गृहस्थ जहाँ भी पहुँचेगा, आरंभ का क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होगा। अतः श्रावक को पूर्व आदि छहों दिशा में आवश्यकतानुसार क्षेत्र रखकर आगे का भ्रमण छोड़ना है। इस प्रकार दिशा-परिमाण लालसाओं को कम करने का प्राथमिक प्रयोग है।

७. **उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत** : मनुष्य हिंसा, असत्य आदि पाप आवश्यकता और भोग्य सामग्री के लिए ही करता है। जब तक शारीरिक आवश्यकता पर अंकुश नहीं किया जाता, अहिंसा एवं अपरिग्रह का पालन संभव नहीं। अतः इस व्रत में खान-पान-स्नान-यानादि सामग्रियों को सीमित करना आवश्यक बतलाया है। श्रावक आनन्द ने दातुन से लेकर द्रव्य तक २६ बोलों की मर्यादा की और महारम्भ के १५ खरकर्म-हिंसक धंधों का भी त्याग किया था। आवश्यकता वृद्धि के साथ मनुष्य का खर्च बढ़ेगा और उसकी पूर्ति के लिए उसे आरम्भ-परिग्रह भी बढ़ाना होगा। अतः कहा गया कि भोगोपभोग के पदार्थों की मर्यादा करो। मर्यादा करने से जीवन हल्का होगा और आरम्भ-परिग्रह भी सीमित रहेगा।

८. **अनर्थदण्ड विरमण व्रत** : हिंसादि पापों को घटाने के लिए जैसे आवश्यकताओं का परिमाण करना आवश्यक है, वैसे व्यर्थ—बिना खास प्रयोजन के होने वाले दोषों से बचना भी आवश्यक है। अज्ञानी मानव कितने ही पाप ना समझी से करता रहता है। शास्त्र में अनर्थ दण्ड के चार कारण बताये गये हैं। (१) अपध्यान (२) प्रमाद (३) हिंस्रप्रदान और (४) मिथ्याउपदेश। बिना प्रयोजन आर्त-रौद्र के बुरे विचार करना, द्रोह करना, भविष्य की व्यर्थ चिन्ता करना, नाच, सरकस एवं नशा से प्रमाद बढ़ाना, हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्र अग्नि विष आदि अज्ञात व्यक्ति को देना, पापकारी उपदेश देना, मेंढ़े, तीतर आदि लड़ाके खुश होना, तेल, पानी आदि खुले रखना, बिना प्रयोजन हरी तोड़ना या दूब आदि पर चलना अनर्थ दण्ड है। श्रमणोपासक को बिना प्रयोजन की हिंसादि-प्रवृत्ति से बचना नितांत आवश्यक है।

९. **सामायिक व्रत** : अनर्थ के कारणभूत राग, द्वेष एवं प्रमाद को घटाने के लिए समता की साधना आवश्यक है। सामायिक में सम्पूर्ण पापों को त्यागकर समभाव को प्राप्त करने की साधना की जाती है। सामायिक के समय श्रावक श्रमण की तरह निष्पाप जीवन वाला होता है। उस समय आरम्भ-परिग्रह का सम्पूर्ण त्याग हो जाता है। अतः गृहस्थ को बार-बार सामायिक का अभ्यास करना चाहिए, जैसा कि कहा है—

> सामाइयम्मिउकए समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
> एएण कारणेणं वहुसो सामाइयं कुज्जा [वि. आ.]

प्रतिदिन प्रातःकाल गृहस्थ को द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव-शुद्धि के साथ सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर स्थिर आसन से मुहूर्त भर सामायिक का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। इससे तन, मन और वाणी में स्थिरता होती है।

१०. **देशावकाशिकव्रत** : जीवन में आरम्भ-परिग्रह का संकोच करने और पूर्वगृहीत व्रतों को परिपुष्ट करने के लिए दैनिक व्रत ग्रहण को देशावकाशिक कहते हैं। इसमें गृहस्थ हिंसादि आश्रवों का द्रव्य क्षेत्र काल की मर्यादा से प्रतिदिन संकोच करता है। प्रतिदिन अभ्यास करने से जीवन संयत और नियमित बनता है और वृत्तियाँ स्वाधीन बनती हैं।

११. **पौषधोपवास व्रत** : दैनिक अभ्यास को अधिक बलवान बनाने के लिए गृहस्थ पर्वतिथि में पौषधोपवास की साधना करता है। इसमें आहार त्याग के साथ शरीर-सत्कार और हिंसादि पाप कार्यों का भी अहोरात्र के लिए दो करण तीन योग से त्याग होता है। पौषध, व्रती हिंसादि पाप कर्मों को मन, वाणी और कार्य से स्वयं करता नहीं और करवाता नहीं। इस दिन ज्ञान-ध्यान से आत्मा को पुष्ट करना मुख्य लक्ष्य होता है। प्राचीनकाल के श्रावक अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् पालन करते थे। जैसा कि भगवती सूत्र के प्रकरण में कहा है—चाउदसट्ठ मुदिट्ठ पुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरन्ति। श्रावक चतुर्दशी, अष्टमी अमावस्या और पूर्णिमा में प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् पालन करने विचरते हैं। दिन-रात आरम्भ परिग्रह में फंसा रहने वाला गृहस्थ जब पूरे दिन रात हिंसा, झूठ, परिग्रह से बचकर चल लेता है, तो उसे विश्वास हो जाता है कि हिंसा, झूठ, कुशील और क्रोध आदि को छोड़कर जीवन शांति से चलाया जा सकता है। पौषधोपवास श्रमण-जीवन की साधना का पूर्व रूप है। श्रावक को अनुकूलतानुसार हर माह में पौषध व्रत की साधना अवश्य करनी चाहिए।

१२. **अतिथिसंविभाग व्रत** : इस व्रत के द्वारा श्रावक भोजन के समय श्रमण-निग्रंथों का संविभाग करता है। शास्त्र में उसके लिए 'ऊसियफलिहा अवंगुय दुवारे' कहा है, अर्थात् उसके द्वार की आगल उठी रहती है। श्रावक के गृहद्वार खुले रहते हैं। साधु साध्वी का संयोग मिलने पर निर्दोष आहार-पानी, वस्त्र, पात्र और औषध आदि से उनको प्रतिलाभ देना श्रावक अपना आवश्यक कर्तव्य समझता है। वह मन, वचन, काय की शुद्धि से विधि पूर्वक विशुद्ध आहारादि प्रतिलाभित कर अपने आपको कृतकृत्य मानता है।

साधु के अभाव में देश विरति श्रावक और सम्यक्दृष्टि भी सत्पात्र माना गया है। दान गृहस्थ का दैनिक कर्म है। वह यथायोग्य गृहागत हर एक का सत्कार करता है। भगवती सूत्र में 'विच्छड्डिय पउर भत्तपाणे' विशेषण से गृहस्थ के यहाँ दीन-हीन, भूखे प्यासे पशु-पक्षी और मानव को प्रचुर भात-पानी डाला जाना कहा गया है। वह अनुकम्पा दान को पुण्यजनक मानता है।

उत्कृष्ट श्रावक :

वैदिक परम्परा में जैसे गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ का विधान है। जैन परम्परा में ऐसा ही व्रती जीवन के बाद पडिमाधारी साधन का उल्लेख है। यह श्रावक जीवन की उत्कृष्ट साधना है। पडिमाओं का वर्णन दशाश्रुतस्कंध सूत्र की छठी दशा में विस्तार से किया गया है। इस विषय पर लेखकों ने स्वतन्त्र विचार भी किया है, अतः यहाँ संक्षिप्त परिचय मात्र ही प्रस्तुत किया जाता है।

अभिग्रह विशेष को पडिमा या प्रतिमा कहते हैं। श्रावक की ११ और साधु के लिए मुख्य १२ पडिमाएँ कही गयी हैं। श्रावक की ग्यारह पडिमाएँ निम्न प्रकार हैं—

१. **दर्शन पडिमा :** निर्दोष सम्यग्दर्शन का पालन करना।

२. **व्रत पडिमा :** निरतिचार सम्यक् रूप से श्रावक व्रतों की आराधना करना।

३. **सामायिक पडिमा :** त्रिकाल सामायिक का अभ्यास करना।

४. **पौषध पडिमा :** प्रतिमास पर्वतिथि के छः पौषध करना।

५. **एक रात्रिक पडिमा :** इसमें अस्नान आदि पाँच बोलों का पालन करते हुए जघन्य एक दो तीन दिन, उत्कृष्ट पाँच मास तक विचरता है।

६. **ब्रह्मचर्य पडिमा :** पूर्वोक्त नियमों के साथ इसमें दिन रात पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। इसका उत्कृष्ट काल ६ मास का है।

७. **संचित आहार वर्जन पडिमा :** पूर्व पडिमा के नियमों का पालन करते हुए सचित्ताहार का त्याग रखना। इसका उत्कृष्ट काल ७ मास है।

८. **आरम्भ त्याग पडिमा :** इसमें स्वयं आरम्भ करने का त्याग होता है। इसका उत्कृष्ट काल ८ मास है।

९. **प्रेष्य पडिमा :** इसमें पडिमाधारी दूसरे से आरम्भ करवाने का त्याग रखता है। इसका उत्कृष्ट काल नव मास का कहा गया है।

१०. **उद्दिष्ट त्याग पडिमा :** इस पडिमा में अपने उद्देश्य से किये हुए आरंभ का भी साधक त्याग करता है। शिर पर शिखा रखता या क्षुरमुण्डन करता है। इसका उत्कृष्ट काल दस मास का है।

११. **श्रमण भूत पडिमा :** इसमें श्रमण निर्ग्रन्थों के धर्म का पालन किया जाता है। वह साधु वेष में रहकर अपनी ज्ञाति के कुल में भिक्षाचर्या लेकर विचरता है। पूछने पर अपना परिचय श्रमणोपासक रूप से देता है। इसका काल ११ मास का है।

जघन्य हर प्रतिमा का एक दिन, दो दिन या तीन दिन का साधना काल माना गया है। तप आदि का विशेष वर्णन मूल सूत्र में उपलब्ध नहीं होता। पडिमा-साधन से साधु जीवन में प्रवेश सरलता से हो सकता है।

इस प्रकार जीवन-सुधार के पश्चात् श्रावक मरण-सुधार का लक्ष्य रखता और उसके लिए अपच्छिम मारणांतिक संलेखना द्वारा जीवन निरपेक्ष होकर पूर्ण समाधि के साथ देह-विसर्जन करता है। यही श्रावक धर्म की साधना का संक्षिप्त परिचय है।

श्रावक प्रथम महारम्भी से अल्पारम्भी-अल्प परिग्रही होकर अनारंभी-अपरिग्रही जीवन की साधना में अग्रसर होता हुआ आत्मशक्ति का अधिकारी बनता है। श्रमण की तरह उसका लक्ष्य भी आरम्भ-परिग्रह से अलग होकर शुद्ध बुद्ध निज स्वरूप को प्राप्त करता है।

श्रावक-गीतिका

☐ डॉ० नरेन्द्र भानावत

श्रद्धा, ज्ञान, क्रियारत श्रावक।

जिसके मन में प्यार उमड़ता,
वाणी में माधुर्य छलकता,
चर्या में देवत्व झलकता,
सरवर में शतदल गुणधारक।
श्रद्धा, ज्ञान, क्रियारत श्रावक ॥१॥

व्रत-नियमों में जो सुदृढ़, स्थिर,
चाहे आवें संकट फिर-फिर,
वत्सल भावी, परहित-तत्पर,
दीन-दुःखी दलितों का पालक।
श्रद्धा, ज्ञान, क्रियारत श्रावक ॥२॥

न्याय-नीति से करता अर्जन,
मर्यादित इच्छामय जीवन,
हिंसा, झूठ, स्तेय का वर्जन,
निर्व्यसनी संयम-संवाहक।
श्रद्धा, ज्ञान, क्रियारत श्रावक ॥३॥

जो समाज की धड़कन सुनता,
नग्न मनुजता हित पट बुनता,
शोषण-उत्पीड़न से लड़ता,
सत्य, अहिंसा, समता-साधक।
श्रद्धा, ज्ञान, क्रियारत श्रावक ॥४॥

[५]

ध्यान : स्वरूप-विश्लेषण

ध्यान की आवश्यकता :

संसार के साधारण प्राणी का मन निरन्तर इतस्ततः इतना गतिशील रहता है कि वह क्षण-पल में ही त्रिलोकी की यात्रा कर लेता है। वस्तुतः उसकी गति, शब्द, वायु और विद्युत् से भी अतीव द्रुततर है। मन की इस असीम चंचलता से प्राणी अपना सही स्वरूप भी नहीं जान सकता, पर-पदार्थों को रमणीय समझकर उनकी प्राप्ति के लिये लालायित रहता है। पौद्गलिक होने के कारण उसका अपने सजातीय विषय-कषाय की ओर यह आकर्षण होना सहज भी है। जिस प्रकार एक अशिक्षित बालक मिट्टी में खेलने का शौकीन होने के कारण मिट्टी में खेलते हुए साथियों को देखते ही उनकी ओर दौड़ लगाता है, ठीक उसी प्रकार मन भी पौद्गलिक होने के कारण शब्दादि विषयों की ओर सहज ही आकृष्ट होता रहता है। वह इन्द्रियों के माध्यम से शब्द, रूप, रस, गन्ध व नाना प्रकार के सुखद सुरम्य स्पर्शादि को जानता, पहिचानता एवं स्मरण करता हुआ अनुकूल की चाह और प्रतिकूल के विरोध व परिहार में मानव को सदा परेशान करता रहता है। जब तक उसकी चाह पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक वह राग से आकुल-व्याकुल हो आर्त्तध्यान करता और इष्ट प्राप्ति में बाधक को अपना विरोधी समझ उससे द्वेष कर रौद्र रूप धारण करता है।

इस प्रकार राग-द्वेष की आकुलता से मानव-मन सदा अशान्त, क्षुब्ध और दुःखी रहता है। इस चिरकालीन अशान्ति को दूर करने हेतु मन की गति को मोड़ना आवश्यक माना गया है। कारण कि इष्टा-निष्ट की ओर मन का स्थिर होना तो अधोमुखी जल प्रपात की तरह सरल है, किन्तु इष्टानिष्ट की चिन्ता रहित मानसिक स्थिरता व स्वस्थता के लिये ध्यान-साधन की आवश्यकता होती है।

ध्यान का स्वरूप और व्याख्या :

विषयाभिमुख मन को विषयों से मोड़कर स्वरूपाभिमुख करने की साधना का नाम ही योग अथवा ध्यान है।

ध्यान वह साधना है, जो मन की गति को अधोमुखी से ऊर्ध्वमु[illegible] बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती

शास्त्रों में इसको आन्तरिक तप माना है। ध्यान के बल से विचारों में शुद्धि होती और उनकी गति बदलती है।

ध्यान की दो दशाएं हैं—प्रथम साधना और दूसरी सिद्ध दशा। साधना दशा के लिये आचार्यों ने आहार-विहार, संग और स्थान की अनुकूलता आवश्यक मानी है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि समाधि का भी श्रमण प्रमाणयुक्त और निर्दोष आहार ग्रहण करे, गुणवान् मित्र को सहायक बनावे और एकान्त शान्त-स्थान पर साधना करे।[1] इसका कारण यह है कि आहार-विहार एवं संग शुद्धि से तन-मन शान्त और स्वस्थ रहता है, जिससे ध्यान की साधना सरलता से होती है, कहा भी है—

युक्ताहार विहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात् उचित आहार-विहार, साध्य के अनुकूल कार्य-सिद्धि हेतु चेष्टाओं एवं उचित निद्रा तथा जागरण से साधना दुःख दूर करने वाली होती है। साधनाकाल में ध्यानी के लिये इन साधनों की ओर ध्यान रखना आवश्यक है।

आचार्य हरिभद्र ने भावना, चिन्ता, अनुप्रेक्षा और ध्यान—इस प्रकार ध्यान के चार भाग किये हैं। उन्होंने मित्रा, तारा आदि आठ दृष्टियों का भी विचार किया है। आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने पार्थिवी, आग्नेयी आदि पाँच धारणाओं का उल्लेख कर पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यान के चार भेद किये हैं। पर आगम साहित्य में इनका वर्णन नहीं मिलता। जैनागम, स्थानांग और भगवती सूत्र में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के सोलह-सोलह भेद बतलाये हैं। हारिभद्रीय वृत्ति में ध्यान का विशद वर्णन किया गया है। उसमें लक्षण और आलम्बन को भी ध्यान के भेद रूप में बताया गया है।

वैदिक परम्परा में जहाँ आरम्भ से ही 'चित्तवृत्ति-निरोध' को योग या ध्यान माना है, वहाँ जैन शास्त्रों में ध्यान का आरम्भ चित्तवृत्तियों का सब ओर से निरोध कर किसी एक विषय पर केन्द्रित कर उस पर चिन्तन करना माना है।

प्राचीन समय के साधु और श्रावक रात्रि के प्रशान्त वातावरण में धर्म-जागरण किया करते थे। उसमें अनवरत शुभ चिन्तन के माध्यम से मन की

१, आहारमिच्छेमियमेसणिज्जं, सहाय मिच्छे निउणट्ठ बुद्धिं।
निकेयमिच्छेज्ज विवेग जोग्गं, समाहिकामे समणे तवस्सी॥ ४॥
—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय ३२

रुचि को बदलने का मनोयोग के साथ पूर्ण प्रयास किया जाता और इस प्रक्रिया से मन की रुचि को बदल दिया जाता था। मन की रुचि बदलने से सहज ही दूसरी ओर से मन की गति रुक जाती और इसके फलस्वरूप साधक को अनिर्वचनीय आनन्द और शान्ति की अनुभूति होती। मन की गति में सहज स्थिरता और निर्मलता लाना, यही सहज ध्यान है। इसी को राजयोग कह सकते हैं।

अतः परमतत्त्व के चिन्तन में तल्लीनता मूलक निराकुलस्थिति को प्राप्त कराने वाला ध्यान ही यहाँ इष्ट है। उसके अधिकारी वे ही जीव होते हैं, जो मंदकषायी, जितेन्द्रिय और ज्ञानी हैं। वे ही योग्य ध्याता तथा परम तत्त्व एवं उसकी प्राप्ति का उपाय ही ध्येय और ध्येय के चिन्तन में चित्त की निराकुल स्थिति एवं एकाग्रता की साधना को ही ध्यान समझना चाहिये।

ध्यान की विविध पद्धतियां :

व्यवहार पक्ष में आजकल जो चार्ट पर काली बिन्दु या ओ३म आदि के निशान बनाकर ध्यान लगाया जाता है, वह भी ध्यान का एक प्रकार है। अभ्यास के लिये ऐसी अन्य भी विविध पद्धतियां हैं। इच्छा शक्ति के विविध चमत्कार भी ध्यान के ही प्रतिफल हैं।

शास्त्रीय परम्परा में जैसे आज्ञा विचय आदि चिन्तन के प्रकार और पदस्थ, पिंडस्थ आदि ध्यान के जो प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं उनके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने कुण्डलिनी जागरण के मार्ग से तो दूसरे ने अनहद नाद श्रवण से मन को स्थिर करना बतलाया है। कुछ अनुभवियों ने संसार व्यवहार में उदासीन भाव से रहने के अभ्यास को चित्त की स्थिरता का साधन माना है। व्यवहार में एक अन्य सरल मार्ग अपनाया जाता है, जिसे शरीर और मन को शिथिल कर सुखासन से बैठना या शयनासन से लेटना भी विचार के जंजालों से मुक्त कर समाधि पाने का उपाय माना है। ये सब अभ्यास काल में साधना के प्रकार मात्र ही हैं। स्थायित्व तो वैराग्य भाव की दृस्टि से चित्त शुद्धि होने पर ही हो सकता है। इसलिये ध्यान के लिए ध्यान-साधना के पश्चात् चिन्तन रूप, एकाकी, अनित्य, अशरण आदि चार भावनाओं का चिन्तन आवश्यक माना गया है।

ध्यान की प्राथमिक भूमिका :

ध्यान के विषय में विचार करने के लिए ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीन बातों का ज्ञान करना आवश्यक होगा। संसार का प्रत्येक प्राणी अपने प्रिय अथवा पदार्थ में ध्यानशील होता रहा है। कामी का कान्त पदार्थ में, भोगी

भोग्य पदार्थ में, रोगी का रोग निवारण में, अर्थी का अर्थ साधन में, ज्ञानी का तत्त्व चिन्तन में एवं भक्त का भगवच्चरण में मन डूबा रहना सहज है। अर्थ और काम का चिन्तन कर्मोदयजन्य अर्थात् कर्म (प्रारब्ध) का फल होने के कारण प्रयत्नसाध्य नहीं होता। अर्थ तथा काम के चिन्तन में प्राणी इतना तन्मय हो जाता है कि वह मोहवश हो सुधबुध तक भूल जाता है। फिर भी उसका वह आत्यन्तिक तन्मयतापूर्ण ध्यान किसी भी दशा में उपादेय नहीं माना जाता, क्योंकि वह भवताप बढ़ाने वाला होने के कारण हितकर नहीं, अपितु अहितकर होता है।

ध्यान के विषय में जैनागम और जैन साहित्य में विस्तृत वर्णन किया गया है। जैन सूत्रों में, खास कर स्थानांग, भगवती और उववाई में भेद-अभेद सहित ध्यान का वर्णन उपलब्ध होता है। अर्वाचीन ग्रन्थों में हरिभद्र का योग शतक, योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, हेमचन्द्र का योगशास्त्र, शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव और ध्यानशतक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इन सब ने ध्यान-साधना से पूर्व विषय-कषाय का मन्द होना आवश्यक माना है। जो जितेन्द्रिय और उपशान्त कसायी होगा. वही सरलता से ध्यान का साधन कर सकेगा। जब तक हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह को त्याग कर साधक काम क्रोध आदि को मन्द नहीं कर लेता, तब तक वह ध्यान का अधिकारी नहीं होता। अधिकारी के स्वरूप और आसन आदि का विधान करते हुए गीता में श्री कृष्ण ने भी कहा है कि मन एवं इन्द्रियों की वृत्तियों का संयमन कर साधक अनुकूल आसन पर बैठे और मन को एकाग्र कर आत्म शुद्धि के लिए योग का साधन करे। यथा—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा, यत चित्तेन्द्रिय क्रियः।
उपविश्यासने युंज्यात्, योगमात्म विशुद्धये॥

शब्द शास्त्र के अनुसार "ध्यै" चिन्तायाम धातु से 'ध्यातिर्ध्यानम—इस व्युत्पत्ति द्वारा ध्यान शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ होता है—अन्तर्मुहूर्त मात्र तक स्थिरतापूर्वक एक वस्तु के विषय में चिन्तन करना। जैन शास्त्रों में इसी अर्थ में ध्यान शब्द का प्रयोग हुआ है। चित्तवृत्ति का सम्पूर्णरूपेण निरोध धर्म-ध्यान में सम्भव नहीं। यही कारण है कि छद्मस्थ का एक वस्तु पर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त स्थिर रहना ही ध्यान कहा गया है। चित्तवृत्तियों का सम्पूर्ण रूपेण निरोध तो वस्तुतः केवल ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही हो सकता है। जैसा कि कहा है—

अन्तोमुहूत्तमित्तं, चित्तावत्याणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु॥

चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक साधक धर्म ध्यान का ही अधि-कारी माना गया है। छद्मस्थ द्वारा किया जाने वाला इस प्रकार का धर्म ध्यान सविकल्प होते हुए भी निवात स्थान में रखे हुए दीपक की लौ के समान स्थिर रह, निश्चल एवं उसी वस्तु के चिन्तन की परिधि में प्रलीन होता है।

इस धर्म ध्यान के ४ भेद बताये गये हैं। यथा :—

आप्तवचनं प्रवचनमाज्ञा विचयस्तदर्थं निर्णयनम्।
आश्रव विकथः गौरव, परीषहाद्यैरपायस्तु ॥ १ ॥

अशुभ शुभकर्मपाकानुचिन्तनार्थो विपाकः विचयः स्यात्।
द्रव्य क्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थान विचयस्तु ॥ २ ॥

—स्थानांग टीका, स्थान ४, उद्देशा १

अर्थात्—(१) आणा विजए—आज्ञा का विचार, (२) अपाय विजए—दोष का विचार, (३) विवाग विजए—कर्म के शुभाशुभ फल का विचार और (४) संठाण विजए—लोक संस्थान का विचार, ये धर्म ध्यान के शास्त्रीय चार प्रकार हैं।

ध्यान का प्रारम्भ :

ध्यान का प्रारम्भ भावनाओं से होता है। भावनायें चार प्रकार की हैं। (१) एकात्वनुप्रेक्षा—अर्थात् एकाकी भावना। इस एकाकी भावना में एकत्व की भावना का इस प्रकार चिन्तन लिया जाता है :—

एकोऽहं न च मे कश्चित्, नाहमण्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं नासौ भावीति मो मम् ॥ १ ॥

अर्थात् मैं एक हूँ। कोई अन्य ऐसा नहीं है, जिसे मैं अपना कह सकूँ और न मैं स्वयं भी किसी का हूँ। मुझे संसार में ऐसा कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। जितना कि मैं कहा जा सकूँ अथवा जिसको मैं अपना कह सकूँ। मैं स्वयं ही अपने सुख-दुःख का निर्माता हूँ। एकत्वानुप्रेक्षा अर्थात् एकाकी भावना में इस प्रकार आत्मा के एकाकीपन और असहाय रूप का विचार (चिन्तन) किया जाता है।

(२) दूसरी भावना है—अनित्यानुप्रेक्षा—अर्थात् शरीर, संपदा आदि की अनित्यता की भावना। इस दूसरी भावना में शरीर और सम्पत्ति आदि की क्षणभंगुरता एवं अनित्यता पर चिन्तन करना चाहिये कि शरीर के साथ रोग

का अपाय है। सम्पदा आपद् का स्थान है, संयोग वियोग वाला है। जो उत्पन्न होता है, वह सब क्षणभंगुर नाशवान् है।

(३) तीसरी भावना है—अशरणानुप्रेक्षा अर्थात् अशरण की भावना। यथा।—

जन्मजरामरणभयै-रभिद्रुते व्याधि वेदना ग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्यत्र; नास्ति शरणं क्वचिल्लोके॥

अर्थात्—जन्म, जरा, मरण के भय से अति वीभत्स, व्याधि और वेदना से संयुक्त एवं संत्रस्त इस असार संसार में जिनवाणी के अतिरिक्त और कोई अन्य इस आत्मा को शरण देनेवाला एवं इसकी रक्षा करने वाला नहीं है।

(४) चौथी संसारानुप्रेक्षा अर्थात् संसारभावना में निम्नलिखित रूप से संसार के सम्बन्ध में चिन्तन किया जाता है :—

माता भूत्वा दुहिता, भगिनी भार्या च भवति संसारे।
व्रजति सुतः पितृत्वं, भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव॥

संसारानुप्रेक्षा में इस प्रकार की भावना से चिन्तन किया जाता है कि जीव एक जीव की माता बन कर फिर उसी जीव की पुत्री के रूप में जन्म ग्रहण करता है। फिर कालान्तर में वह उस जीव की बहन के रूप में और पुनः भार्या के रूप में जन्म ग्रहण करता है। इस संसार में पुत्र कभी जन्मान्तर में पिता के रूप में, तदनन्तर भाई के रूप में और कभी किसी जन्मान्तर में शत्रु के रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार संसार का कोई नाता अथवा सम्बन्ध स्थिर एवं शाश्वत नहीं है। संसार के सभी सम्बन्ध बदलने वाले हैं, अतः किसी के साथ मोह अथवा ममता के बन्धन में बन्ध जाना सिवा मूर्खता के और कुछ नहीं है।

इस प्रकार की इन एकाकी, अनित्य आदि भावनाओं से तन, धन, वैभव आदि को नाशवान और अशरण भावना द्वारा इनकी अवश्यंभावी विनाश से बचाने में असमर्थ समझने पर, भला बालू की दीवार पर गृह निर्माण की तरह उनकी कोई भी ज्ञानी क्यों चाह करेगा ?

इस तरह संसार के पदार्थों से मोह कम होने पर मन की दौड़ भी स्वतः ही कम और शनैः शनैः समाप्त हो जायगी। मन की चंचलता कम करने का यह पहला उपाय है।

मन की चंचलता कम करने के पश्चात् आगे की दूसरी प्रक्रिया यह है कि एकत्व भाव, संवर, निर्जरा, धर्म एवं बोधि भाव से मन को परिष्कृत करते हुए यह समझाया जाय कि ओ मन ! तेरी श्रद्धा के योग्य इस संसार में केवल एक आत्मदेव के अतिरिक्त और कोई नहीं है। आत्मा और तदनुकूलवृत्ति ही उपादेय एवं हितकर है। मन को यह समझाकर उसे पर-द्रव्य से मोड़ कर आत्मनिष्ठ बनाया जाता है। ज्ञान-बल से सांसारिक (इहलौकिक) पदार्थों को आत्मा से भिन्न पर एवं नश्वर समझ लेने से उनकी ओर का सारा आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह ध्यान साधना की पहली कक्षा अथवा भूमिका है।

ध्यान साधना की दूसरी भूमिका में चिन्तन किया जाता है—"किं मे कडं किं च मे किच्च सेसं ?" अर्थात् मैंने क्या-क्या कर लिया है और मुझे क्या-क्या करना अवशिष्ट है आदि।

तीसरी भूमिका में आत्म-स्वरूप का अनुप्रेक्षण कर स्वरूप रमणता प्राप्त हो जाती है और चतुर्थ भूमिका में राग-रोष को क्षय कर निर्विकल्प समाधि प्राप्त की जाती है।

ध्यान से लाभ :

ज्ञान की अपरिपक्वावस्था में जिस प्रकार एक बालक रंग-बिरंगे खिलौनों को देखते ही कुतूहलवश हठात् उनकी ओर आकर्षित हो, उन्हें प्राप्त करने के लिये मचल पड़ता है, किन्तु कालान्तर में वही प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो परिपक्व समझ हो जाने के कारण उन खिलौनों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। ठीक उसी प्रकार ज्ञानान्धकार से आच्छन्न मन सदा प्रतिपल विषय-कषायों की ओर आकर्षित होता रहता है, परन्तु जब मन को ध्यान-साधना द्वारा बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बना दिया जाता है, तो वही ज्ञान से परिष्कृत मन विषय-कषायों से विमुख हो अध्यात्म की ओर उमड़ पड़ता है और साधक ध्यान की निरन्तर साधना से अन्ततोगत्वा समस्त ग्रन्थियों का भेदन कर शाश्वत सुखमय अजरामर मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

जैन परम्परा की विशेषता :

जैन, वैदिक और बौद्ध आदि सभी परम्पराओं में ध्यान का वर्णन मिलता है। वैदिक परम्परा में पवनजय को मनोजय का प्रमुख साधन माना गया है। उन्होंने यम-नियम आदि को ध्यान का साधन मानकर भी आसन प्राणायाम की तरह इन्हें मुख्यता प्रदान नहीं की है। योगाचार्य पतंजलि ने भी समाधि पाद में मैत्री, करुणा मुदिता और उपेक्षा भाव से चित्त शुद्धि करने पर मनःस्थैर्य का प्रतिपादन किया है। यथा—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् । —योग दर्शन, समाधिपाद, सूत्र ३३

इस प्रकार का शुद्धिकरण पूर्वक स्थिरीकरण सूत्रार्थ-चिन्तन प्रथम प्रहर में और द्वितीय प्रहर में ध्यान अपेक्षित है। रात्रि के कार्यक्रम में भी इसी प्रकार का विधान किया गया है। यह ध्यान सूत्रार्थ के चिन्तन-मनन में ही हो सकता है, न कि चित्त वृत्तियों के नितान्त निरोध के रूप में।

जैन परम्परा की ध्यान परिपाटी के अनुसार किसी एक विषय पर तल्लीनता से चिन्तन करना ध्यान का प्रथम प्रकार है। इसे सविकल्प ध्यान तथा स्थिरैक भाव रूप ध्यान के दूसरे प्रकार को निर्विकल्प ध्यान कहते हैं। शुक्ल ध्यान में ही ध्यान की यह निर्विकल्प दशा हो सकती है। शरीर की अन्यान्य क्रियाओं के चलते रहने पर भी यह ध्यान निर्बाध गति से चलता रहता है, ऐसा जैन शास्त्रों का मन्तव्य है। सविकल्प ध्यान-धर्म ध्यान के आणा विजए, अवाय विजए, विवाग विजए और संठाण विजए—इन चार भेदों का उल्लेख करते हुए पहले बताया जा चुका है कि उनमें क्रमशः आज्ञा, रागादि दोषों, कर्म के शुभाशुभ फस और विश्वाधार भूत लोक के स्वरूप पर विचार विचार किया जाता है तथा निर्विकल्प शुक्ल ध्यान में आत्म-स्वरूप पर ही विचार किया जाता है।

ध्यान के प्रभेद :

प्रकारान्तर से ध्यान के अन्य प्रभेद भी किये गये हैं। जैसे—१. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. स्वरूपस्थ और ४. रूपातीत।

१. पिण्डस्थ ध्यान में—पार्थिवी आदि पंचविध धारणा में मेरुगिरि के उच्चतम शिखर पर स्थित स्फटिक-रत्न के सिंहासन पर विराजमान चन्द्रसम समुज्ज्वल अरिहन्त के समान शुद्ध स्वरूप में आत्मा का ध्यान किया जाता है।

२. दूसरे पदस्थ ध्यान में 'अर्हं' आदि मन्त्र पदों का नाभि या हृदय में अष्टदल—कमल आदि पर चिन्तन किया जाता है।

३. तीसरे रूपस्थ ध्यान में अनन्त चतुष्टय युक्त देवाधिदेव अरिहन्त का चौंतीस अतिशयों के साथ चिन्तन किया जाता है।

निराकार ध्यान को कठिन और असाध्य समझकर जो साधक किसी आकृति विशेष का आलम्बन लेना चाहते हैं, उनके लिये भी अपने इष्ट गुरुदेव की त्याग-विरागपूर्ण मुद्रा का ध्यान सरल और सुसाध्य हो सकता है। इस

प्रकार के ध्यान में वीतराग भाव की साधना करने वाले आचार्य उपाध्याय अथवा साधु सद्गुरु का ध्यान मुद्रा या प्रवचन मुद्रा में चिन्तन करना भी रूपस्थ ध्यान का ही अंग समझना चाहिये।

४. रूपस्थ ध्यान के स्थिर होने पर अमूर्त, अजन्मा और इन्द्रियातीत परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करना रूपातीत ध्यान कहा जाता है। जैसा कि आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है :—

चिदानन्दमयं शुद्ध—ममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
स्मरेद् यत्रात्मनात्मानं, तद्रूपातीतमिष्यते ।।

—ज्ञानार्णव, स० ४०—

इस चौथे—रूपातीत ध्यान में चिदानन्दमय शुद्ध स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

इस प्रकार पिण्डस्थ और रूपस्थ ध्यान को साकार और रूपातीत ध्यान को निराकार ध्यान समझना चाहिये। पदस्थ ध्यान में अर्थ चिन्तन निराकार और अष्टदल-कमल आदि पर पदों का ध्यान करना साकार में अन्तर्हित होता है।

ध्यान में शान्ति :

संसार के प्राणिमात्र की एक ही चिरकालीन अभिलाषा है—शान्ति। धन-सम्पत्ति, पुत्र, मित्र और कलत्र आदि बड़ी से बड़ी सम्पदा, विशाल परिवार और मनोनुकूल विविध भोग सामग्री पाकर भी मानव बिना शान्ति के दुःखी एवं चिन्तित ही बना रहता है। बाहर-भीतर वह इसी एक खोज में रहता है कि शान्ति कैसे प्राप्त हो, किन्तु जब तक काम, क्रोध, लोभादि विकारों का अन्तर में विलय या उन पर विजय नहीं कर लेता तब तक शान्ति का साक्षात्कार सुलभ नहीं। बिना शान्ति के स्थिरता और एकाग्रता नहीं तथा बिना एकाग्रता के पूर्ण ज्ञान एवं समाधि नहीं, क्योंकि ध्यान साधना ही शान्ति, स्थिरता और समाधि का एक मात्र रामबाण उपाय है।

उस शान्ति की प्राप्ति हेतु शास्त्रीय ध्यानपद्धति को आज हमें पुनः सक्रिय रूप देना है। प्रातःकाल के शान्त वातावरण में अर्हत् देव को द्वादशवार वन्दन कर मन में यह चिन्तन करना चाहिये—"प्रभो! काम, क्रोध, भय और लोभादि दोषों से आप सर्वथा अलिप्त हैं। मैं अज्ञानवश इन दोषों में से किन-किन दोषों को नहीं छोड़ सका हूँ; मेरे अन्दर कौनसा दोष प्रबल है?"

फिर दोषों से होने वाले अशुभ फलों का विचार कर दोष-निवारण का दृढ़ संकल्प करना, यह जीवन सुधार का चिन्तन रूप ध्यान है।

रूपस्थ ध्यान का सरलता से अभ्यास जमाने हेतु अपने शान्त-दान्त-संयमी प्रिय गुरुदेव का जिस रूप में उन्हें उपदेश एवं प्रवचन करते देखा है, उसी मुद्रा में उनके स्वरूप का चिन्तन करे कि गुरुदेव मुझे कृपा कर उपदेश कर रहे हैं, आदि। देखा गया है कि अन्तर्मन से गुरु चरणों में आत्म-निवेदन कर दोषों के लिये क्षमायाचना करते हुए भी परम शान्ति और उल्लास प्राप्त किया जा सकता है।

अपने अनुभव :

एक बार की बात है कि मैं तन से कुछ अस्वस्थ था, निद्रा नहीं आ रही थी। बरामदे में चन्द्र की चाँदनी में बाहर बैठा गुरुदेव का ध्यान करते हुये कह रहा था—"भगवन् ! इन दिनों शिष्य के सुख-दुःख कैसे भूल बैठे हो ! मेरी ओर से ऐसी क्या चूक हो गई, जो आपका ज्ञान प्रकाश मुझे इन दिनों प्राप्त नहीं हो रहा है ? क्षमा करो गुरुदेव ! क्षमा करो" कहते-कहते दो बार मेरा हृदय भर आया, नयन छलक पड़े। क्षण भर पश्चात् ही मेरे अन्तर में एक प्रकाश की लहर उठी और हृदय के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गई। मैं अल्पकाल के लिये आनन्द विभोर हो गया।

दूसरी एक वात नसीराबाद छावनी की है। वहाँ एक दिन शरीर ज्वर-ग्रस्त होने से निद्रा पलायन कर रही थी। सहसा सीने के एक सिरे में गहरी पीड़ा उठी। मुनि लोग निद्राधीन थे। मैंने उस वेदना को भुला देने हेतु चिन्तन चालू किया—"पीड़ा शरीर को हो रही है, मैं तो शरीर से अलग हूँ, शुद्ध, बुद्ध अशोक और निरोग। मेरे को रोग कहाँ ? मैं तो हड्डी पसली से परे चेतन रूप आत्मा हूँ। मेरा रोग-शोक-पीड़ा से कोई सम्वन्ध नहीं। मैं तो आनन्दमय हूँ।"

क्षण भर में ही देखता हूँ कि मेरे तन की पीड़ा न मालूम कहाँ विलीन हो गई। मैंने अपने आपको पूर्ण प्रसन्न, स्वस्थ और पीड़ा रहित पाया। देश काल से अन्तरित वस्तु या विषय का भी ध्यान-वल से साक्षात्कार किया जा सकता है।

यह है ध्यान की अनुभूत अद्भुत महिमा।

□ □ □

प्रार्थना : परदा दूर करो

प्रार्थना करने का मुख्य हेतु आत्मा में विद्यमान परन्तु प्रसुप्त व्यक्तियों को जागृत करना है। कल्पना कीजिए, यदि माचिस की तूली से प्रश्न किया जाय कि तू आगपेटी से क्यों रगड़ खाती है, तो क्या उत्तर मिलेगा ? उत्तर होगा—जलने के लिए, अपने तेज को प्रकट करने के लिए।

मनुष्य की चित्तवृत्ति चेतना तूली के समान है और मनुष्य तूली रगड़ने वाले के समान। यहां भी यही प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर चित्तवृत्ति को परमात्मा के साथ क्यों रगड़ा जाता है ? परमात्मा के चरणों के साथ उसे किस लिए घिसा जाता है ? तब साधक का भी यही उत्तर होगा—जलने के लिए अपने तेज को प्रकट करने के लिए।

संसारी जीव ने अपनी तूली (चित्तवृत्ति) को कभी धन से, कभी तन से और कभी अन्य सांसारिक साधनों से रगड़ते-रगड़ते अल्पसत्व बना लिया है। अब उसे होश आया है और वह चाहता है कि तूली की शेष शक्ति भी कहीं इसी प्रकार बेकार न चली जाय। अगर वह शेष शक्ति का सावधानी के साथ सदुपयोग करे, तो उसे पश्चात्ताप करके बैठे रहने का कोई कारण नहीं है उसी बची-खुची शक्ति से वह तेज को प्रस्फुटित कर सकता है, क्रमशः उसे बढ़ा सकता है और पूर्ण तेजोमय भी बन सकता है। वह पिछली तमाम हानि को भी पूरी कर सकता है।

चित्तवृत्ति की तूली को परमात्मा के साथ रगड़ने का विधिपूर्वक किया जाने वाला प्रयास ही प्रार्थना है।

इसके विपरीत जो अब भी होश में नहीं आया है और अब भी अपनी मनोवृत्ति को परमात्मा में न लगा कर धन-जन आदि सांसारिक साधनों में ही लगा रहा है। वह उस मूर्ख के समान है, जिसने पत्थर पर रगड़-रगड़ कर अधिकांश तूलियों को बेकार कर दिया है और बची-खुची तूलियों को भी उसी प्रकार नष्ट करना चाहता है, वह हाथ मलता रह जायेगा।

आत्मा के लिए परमात्मा सजातीय और जड़ पदार्थ विजातीय हैं। सजातीय द्रव्य के साथ रगड़ होने पर ज्योति प्रकट होती है और विजातीय के साथ रगड़ होने से ज्योति घटती है। विश्व के मूल में जड़ और चेतन दो ही

तत्त्व हैं। चेतन का चेतन के साथ सम्बन्ध होना सजातीय रगड़ है और जड़ के साथ सम्बन्ध होना विजातीय रगड़ है।

ज्ञानी पुरुषों के साथ तत्त्वविमर्श करने से ज्ञान की वृद्धि होती है। उनके साथ किया हुआ विचार-विमर्श संवाद कहलाता है और जब मूर्खों के साथ माथा रगड़ा जाता है, तो वह विवाद का रूप धारण कर लेता है और शक्ति का वृथा क्षय होता है, कलह, क्रोध और हिंसा की वृद्धि होती है, तकरार बढ़ती है और स्वयं की शांति भी समाप्त हो जाती है। अतएव हमारी प्रार्थना का ध्येय है—जिन्होंने अज्ञान का आवरण छिन्न-भिन्न कर दिया है, मोह के तमस को हटा दिया है। अतएव जो वीतरागता और सर्वज्ञता की स्थिति पर पहुँचे हैं, जिन्हें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वल और अनन्त शांति प्राप्त हुई है, अनन्त सुख सम्पत्ति का भण्डार जिनके लिए खुल गया है। उन परमात्मा के साथ रगड़ खाना और इसका आशय है—अपने अन्तर की ज्योति को जगाना।

वह ज्योति कहीं से उधार खरीद कर नहीं लानी पड़ती, यह आत्मा में ही विद्यमान है; मगर आवरणों की सघनता के कारण वह दबी हुई है, छिपी हुई है। उसे ऊपरी दृष्टि से हम देख नहीं पाते। तिल के दाने में तेल मौजूद है, मगर उसकी अभिव्यक्ति के लिए रगड़ की आवश्यकता होती है। बिना रगड़ के वह नहीं निकलता। तिल के दानों को लेकर बच्चा यदि किसी पत्थर से धमाधम कूटने लगे तो भी क्या होगा? तब भी वह ठीक तरह से नहीं निकलेगा। वह काम नहीं आ सकेगा। इसी प्रकार दूध में मक्खन है, दही में मक्खन है और दियासलाई में आग मौजूद है। फिर इन सबको रगड़ की अपेक्षा रहती है, मंथन की अपेक्षा रहती है।

मगर मँथने की भी एक विशिष्ट विधि होती है। ठीक मथनी हा और जानकार मंथन करने वाला हो, तो ही दही में से मक्खन निकलता है। अगर आपको मथनी पकड़ा दी जाय, तो मक्खन निकाल सकेंगे? नहीं, जो मंथन-क्रिया में अकुशल हैं, वह नहीं निकाल सकता। यद्यपि दूध-दही में मक्खन दीखता नहीं है, फिर भी कुशल मंथनकर्ता कुछ ही मिनटों में विधिपूर्वक मथानी घुमा कर मक्खन निकाल लेता है।

प्रार्थना भी मथनी घुमाना है; मगर जैसा कि अभी कहा गया, वह विधिपूर्वक होना चाहिए। सर्वप्रथम तो उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। जैसे मथनी घुमाने का उद्देश्य नवनीत प्राप्त करना है, उसी प्रकार प्रार्थना का उद्देश्य परमात्मभाव रूप मक्खन को प्राप्त करना है। मन्थनध्वनि के समान जब

प्रार्थना की वाणी प्रस्फुटित होती है और जब विधिपूर्वक मन-मथानी से मन्थन किया जाता है, तब परमात्मभाव रूप नवनीत प्राप्त होता है।

जैसे दही नवनीत सजातीय है; उनके मूल में अन्तर नहीं है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा मूलतः एक ही है। जैन दर्शन आत्मा की अलग और परमात्मा की अलग जाति स्वीकार नहीं करता। फिर भी दोनों के परिणमन पृथक-पृथक हैं। इस पार्थक्य को दूर करना ही साधना और प्रार्थना का प्रयोजन है। जिसे विधिपूर्वक मनोमन्थन करने से मक्खन मिल गया है, वह परमात्मा है और जो उस मक्खन को प्राप्त नहीं कर पाया है, वह आत्मा है। जिस आत्मा में ज्ञान-आनन्द रूप नवनीत को प्राप्त करने की प्रबल भावना जाग उठी है, वह साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण होता है। वह परमात्मा के चरणों का शरण ग्रहण करके उसके स्वरूप का और फिर स्वरूप के माध्यम से निजस्वरूप का चिन्तन करता है, स्मरण करता है, उसमें तल्लीन होकर रमण करता है और इस प्रकार अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप को विकसित और प्राप्त कर लेता है।

साधक इस उद्देश्य को समक्ष रख कर जब साधना के क्षेत्र में पाँव रखता है, तो उसके मन में से संकोच हट जाता है। वह यह नहीं सोचता कि मैं पूर्ण विशुद्ध स्वरूप के साथ रगड़ खाने का कैसे अधिकारी हो सकता हूँ; वह बिलकुल निष्कलंक और मैं कलंक-कालिमा से पुता हुआ! मुझ में काम, क्रोध, मन, मोह, मान, माया आदि दोष हैं, विविध प्रकार की अज्ञानमय वृत्तियाँ वर्तमान हैं। मैं उस शिवस्वरूप सिद्धस्वरूप के साथ कैसे रगड़ खाऊँ! मेरी-उसकी क्या समता है?

पर नहीं, साधक और प्रार्थी जब अपने को परमात्मा के चरणों में रगड़ने के लिए प्रस्तुत करता है, तो कहता है—प्रभो! मेरी वर्तमान योग्यता को नहीं देखना है, बल्कि मेरी शक्ति को देखना है। आपको जिस शक्ति की अभिव्यक्ति हो चुकी है, सत्ता रूप में वही मुझ में है। मगर वह सोई हुई शक्ति आप के साथ टक्कर किये बिना जागती नहीं है। इसी विश्वास और इसी आशा से मैं आपके चरणों में प्रस्तुत हुआ हूँ।

लोहे का टुकड़ा स्वर्ण बनने के लिए और मूल्यवान् बनने के लिए जैसे पारस के पास पहुँचता है और हीरे का कण अपनी चमक बढ़ाने के लिए कसौटी के निकट पहुँचता है, उसी तरह मैं भी, हे प्रभो! तेरे पास आया हूँ। अतएव—

प्रभु मेरे अवगुण चित्त न धरो,
स्वामी मेरे अवगुण चित्त न धरो।
समदर्शी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो।
प्रभु मेरे० ॥

इक लोहा ठाकुर पूजा में,
इक घर बधिक पर्यो।
पारस गुण अवगुण न विचारे,
कंचन करत खरो ॥ प्रभु मेरे० ॥

क्या कहता है भक्त अपने को अर्पित करता हुआ ? वह अन्तःकरण को खोल कर, निष्कपट भाव से प्रभु के चरणों में उंडेल देता है। कहता है—प्रभो ! तुम समदर्शी कहलाते हो। कोई कुल की दृष्टि से, कोई बल की दृष्टि से, कोई सत्ता और अधिकार आदि की दृष्टि से किसी को ऊँचा और किसी को नीचा समझता है। मगर तुम तो किसी को ऊँचा और किसी को नीचा नहीं मानते। तुम्हारा यह स्वभाव ही नहीं है। तुम तो जीव के मूल स्वभाव को जानते हो। तुम्हारा सिद्धान्त तो यही बतलाता है कि उस बच्चे में भी जिसे लिखना, पढ़ना अथवा बोलना भी नहीं आता, अनन्त ज्ञान का भण्डार भरा है, उसमें भी अनन्त ज्ञानी और परमज्योतिर्मय देव विराजमान हैं।

और बालक की बात भी छोड़िए। आखिर वह भी मनुष्य है और पाँच इन्द्रियों का तथा मन का धनी है। उससे भी छोटे और नीचे स्तर के जीवधारियों को लें। एक कीड़े को लें या एकेन्द्रिय जीव पर ये ही विचार करें। उसकी चेतना एक दम सुषुप्त है, वह रोना नहीं जानता, हँसना भी नहीं जानता, चलना फिरना भी नहीं जानता। फिर भी उसमें परमात्मिक शक्तियाँ विद्यमान हैं। वही शक्तियाँ जो आदिनाथ में, पार्श्वनाथ में और महावीर में हैं।

तो भक्त कहता है—

समदर्शी है नाम तिहारो।

प्रभो ! आप समदर्शी कहलाते हैं, तो मुझे भी पार कर दो, मुझे भी उसी पूर्णता पर पहुँचा दो।

कोई कह सकता है—अरे तू पार करने की मांग करता है परन्तु जरा अपनी ओर तो देख ! अपने रूप को देख कि तू कैसा है ?

प्रार्थी कहता है—भाई, बात तुम्हारी सच्ची है। मैं अशुद्ध हूँ। कलंकित हूँ, कल्मषग्रस्त हूँ, मगर यह भी तो सत्य है कि कि ऐसा होने के कारण ही यह प्रार्थना कर रहा हूँ। अशुद्ध न होता तो शुद्ध होने की प्रार्थना क्यों करता ? कलंकित न होता तो निष्कलंक होने की प्रार्थना क्यों करता ? जो शुद्ध है, बुद्ध है और पूर्ण है, उसे प्रार्थना की दरकार ही नहीं होती।

एक छोटा सा नाला अत्यन्त गंदले पानी का नाला, जब गंगा की धारा के साथ मिलता है और गंगा उसे थोड़ी दूर तक संग-संग ले जाती है, तो वह गंदा पानी, गटर का पानी भी गंगाजल बन जाता है। उसकी मलिनता गंगाजल से धुल जाती है। मगर ऐसा होगा तभी जब वह कुछ क्षणों तक गंगा के साथ मिल कर चलेगा।

तो प्रार्थना में हमें क्या करना है ? परमात्मा के स्वरूप के साथ मिलकर चलना है।

प्रार्थना में आप बोलते रहे कि—प्रभो ! आप में राग नहीं, द्वेष नहीं, रोष नहीं, आप वीतराग हैं, परन्तु आपका रंग भगवान् के रंग में न मिल रहा हो, आप उनके शब्दों के साथ न चल रहे हों, तो वैसी निर्मलता आप कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? अगर आप गंगा रूप बनना चाहते हैं तो अपने आपको गंगा जी की धारा में परमात्मस्वरूप में मिलाकर कुछ समय तक संग-संग चलना पड़ेगा। ऐसा किया तो आपकी मलिनता दूर हो जाएगी और आप में निर्मलता आ जाएगी।

अगर हम अपने अन्तःकरण को परमात्मा में मिला कर एकरूप नहीं कर लेते, आत्मा और परमात्मा के बीच व्यवधान बना रहने देते हैं, तो दस, बीस वर्ष तक क्या, असंख्य जन्मों तक पचने पर भी परमात्मामय नहीं बन सकते। हमारी मलिनता दूर नहीं हो सकती। वह तो तभी दूर होगी जब दोनों के बीच का पर्दा हट जाय, दोनों में कोई व्यवधान न रह जाय और हम अपने चित्त को परमात्मा के विराट् स्वरूप में तल्लीन कर दें।

कुछ दिन पहले अर्जुनमाली का उदाहरण आपके सामने रक्खा था। वह छह महीनों तक भयानक हिंसाकृत्य में रचा-पचा रहा, मगर जब भगवान् महावीर के चरणों में जा पड़ा और उनकी विचारधारा में मिल कर बहने लगा, अपना आपा खोकर तन्मय हो गया तो उसे शुद्ध-बुद्ध और निर्मल होते क्या देर लगी ? सारा मैल धुल गया।

इसी प्रकार आप भी अपने अन्त:करण को वीतराग-स्वरूप के साथ संजो कर और बीच के समस्त पर्दों को हटा कर चलोगे तो वीतराग बन जाओगे प्राचीन सन्त ने कहा है—

मैं जानूं हरि दूर है, हरि हिरदे के मांहि।
आड़ी टाटी कपट की, तासें सूझत नांहि ॥

भगवान् बहुत दूर नहीं हैं, बल्कि अत्यन्त निकट हैं। प्रश्न होता है कि निकट हैं, तो दिखाई क्यों नहीं देते ? इस प्रश्न के उत्तर में सन्त कहता है—दोनों के बीच एक टाटी खड़ी है—परदा पड़ा हुआ है, इसी कारण वह दिखाई नहीं देता। अगर परदा हट जाय तो वह दिखाई देने लगेगा। यही नहीं, अपने ही भीतर प्रतिभासित होने लगेगा।

जीव शिव से मिलने गया—परमात्मा से मिलने चला परन्तु परदा रख कर चला तो ? उसने समझा—मैं बड़ा साधक हूँ, बड़ा ज्ञानी हूँ, धनी हूँ, ओहदेदार हूँ। इस प्रकार माया का परदा रख कर गया और इस रूप में भले ही वीतराग के साथ प्रार्थना की, रगड़ की, तब भी क्या वीतरागता प्राप्त की जा सकेगी ? नहीं, क्योंकि बीच में परदा जो रह गया है। परदे की विद्यमानता में रगड़ से आप जो ज्योति जगाना चाहते हैं, वह नहीं जाग सकती। अतएव परदे को हटाना आवश्यक है। आप ऐसा करेंगे तो परम शान्ति पा सकेंगे, परम ज्योति जगा सकेंगे, परमानन्द प्राप्त कर सकेंगे।

अमृत-करण

- प्रभु की प्रार्थना साधना का ऐसा अंग है, जो किसी भी साधक के लिए कष्टसाध्य नहीं है। प्रत्येक साधक, जिसके हृदय में परमात्मा के प्रति गहरा अनुराग है, प्रार्थना कर सकता है।

- जो मानव आत्मदेव की प्रार्थना करता है, वह शिव-शक्ति का अधिकारी बन जाता है। एक बार शिव-शक्ति की उपलब्धि हो जाने पर प्रार्थी कृतार्थ हो जाता है और उसे प्रार्थना की भी आवश्यकता नहीं रह जाती।

—आचार्य श्री हस्ती

अहिंसा-तत्त्व को जीवन में उतारें

परम मंगलमय जिनेश्वर देव का जब-जब स्मरण किया जाता है, मन से विकारों का साम्राज्य एक तरह से बहिष्कृत हो जाता है। विकारों को निर्मूल करने का साधन अपनाने से पहले उसका आदर्श हमारे सामने होना चाहिये।

व्यवहार मार्ग में भी आदर्श काम करता है और अध्यात्म मार्ग में भी आदर्श काम करता है। चलने के लिये, यदि हमको चलकर राह पार करनी है तो कैसे चलना, किधर से चलना और आने वाली बाधाओं का कैसे मुकाबला करना, उसके लिये व्यक्ति को कुछ आदर्श ढूँढ़ने पड़ते हैं।

हमारी अध्यात्म साधना का और विकारों पर विजय मिलाने का आदर्श जिनेन्द्र देव का पवित्र जीवन है। वैसे ही आप सांसारिक जीवन में हों, राजनीतिक जीवन में हों या घरेलू जीवन में हों, उसमें भी मनुष्य को कुछ आदर्श लेकर चलना पड़ेगा।

भ० महावीर ने हजारों वर्ष पहले जो मार्ग अपनाया, उसे तीर्थंकर देव की स्तुति करके शास्त्रीय शब्दों में इस प्रकार कहा गया है—"अभयदयाणं, चक्खुदयाणं।" यह बढ़िया विशेषण है और अब अपने सामने चिन्तन का विषय है।

वास्तव में दूसरे को अभय वही दे सकता है, जो पहले स्वयं अभय हो जाय। खुद अभय हो जायगा, वही दूसरों को अभय दे सकता है। और खुद अभय तभी होगा जब उसमें हिंसा की भावना न रहेगी।

अष्टांग योग :

हमारे यहां एक साधना प्रिय आचार्य हुए हैं, पतंजलि ऋषि। उन्होंने अष्टांग योग की साधना मुमुक्षुजनों के सामने रखी। अष्टांग योग में पहला है—यम, फिर नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम पांच प्रकार के हैं। अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। सबने पहला स्थान अहिंसा को दिया गया है। उन्होंने कहा कि जब तक अहिंसा को साध्य बनाकर नहीं चलोगे, तब तक आत्मा को, समाज को, राष्ट्र [illegible] किसी को कुछ मुक्त नहीं कर सकोगे। अहिंसा एक ऐसी चीज है, [illegible] आवश्यक है।

अहिंसा का लाभ बताया कि अहिंसा क्यों करनी चाहिये। पतंजलि के शब्दों में ही आपसे कहूँगा, "अहिंसा प्रतिष्ठायां वैरत्यागः।" यदि आप चाहते हैं कि दुनिया में आपका कोई दुश्मन न रहे, आपका कोई दुश्मन होगा, तो आप चैन की नींद सो सकेंगे क्या ? यदि पड़ौसी द्वेष भावना से सोचता होगा, तो आपको नींद नहीं आयेगी। राजनीतिक क्षेत्र में, समाज के क्षेत्र में, धन्धे बाड़ी के क्षेत्र में भी आप चाहेंगे कि दुश्मन से मुक्त कैसे हों ? मुक्ति की तो बहुत इच्छा है, लेकिन कर्मों की मुक्ति करने से पहले संसार की छोटी मोटी मुक्ति तो करलो।

संसार चाहता है कि पहले गरीबी से मुक्त हों। आप लोग इण वास्ते ही तो जूंझ र्या हो। यदि देश पराधीन है तो सोचोगे कि गुलामी से मुक्त होना चाहिये। अंग्रेजों के समय में अपने को क्या दुःख था ? भाई-बहिनों को और कोई दुःख नहीं था, सिर्फ यही दुःख था कि मेरा देश गुलाम है। आप जैसे मान रहे हैं वैसे ही गाँधीजी को क्या दुःख था ? उनको खाने-पीने का, पहनने का दुःख नहीं था, सिर्फ यही दुःख था कि मेरा देश गुलाम है। उन्होंने सोचा कि गुलामी से मुक्त होने के दो तरीके हैं। एक तरीका तो यह है कि जो हमको गुलाम रखे हुए हैं, उनके साथ लड़ें, झगड़ें, गालियाँ दें, उनके पुतले जलावें। दूसरा तरीका यह है कि उनको बाध्य करें, हैरान करें, चेतावनी दें। उनको विवश करदें। उनको यह मालूम हो जाय कि उनके आधीन रहनेवालों में से उन्हें कोई नहीं चाहता है इसलिये अब उन्हें जाना पड़ेगा। इन दोनों रास्तों में से कौनसा रास्ता अपनाना चाहिए ?

अहिंसा की भूमिका :

गाँधी ने इस पर बड़ा चिन्तन किया। शायद यह कह दिया जाय तो भी अनुचित नहीं होगा कि महावीर की अहिंसा का व्यवहार के क्षेत्र में उपयोग करने वाले गाँधी थे। संसार के सामने उसूल के रूप में अहिंसा को रखने वाले महावीर के बाद में वे पहले व्यक्ति हुए। अहिंसा का व्यवहार के क्षेत्र में कैसे उपयोग करना ? घर में इसका कैसे व्यवहार करना ? पड़ोसी का कलह अहिंसा से कैसे मिटाना ? यह चिंतन गाँधीजी के मन में आया। उन्होंने सोचा कि हमारे लिए यह अमोघ शस्त्र है। हमारे गौरांग प्रभु के पास में तोपें हैं, टैंक हैं, सेना है, तबेला है और हमारे पास में ये सब नहीं हैं।

अब इनको कैसे जीतना, कैसे भगाना, कैसे हटाना और देश को मुक्त कैसे करना ? यदि आपकी जमीन किसी के हाथ नीचे दब गई है तो आप क्या करोगे भाई ? आपको शस्त्र उठाना नहीं आता, चलाना नहीं आता, तो पहले आप उसको नरमाई के साथ कहोगे। इस पर नहीं मानता है तो धमकी दोगे,

इससे भी काम नही चलेगा, तो राज्य की अदालत में कानूनी कार्यवाही करोगे, दावा करोगे। नतीजा यह होगा कि इस पद्धति से काम करते वर्षों बीत जायेंगे। इससे काम नहीं चलेगा।

गाँधीजी ने अहिंसा का तरीका अपनाया। सबसे पहले उन्होंने कहा कि मैं अहिंसा को पहले अपने जीवन में उतारूं। भ० महावीर ने जिस प्रकार अहिंसा को समझा, समाज के जीवन में और विश्व के सम्पूर्ण प्राणी मात्र के जीवन में काम आने वाला अमृत बताया और यह बताया कि अहिंसा का अमृत पीने वाला अमर हो जाता है, जो अहिंसा का अमृत पीयेगा वह अमर हो जायेगा। उसी अहिंसा पर गाँधीजी को विश्वास हो गया। गाँधीजी के सामने भी देश को आजाद करने के लिये विविध विचार रहे। देश की एकता और आजादी मुख्य लक्ष्य था। देश में विविध पार्टियाँ थी। इतिहास के विद्यार्थी जानते होंगे कि आपसी फूट से देश गुलाम होता है और एकता से स्वतंत्र होता है। देश गुलाम कैसे हुआ? फूट से।

देश में राजा-महाराजा, रजवाड़े कई थे जिनके पास शक्ति थी, ताकत थी, जिन्होंने बड़े-बड़े बादशाहों का मुकाबला किया। छत्रपति शिवाजी कितने ताकतवर थे। राजस्थान को वीरभूमि बताते हैं। वहाँ पर महाराणा प्रताप, दुर्गादास राठौड़ जैसे बहादुर हुए जिन्होंने आँख पर पट्टी बाँधकर शस्त्र चलाये और बड़े-बड़े युद्धों में विजय पाई, अपनी आन रखी। ऐसे राजा-महाराजाओं के होते हुए भी देश गुलाम क्यों हुआ? एक ही बात मालूम होती है कि देश में फूट थी। ताकतवर ने ताकतवर से हाथ मिलाकर, गले से गला मिलाकर, बाँह से बाँह मिलाकर काम करना नहीं सीखा, इसलिये बादशाहों के बाद गौरांग लोग राजा हो गये। उन्होंने इतने विशाल मैदान में राज्य किया कि सारा भारतवर्ष अंग्रेजों के अधीन हो गया। मुगलों से भी ज्यादा राज्य का विस्तार अंग्रेजों ने किया। इतने बड़े विस्तार वाले राज्य के स्वामी को देश से हटाना कैसे?

अहिंसा की सीख :

लेकिन गांधीजी ने देखा कि अहिंसा एक अमोघ शस्त्र है। अहिंसा क्या करती है? पहले प्रेम का अमृत सबको पिलाती है। प्रेम का अमृत जहाँ होगा वहाँ पहुँचना पड़ेगा। आप विचार की दृष्टि से मेरे से प्रवचन सोचने वाले हों तब भी आप सोचेंगे कि महाराज और हम [illegible] एक ही हैं, [illegible] के पथिक हैं। मैं भी इसी दृष्टि से सोच रहा हूँ और मैं भी इसी दृष्टि [illegible] रहे हैं। हम दोनों की एक ही राह [illegible] है। ऐसा सोचकर प्यार

के पास आओगे। आप एक दूसरे का आदर करना सीख लो तो कोई मतभेद की बात ही नहीं रहती। यह भूमिका अहिंसा सिखाती है।

गाँधीजी ने अहिंसा की भूमिका को भ० महावीर की कृपा से प्राप्त किया। उनका सिद्धान्त कठिन होने पर भी उसे मानकर इस अमृत को गाँधीजी ने पिया। उन्होंने सोचा कि देश और देशवासियों को हमें गुलामी से मुक्त कराना है।

सुभाष भी यही चाहते थे और गाँधी भी यही चाहते थे। सुभाष और गाँधीजी का उद्देश्य एकसा था। सुभाष ने कहा कि मेरा भारतवर्ष आजाद हो, गाँधीजी भी चाहते थे कि देश आजाद हो। तिलक भी चाहते थे कि देश आजाद हो। गोखले भी चाहते थे कि देश आजाद हो। अन्य नेता लोग भी चाहते थे कि देश आजाद हो।

आज कोई कहे कि शान्ति और क्रान्ति दोनों में मेल कैसे हो सकता है? आज कहने को तो कोई यह भी कह सकता है कि गाँधीजी की अहिंसा की नीति दब्बूपन और कायरता की थी। सुभाष की क्रान्ति की नीति से, सेना की भावना में परिवर्तन हो गया। सैनिकों ने विद्रोह मचा दिया, इसलिये अंग्रेजों को जाना पड़ा।

कहने वाले भले ही विविध प्रकार की बातें कहें, लेकिन मैं आपसे इतना ही पूछूंगा कि क्या गाँधीजी और सुभाष के विचारों में भेद होते हुए भी सुभाष और उनके साथियों ने कभी अपने शब्दों में गाँधीजी का तिरस्कार करने की भावना प्रगट की? उन्होंने अपने भाषणों में ऐसी बात नहीं कही। यदि उनके विचारों में टक्कर होती तो फूट पड़ जाती और ऐसी स्थिति में देश आजाद हो पाता क्या? नहीं। गाँधीजी अपने विचारों से काम करते रहे और सुभाष अपने विचारों से काम करते रहे। शौकतअली, मोहम्मदअली आदि मुस्लिम नेता भी आजादी की लड़ाई में पीछे नहीं रहे। वे भी कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रहे थे।

मैं जब वैराग्य अवस्था में अजमेर में था, तब गाँधीजी, हिन्दू, मुस्लिम, सिख आदि समुदायों के नेता, शान्त-क्रान्ति के विचार वाले वहाँ एक मंच पर एकत्रित हुए थे। सबके साथ आत्मीयता का सम्बन्ध था। गाँधीजी सोचते थे कि ये सब मेरे भाई हैं। देश को मुक्त कराने के लिये हम सब मिलकर काम कर सकते हैं। इसीलिये देश गुलामी से मुक्त हुआ। कैसे हुआ? देश की आजादी के विषय में विविध विचार होते हुए भी बुद्धिजीवियों की शृंखला जुड़ी और

बुद्धिजीवियों की शृंखला से सब संस्थाएँ और सब वर्ग एक उद्देश्य के साथ देश की मुक्ति के लिये जूझ पड़े और अंग्रेजों को बाध्य होकर देश छोड़कर यहाँ से जाना पड़ा।

यह इतिहास की कड़ी यहाँ बतादी है। देश आजाद हुआ। किससे? अहिंसा, प्रेम और बंधु भावना की एक शक्ति के द्वारा देश आजाद हुआ, गुलामी से मुक्त हुआ। और देश परतंत्र क्यों हुआ? आपसी लड़ाई-झगड़ों से।

अहिंसा-तत्त्व को जीवन में उतारें :

यदि आप अहिंसा सप्ताह मनाते हैं। गाँधी जयन्ती की अपेक्षा से अहिंसा सप्ताह मनाते हैं, तो उसमें भाषण होंगे, प्रार्थना होगी, चर्खा कताई वगैरह होगी, ऐसे विविध प्रकार के कार्यक्रम देश के हजारों, लाखों लोग करते होंगे। लेकिन मैं कहता हूँ कि सब के साथ मिल भेंट कर अहिंसा तत्त्व को आगे बढ़ाने के लिये आप क्या कर रहे हैं? महावीर ने धर्म क्षेत्र में अहिंसा को अपनाने की शिक्षा दी। गाँधी ने राज्य क्षेत्र में अहिंसा को अपनाने की प्रयोगात्मक शिक्षा दी। महावीर ने अहिंसा के द्वारा आत्मशुद्धि करने का बारीक से बारीक चिन्तन किया। लेकिन गाँधी ने चिन्तन किया कि घर गृहस्थी के मामलों को भी अहिंसा हल कर सकती है। अहिंसा के द्वारा कोई भी बात चाहे समाज की हो या घर की, हल की जा सकती है। जिसके घर में अहिंसा के बजाय हिंसा होगी, प्रेम के बजाय फूट होगी, वहाँ शक्ति, समृद्धि, मान, सम्मान सब का ह्रास होगा। उनका जीवन काम करने के लिये आगे नहीं बढ़ पायेगा। इसलिये महावीर का अहिंसा सिद्धान्त देश में समस्त मानव जाति को सिखाना होगा, अमली रूप में लाना होगा। सभी लोग इसे अमल में लावें, उससे पहले महावीर के भक्त इसको अपनावें, यह सबसे पहली आवश्यकता है। लेकिन महावीर के भक्तों को अभी अपनी वैयक्तिक चिन्ता लग रही है। सबके हित की बात तो बोल जाते हैं, लेकिन करने के समय अपना घर, अपनी दुकान, अपना धन्धा, अपने बाल-बच्चों की व्यवस्था आदि के सामने दूसरी बातों की ओर देखने की फुरसत नहीं है। चाहे देश और प्रदेश का अहित हो रहा हो, अहिंसा के बजाय हिंसा बढ़ती हो, तो भी उसके प्रतिकार के लिये सौम्य तरीके से आगे कदम नहीं बढ़ा सकते। आप सोचते हैं कि ओ काम आपां रो थोड़े ही है, बिगड़े तो राज रो बिगड़े और सुधरे तो राज रो सुधरे। इसलिये ये समस्याएँ ज्यों की त्यों रह जाती हैं। बोलने में रह जाती हैं, करनी में नहीं आती।

अखबारों में खबर आती है कि दिल्ली में २८ करोड़ की लागत से नया कत्लखाना खोला जा रहा है। वहाँ पर वैज्ञानिक तरीके से जीवों की हिंसा होगी। अहिंसा के सिद्धान्त को माननेवाले देश हिंसा की ओर बढ़ रहे हैं। देश

की सरकार अहिंसक कहलाने वाली गाँधीवादी सरकार है। गाँधीवादी सरकार में अहिंसा का तत्त्व कितना व्यापक होना चाहिये। गाँधीवादी सरकार कितने शुद्ध विचारों के साथ आगे आने का प्रयत्न कर रही है, यह देखने की बात है। सबसे पहले जैन कार्यकर्ताओं में से इस प्रकार की सच्ची नीति अपनाने वाले लोग आगे आवें। इस बात की देश के लिये बहुत बड़ी आवश्यकता है। इस अहिंसा तत्त्व को देश आसानी से समझे। सार्वजनिकसेवा करने वाले लोग व्यक्तिगत स्वार्थ को भुलाकर, ममत्व को भुलाकर देखें कि गाँधी जैसे व्यक्ति देश के लिये बलि हो गये, गोली खाकर मर गये, लेकिन उन्होंने अहिंसा तत्त्व को अन्त तक नहीं छोड़ा। मरते समय उनके मुँह से राम निकला। जहाँ ऐसा नमूना हमारे सामने है, वहां जैन समाज और भारत के अहिंसक समाज के लोगों को कितना उच्च शिक्षण लेना चाहिये। यदि आप अहिंसा के सिद्धान्त को अमली रूप देकर विश्व प्रेम की ओर बढ़ेंगे, तो आपका वास्तव में अहिंसा सप्ताह मनाना सार्थक होगा।

एक व्यावहारिक काम देश के अहिंसा प्रेमियों के सामने यह आता है कि गाँधी सप्ताह में भी यदि कत्लखाने बन्द नहीं हों, हमारे प्राणी जो मानव समाज के लिये पोषक हैं, उन पशुओं में, गाय, भैंस, बकरे, बकरियाँ आदि जानवरों का वध इन कत्लखानों में हो और गाँधी सप्ताह के दिनों में जैन समाज के लोग, हिन्दू समाज के लोग, राम और कृष्ण को मानने वाले लोग यदि इसको रोकने की ओर कदम नहीं बढ़ा सके, तो यह कैसी बात मानी जायगी ? अहिंसा का खाली गुणगान ही करते हैं, लेकिन उनको अहिंसा में विश्वास नहीं है। मैं चाहूँगा कि हमारे जैन समाज के लोग इस दिशा में भी कदम बढ़ावें और समाज की शक्ति को अहिंसा के मैदान में लगावें। जब कभी सामाजिक बुराइयाँ मिटानी हों, राष्ट्र की बुराइयाँ मिटानी हों, तब आप कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ें।

पश्चिमी देश फ्रान्स में एक व्यक्ति जंगली जानवरों तक से प्यार करने वाला हुआ। उसकी स्मृति में प्राणी दिवस मनाया जाता है। अनार्य देश के लोग अहिंसा का आदर करते हैं और अहिंसक देश हिंसा में विश्वास करने वाला बनता जा रहा है। हमने जब सतारा में चातुर्मास किया था, तब फ्रांस के उस प्राणी रक्षक भाई के बारे में बहुत कुछ सुना था। कम-से-कम जैन समाज के लोग दया और अहिंसा को अमली रूप देवें। खुद के जीवन को भी ऊँचा उठावें और जो आपके सम्पर्क में आवें, उनके जीवन को भी ऊँचा उठावें। देश और समाज को ऊँचा उठाने के साथ, विश्व प्रेम और अहिंसा के विचारों में तेजस्विता ला सकें, तो सबके लिये कल्याण की बात होगी। जो ऐसा करेगा वह इस लोक और परलोक में शांति, आनन्द और कल्याण प्राप्त करने का अधिकारी होगा। □

[८]

जीवन का ब्रेक—संयम

चेतना : आत्मा का स्वाभाविक गुण :

आत्मा का स्वाभाविक गुण चैतन्य है। वह अनन्त ज्ञान-दर्शन का पुंज-परमज्योतिर्मय, आनन्दनिधान, निर्मल, निष्कलंक और निरामय तत्त्व है, किन्तु अनादिकालीन कर्मावरणों के कारण उनका स्वरूप आच्छादित हो रहा है। चन्द्रमा मेघों से आवृत होता है, तो उसका स्वाभाविक आलोक रुक जाता है, मगर उस समय भी वह अमूल नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा के सहज ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं, आवृत हो जाने पर भी उनका समूल विनाश नहीं होता। वायु के प्रबल वेग से मेघों के छिन्न-भिन्न होने पर चन्द्रमा का सहज आलोक जैसे चमक उठता है, उसी प्रकार कर्मों का आवरण हटने पर आत्मा के गुण अपने नैसर्गिक रूप में प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार जो कुछ प्राप्तव्य है, वह सब आत्मा को प्राप्त ही है। उसे वाहर से कुछ ग्रहण करना नहीं है। उसका अपना भण्डार अक्षय और असीम है।

साधना : भीतरी निधि पाने का प्रयास :

वाहर से प्राप्त करने के प्रयत्न में भीतर का खो जाता है। यही कारण है कि जिन्हें अपनी निधि पाना है, वे वड़ी से वड़ी वाहर की निधि को भी ठुकरा कर अकिंचन वन जाते हैं। चक्रवर्ती जैसे सम्राटों ने यही किया है और ऐसा किये विना काम चल भी नहीं सकता। वाह्य पदार्थों को ठुकरा देने पर भी अन्दर के खजाने को पाने के लिए प्रयास करना पड़ता है। यह प्रयास साधना के नाम से अभिहित किया गया है।

साधना के दो अंग : संयम और तप :

भगवान महावीर ने साधना के दो अंग वतलाये हैं—संयम और तप। संयम का सरल अर्थ है—अपने मन, वचन और शरीर को नियंत्रित करना, इन्हें उच्छृंखल न होने देना, कर्मवन्ध का कारण न वनने देना। मन से अशुभ चिन्तन करने से, वाणी का दुरुपयोग करने से और शरीर के द्वारा अप्रशस्त कृत्य करने से कर्म का वन्ध होता है। इन तीनों साधनों को साध लेना ही साधना का प्रथम अंग है। जब इन्हें पूरी तरह साध लिया जाता है, तो कर्मवन्ध

रुक जाता है। नया कर्मबन्ध रोक देने पर भी पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता बनी रहती है। उनसे पिण्ड छुड़ाने का उपाय तपश्चर्या है। तपश्चर्या से पूर्वबद्ध कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

भगवान् महावीर ने तपश्चर्या को विशाल और आन्तरिक स्वरूप प्रदान किया है। साधारण लोग समझते हैं कि भूखा रहना और शारीरिक कष्टों को सहन कर लेना ही तपस्या है, किन्तु यह समझ सही नहीं है। इन्द्रियों को उत्तेजित न होने देने के लिए अनशन भी आवश्यक है, ऊनोदर अर्थात् भूख से कम खाना भी उपयोगी है, जिह्वा को संयत बनाने के लिए अमुक रसों का परित्याग भी करना चाहिए, ऐश-आराम का त्याग करना भी जरूरी है, और इन सब की गणना तपस्या में हैं, किन्तु सत्साहित्य का पठन, चिन्तन, मनन करना, ध्यान करना अर्थात् बहिर्मुख वृत्ति का त्याग कर अपने मन को आत्म-चिन्तन में संलग्न कर देना, उसकी चंचलता को दूर करने के लिए एकाग्र बनाने का प्रयत्न करना, निरीह भाव से सेवा करना, विनयपूर्ण व्यवहार करना, अकृत्य न होने देना और कदाचित् हो जाय तो उसके लिए प्रायश्चित्त-पश्चात्ताप करना, अपनी भूल को गुरुजनों के समक्ष सरल एवं निष्कपट भाव से प्रकट कर देना, इत्यादि भी तपस्या के ही रूप हैं। इससे आप समझ सकेंगे कि तपस्या कोई 'हौआ' नहीं है, बल्कि उत्तम जीवन बनाने के लिए आवश्यक और अनिवार्य विधि है।

जीवन की महानता संयम और तप से :

जिसके जीवन में संयम और तप को जितना अधिक महत्त्व मिलता है, उसका जीवन उतना ही महान् बनता है। संयम और तप सिर्फ साधु-सन्तों की चीजें हैं, इस धारणा को समाप्त किया जाना चाहिए। गृहस्थ हो अथवा गृहत्यागी, जो भी अपने जीवन को पवित्र और सुखमय बनाना चाहता है, उसे अपने जीवन में इन्हें स्थान देना चाहिए। संयम एवं तप से विहीन जीवन किसी भी क्षेत्र में सराहनीय नहीं बन सकता। कुटुम्ब, समाज, देश आदि की दृष्टि से भी वही जीवन धन्य माना जा सकता है जिसमें संयम और तप के तत्त्व विद्यमान हों।

संयम : जीवन का ब्रेक :

मोटर कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, अगर उसमें 'ब्रेक' नहीं है तो किस काम की ? ब्रेक विहीन मोटर सवारियों के प्राणों को ले बैठेगी। संयम जीवन का ब्रेक है। जिस मानव में संयम का 'ब्रेक' नहीं, वह आत्मा को डुबा देने के सिवाय और क्या कर सकता है ? मोटर के 'ब्रेक' की तरह संयम जीवन

की गतिविधि को नियंत्रित करता है और जब जीवन नियंत्रण में रहता है तो वह नवीन कर्मबन्ध से बच जाता है। तपस्या पूर्वसंचित कर्मों का विनाश करती है। इस प्रकार नूतन बंधनिरोध और पूर्वार्जित कर्मनिर्जरा होने से आत्मा का भार हल्का होने लगता है और शनैः शनैः समूल नष्ट हो जाता है। जब यह स्थिति उत्पन्न होती है तो आत्मा अपनी शुद्ध निर्विकार दशा को प्राप्त करके परमात्म-पद प्राप्त कर लेती है, जिसे मुक्तदशा, सिद्धावस्था या शुद्धावस्था भी कह सकते हैं।

साधना के दो स्तर : गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म :

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में संयम एवं तप की साधना अत्यन्त उपयोगी है। जो चाहता है कि मेरा जीवन नियंत्रित हो, मर्यादित हो, उच्छृङ्खल न हो, उसे अपने जीवन को संयत बनाने का प्रयास करना चाहिए। तीर्थङ्कर भगवन्तों ने मानव मात्र की सुविधा के लिए, उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए साधना की दो श्रेणियाँ या दो स्तर नियत किये हैं—(१) सरल साधना या गृहस्थधर्म और (२) अनगार साधना या मुनिधर्म।

अनगार धर्म का साधक वही गृहत्यागी हो सकता है, जिसने सामाजिक मोह-ममता का परित्याग कर दिया है; जो पूर्ण त्याग के कंटकाकीर्ण पथ पर चलने का संकल्प कर चुका है; जो परिग्रहों और उपसर्गों के सामने सीना तान कर स्थिर खड़ा रह सकता है, और जिसके अन्तःकरण में प्राणीमात्र के प्रति करुणा का भाव जागृत हो चुका है। यह साधना कठोर साधना है। विरत सत्वशाली ही वास्तविक रूप से इस पथ पर चल पाते हैं। सभी कालों और युगों में ऐसे साधकों की संख्या कम रही है, परन्तु संख्या की दृष्टि से कम होने पर भी इन्होंने अपनी पूजनीयता, त्याग और तप की अमिट छाप मानव समाज पर अंकित की है। इन अल्पसंख्यक साधकों ने स्वर्ग के देवों को भी प्रभावित किया है। साहित्य, संस्कृति और तत्वज्ञान के क्षेत्र में यही साधक प्रधान रहे और मानव जाति के नैतिक एवं धार्मिक धरातल को इन्होंने सदा ऊँचा उठा रखा है।

जो अनगार या साधु के धर्म को अपना सकने की स्थिति में नहीं होते, वे आगार धर्म या श्रावकधर्म का पालन कर सकते हैं। आनन्द श्रावक ने अपने जीवन को निश्चित रूप से प्रभु महावीर के चरणों में समर्पित कर दिया। उसने निवेदन किया—मैंने वीतरागों का मार्ग ग्रहण किया है, अब मैं सराग मार्ग का त्याग करता हूँ। मैं धर्मभाव से सराग देवों की उपासना नहीं करूँगा। मैं सच्चे संयमशील त्यागियों की वन्दना के लिये प्रतिज्ञाबद्ध होता हूँ। जो साधक अपने जीवन में साधना करते-करते, मतिवैपरीत्य से पथ से विचलित हो जाते हैं,

अथवा जो संयमहीन होकर भी अपने को संयमी प्रदर्शित और घोषित करते हैं, उन्हें मैं वन्दना नहीं करूँगा। आनन्द ने संकल्प किया—मैं वीतरागवाणी पर अटल श्रद्धा रखूँगा और शास्त्रों के अर्थ को सही रूप में समझ कर उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करूँगा।

शास्त्रों के अध्ययन में तटस्थ दृष्टि आवश्यक :

यदि शास्त्र का अर्थ अपने मन से खींचतान कर लगाया गया, तो वह आत्मघातक होगा। उसके धर्म को समझने में बाधा उपस्थित होगी। शास्त्र का अध्ययन तटस्थ दृष्टि रखकर किया जाना चाहिए, अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखकर नहीं। जब पहले से कोई दृष्टि निश्चित करके शास्त्र को उनके समर्थन के लिए पढ़ा जाता है, तो उसका अर्थ भी उसी ढंग से किया जाता है। कुरीतियों, कुमार्गों और मिथ्याडम्बरों को एवं मान्यता भेदों को जो प्रश्रय मिला है, उसका एक कारण शास्त्रों का गलत और मनमाना अर्थ लगाना है। ऐसी स्थिति में शास्त्र शस्त्र का रूप ले लेता है। अर्थ करते समय प्रसंग आदि कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

अर्थ की समीचीनता प्रसंग से :

कोई साहब भोजन करने बैठे। उन्होंने अपने सेवक से कहा—'सैन्धवम् आनयं। वह सेवक घोड़ा ले आया। भोजन का समय था फिर भी वह 'सैन्धव' मंगाने पर घोड़ा लाया। खा-पीकर तैयार हो जाने के पश्चात् कहीं बाहर जाने की तैयारी करके पुनः उन्होंने कहा—'सैन्धवम् आनयं।' उस समय सेवक नमक ले आया, यद्यपि सैन्धव का अर्थ घोड़ा भी है और नमक भी; कोष के अनुसार दोनों अर्थ सही हैं। फिर भी सेवक ने प्रसंग के अनुकूल अर्थ न करके अपनी मूर्खता का परिचय दिया। उसे भोजन करते समय 'सैन्धव' का अर्थ 'नमक' और यात्रा के प्रसंग में 'घोड़ा' अर्थ समझना चाहिये। यही प्रसंगानुकूल सही अर्थ है। ऊट-पटांग अथवा अपने दुराग्रह के अनुकूल अर्थ लगाने से महर्षियों ने जो शास्त्र-रचना की है, उसका समीचीन अर्थ समझ में नहीं आ सकता।

आनंद का निर्दोष दान देने का संकल्प :

आनंद ने अपरिग्रही त्यागी सन्तों को चौदह प्रकार का निर्दोष दान देने का संकल्प किया, क्योंकि आरम्भ और परिग्रह के त्यागी साधु दान के सर्वोत्तम पात्र हैं। उसने जिन वस्तुओं का दान देने का निश्चय किया, वे दान इस प्रकार हैं—(१) अशन (२) पान (३) खाद्य-पकवान आदि (४) स्वाद्य-मुखवास चूर्ण आदि (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (७) रजोहरण (६) पीठ-चौकी

बाजौट (१०) पाट (११) औषध-सोंठ, लवंग, काली मिर्च आदि (१२) भैषज्य बनी-बनाई दवाई (१३) शय्या-मकान और (१४) संस्तारक-पराल आदि ।

रजोहरण पाँव पोंछने का वस्त्र है, जो धूल साफ करने के काम आता है जिससे संचित की विराधना न हो । शय्या मकान के अर्थ में रूढ़ हो गया है । इसका दूसरा अर्थ है—बिछाकर सोने का उपकरण पट्टा आदि । पैरों को समेट कर सोने के लिए करीब अढाई हाथ लम्बे बिछौने को 'संथारा-संस्तारक' कहते हैं। प्रमाद की वृद्धि न हो, यह सोचकर साधक सिमट कर सोता है । इससे नींद भी जल्दी खुल जाती है । आवश्यकता से अधिक निद्रा होगी तो साधना में बाधा आयेगी, विकृति उत्पन्न होगी और स्वाध्याय-ध्यान में विघ्न होगा । ब्रह्मचारी गद्दा बिछा कर न सोये, यह नियम है । ऐसा न करने से प्रमाद तथा विकार बढ़ेगा ।

साधु-सन्तों को औषध-भेषज का दान देने का भी बड़ा माहात्म्य है । औषध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—ओषं पोषं धत्ते, इति औषधम् ।' सोंठ, लवंग, पीपरामूल, हर्रे आदि वस्तुएँ औषध कहलाती हैं । यूनानी चिकित्सा पद्धति में भी इसी प्रकार की वस्तुओं का उपयोग होता है ।

आहार-विहार में संयम आवश्यक :

प्राचीन काल में, भारतवर्ष में आहार-विहार के विषय में पर्याप्त संयम से काम लिया जाता था । इस कारण उस समय औषधालय भी कम थे । कदाचित् कोई गड़बड़ी हो जाती थी तो बुद्धिमान मनुष्य अपने आहार-विहार में यथोचित् परिवर्तन करके स्वास्थ्य प्राप्त कर लेते थे । चिकित्सकों का सहारा क्वचित् कदाचित् ही लिया जाता था । करोड़ों पशु-पक्षी वनों में वास करते हैं । उनके बीच कोई वैद्य-डॉक्टर नहीं है । फिर भी वे मनुष्यों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रहते हैं । इसका कारण यही है कि वे प्रकृति के नियमों की अवहेलना नहीं करते । मनुष्य अपनी बुद्धि के घमण्ड में आकर प्रकृति के कानूनों को भंग करता है और प्रकृति कुपित होकर उसे दंडित करती है । मांस-मदिरा आदि का सेवन करना प्रकृति विरुद्ध है । मनुष्य के शरीर में वे आंतें नहीं होती, जो मांसादि को पचा सकें । मांस भक्षी पशुओं और मनुष्यों के नाखून दांत आदि की बनावट में अन्तर है । फिर भी जिह्वालोलुप मनुष्य मांस भक्षण करके प्रकृति के कानून को भंग करते हैं । फलस्वरूप उन्हें दंड का भागी होना पड़ता है । पशु के शरीर में जब विकार उत्पन्न होता है, तो वह चारा खाना छोड़ देता है । यह रोग की प्राकृतिक चिकित्सा है । किन्तु मनुष्य से प्रायः यह भी नहीं बन पड़ता । बीमार कदाचित् खाना न चाहे तो उसके अज्ञानी पारिवारिक जन कुछ

न कुछ खा लेने की प्रेरणा करते हैं और खिलाकर छोड़ते हैं। पर पशु अनशन के द्वारा ही अपने रोग का प्रतिकार कर लेते हैं।

गर्भावस्था में मादा पशु न समागम करने देती है और न नर समागम करने की इच्छा ही करता है, पर मनुष्य इतना भी विवेक और सन्तोष नहीं रखता।

मनुष्य का आज आहार सम्बन्धी अंकुश बिलकुल हट गया। वह घर में भी खाता है और घर से बाहर दुकानों और खोमचों पर जाकर भी दोने चाटता है। ये बाजारू चीजें प्रायः स्वास्थ्य का विनाश करने वाली, विकार विवर्द्धक और हिंसाजनित होने के कारण पापजनक भी होती हैं। दिनोंदिन इनका प्रचार बढ़ता जा रहा है और उसी अनुपात में व्याधियाँ भी बढ़ती जा रही हैं। अगर मनुष्य प्रकृति के नियमों का प्रामाणिकता के साथ अनुसरण करे और अपने स्वास्थ्य की चिन्ता रक्खे, तो उसे डॉक्टरों की शरण में जाने की आवश्यकता ही न हो।

दुर्व्यसनों से बचें :

अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों ने आज मनुष्य को बुरी तरह घेर रक्खा है। कैंसर जैसा असाध्य रोग दुर्व्यसनों की बदौलत ही उत्पन्न होता है और वह प्रायः प्राण लेकर ही रहता है। अमेरिका आदि में जो शोध हुई है, उससे स्पष्ट है कि धूम्रपान इस रोग का कारण है। मगर यह जानकर भी लोग सिगरेट और बीड़ी पीना नहीं छोड़ते। उन्हें मर जाना मंजूर है, मगर दुर्व्यसन से बचना मंजूर नहीं। यह मनुष्य के विवेक का दिवाला नहीं तो क्या है ? क्या इसी बित्ते पर वह समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ होने का दावा करता है ? प्राप्त विवेक-बुद्धि का इस प्रकार दुरुपयोग करना अपने विनाश को आमंत्रित करना नहीं तो क्या है ?

लोंग, सोंठ आदि चीजें औषध कहलाती हैं। तुलसी के पत्ते भी औषध में सम्मिलित हैं। तुलसी का पौधा घर में लगाने का प्रधान उद्देश्य स्वास्थ्य लाभ ही है। पुराने जमाने में इन चीजों का ही दवा के रूप में प्रायः इस्तेमाल होता था। आज भी देहात में इन्हीं का उपयोग ज्यादा होता है। इन वस्तुओं को चूर्ण, गोली, रस आदि के रूप में तैयार कर लेना भेषज है।

प्रश्न : दान की पात्रता-अपात्रता का :

आनन्द ने साधु-साध्वी वर्ग को दान देने का जो संकल्प किया उसका तात्पर्य यह नहीं कि उसने अन्य समस्त लोगों की ओर से पीठ फेर ली। इसका

यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह दुःखी, दीन, पीड़ित, अनुकम्पापात्र जनों को दान ही नहीं देगा। सुख की स्थिति में पात्र-अपात्र का विचार किया जाता है, दुःख की स्थिति में पड़े व्यक्ति में तो पात्रता स्वतः आ गई। अभिप्राय यह है कि कर्म निर्जरा की दृष्टि से दिये जाने वाले दान में सुपात्र-कुपात्र का विचार होता है, किन्तु अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले दान में यह विचार नहीं किया जाता। कसाई या चोर जैसा व्यक्ति भी यदि मारणान्तिक कष्ट में हो तो उसको कष्ट मुक्त करना, उसकी सहायता करना और दान देना भी पुण्यकृत्य है, क्योंकि वह अनुकम्पा का पात्र है। दानी यदि अनुकम्पा की पुण्यभावना से प्रेरित होकर दान देता है, तो उसे अपनी भावना के अनुरूप फल की प्राप्ति होती है। इस निमित्त से भी उसकी ममता में कमी होती है।

वाणी को व्यवहार में उतारें :

गृहस्थ आनन्द भगवान् महावीर स्वामी की देशना को श्रवण करके और व्रतों को अंगीकार करके घर लौटता है। उसने महाप्रभु महावीर के चरणों में पहुँच कर उनसे कुछ ग्रहण किया। उसने अपने हृदय और मन का पात्र भर लिया। आप्त पुरुष की वाणी श्रवण कर जैसे आनन्द ने उसे अपने जीवन व्यवहार में उतारने की प्रतिज्ञा की, उसी प्रकार प्रत्येक श्रावक को उसे व्यावहारिक रूप देना चाहिये। ऐसा करने से ही इहलोक-परलोक में कल्याण होगा।

मेला लगायें मुक्ति का :

जीवन में आमोद-प्रमोद के भी दिन होते हैं। उनका महत्त्व भी हमारे सामने है। यथोचित सीख लेकर हमें उस महत्त्व को उपलब्ध करना है। यों तो मेले बहुत लगते हैं, किन्तु मुक्ति का मेला यदि मनुष्य लगा ले, आध्यात्मिक जीवन बना ले तो उसे स्थायी आनन्द प्राप्त हो सकता है।

"संसार में दो किस्म के मेले होते हैं—(१) कर्मबन्ध करने वाले और (२) बंध काटने वाले अथवा (१) मन को मलीन करने वाले और (२) मन को निर्मल करने वाले। प्रथम प्रकार के मेले काम, कुतूहल एवं विविध प्रकार के विकारों को जागृत करते हैं। ऐसे मेले बाल-जीवों को ही रुचिकर होते हैं। संसार में ऐसे बहुत मेले देखे हैं और उन्हें देख कर मनुष्यों ने अपने मन मैले किये हैं। उनके फलस्वरूप संसार में भटकना पड़ा है। अब यदि जन्म-मरण के बन्धनों से छुटकारा पाना है तो मुक्ति का मेला करना ही श्रेयस्कर है।

□ □ □

[९]

तपोमार्ग की शास्त्रीय साधना

पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी जम्बू से कहते हैं:—

जहा उ पावगं कम्मं, राग दोस समज्जियं ।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ।।१।।

अय जम्बू ! राग-द्वेष से संचित पाप कर्म को तपस्या के द्वारा मुनि किस प्रकार खपाता-नाश करता है, इसकी मैं विधि कहूँगा, जिसको तू एकाग्र मन से श्रवण कर ।

तप करने वाले को आस्रव त्याग का ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि बिना आस्रव त्याग के कर्म का जल निरन्तर आता रहेगा और जब तक नये कर्म निरन्तर आते रहेंगे, उनको खपाने की क्रिया का खास लाभ नहीं होगा, इसलिये शास्त्र में कहा है :—

पाणिवह-मुसावाया, अदत्त-मेहुणा-परिग्गहा विरओ ।
राइ भोयण-विरओ, जीवो हवइ अणासवो ।।२।।

जो साधक हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्यागी एवं रात्रि-भोजन से विरत होता है, वह आस्रव रहित हो जाता है, इसलिए उसके कर्म-जल का आगमन रुक जाता है । फिर अनास्रव की दूसरी स्थिति बतलाते हैं :—

पंच समिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ ।
आगारवो य निस्सल्लो, जीवो हवइ अणासवो ।।३।।

जो ईर्या आदि पाँच समितियों से युक्त और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से गुप्त होता है, क्रोधादि कषाय रहित और जितेन्द्रिय है । ऋद्धि, रस और साता रूपगौरव का जो त्यागी और निश्शल्य होता है, वह आस्रव रहित होता है ।

एएसिं नु विवच्चासे, रागदोस समज्जियं ।
खवेइ उ जहा भिक्खू तमेगग्गमणो सुण ।।४।।

इसके विपरीत हिंसादि से अविरत रहने पर जीव आस्रव से राग द्वेष के कारण कर्म का संचय करता है। उस संचित कर्म को भिक्षु जिस प्रकार नष्ट करता है, उसे एकाग्र मन होकर मेरे पास श्रवण करो।

जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सि चणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ।।५।।

पहले दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जिस प्रकार किसी बड़े तालाब के जलागम द्वार रोकने पर, सिंचाई और ताप के द्वारा क्रमशः सारा पानी सूख जाता है, भूमि निर्जल हो जाती है।

एवंतु संजयस्सावि, पावकम्म निरासवे।
भव कोडी सचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ।।६।।

तालाब की तरह संयमी आत्मा के भी पाप-कर्म का आस्रव रुक जाने पर करोड़ों जन्मों का संचित कर्म तपस्या से निर्जीण हो जाता है अर्थात् तपस्या के द्वारा जन्म-जन्मान्तर के भी संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं।

अब तप के प्रकार कहते हैं :—

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ।।७।।

पूर्वोक्त गुण विशिष्ट वह तप दो प्रकार का कहा गया है, यथा—बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्य तप छः प्रकार का है ऐसे आन्तर तप भी छः प्रकार का कहा गया है। भौतिक पदार्थों के त्याग से शरीर एवं इन्द्रिय पर असर करने वाला बाह्य तप और मन जिससे प्रभावित हो, उसे आन्तर तप समझना चाहिये। दोनों एक दूसरे के पूरक होने से आवश्यक हैं। प्रथम बाह्य तप का विचार करते हैं :—

अणसण-मूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ।।८।।

प्रथम अनशन-आहार त्याग, २. ऊनोदर-आहार आदि में आवश्यकता से कम लेना, ३. भिक्षाचरिका, ४. मधुरादि रस का त्याग, ५. कायक्लेश-आसन, लुंचन आदि ६. संलीनता-इन्द्रियादिक का गोपन इस प्रकार बाह्य तप छः प्रकार का होता है।

प्रत्येक का भेद पूर्वक विचार :—

तपोमार्ग की शास्त्रीय साधना

पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी जम्बू से कहते हैं:—

जहा उ पावगं कम्मं, राग दोस समज्जियं।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥१॥

अय जम्बू ! राग-द्वेष से संचित पाप कर्म को तपस्या के द्वारा मुनि किस प्रकार खपाता-नाश करता है, इसकी मैं विधि कहूँगा, जिसको तू एकाग्र मन से श्रवण कर।

तप करने वाले को आस्रव त्याग का ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि बिना आस्रव त्याग के कर्म का जल निरन्तर आता रहेगा और जब तक नये कर्म निरन्तर आते रहेंगे, उनको खपाने की क्रिया का खास लाभ नहीं होगा, इसलिये शास्त्र में कहा है :—

पाणिवह-मुसावाया, अदत्त-मेहुणा-परिग्गहा विरओ।
राइ भोयण-विरओ, जीवो हवइ अणासवो ॥२॥

जो साधक हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्यागी एवं रात्रि-भोजन से विरत होता है, वह आस्रव रहित हो जाता है, इसलिए उसके कर्म-जल का आगमन रुक जाता है। फिर अनास्रव की दूसरी स्थिति बतलाते हैं :—

पंच समिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ।
आगारवो य निस्सल्लो, जीवो हवइ अणासवो ॥३॥

जो ईर्या आदि पाँच समितियों से युक्त और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से गुप्त होता है, क्रोधादि कषाय रहित और जितेन्द्रिय है। ऋद्धि, रस और साता रूपगौरव का जो त्यागी और निश्शल्य होता है, वह आस्रव रहित होता है।

एएसि नु विवच्चासे, रागदोस समज्जियं।
खवेइ उ जहा भिक्खू तमेगग्गमणो सुण ॥४॥

इसके विपरीत हिंसादि से अविरत रहने पर जीव आस्रव से राग द्वेष के कारण कर्म का संचय करता है। उस संचित कर्म को भिक्षु जिस प्रकार नष्ट करता है, उसे एकाग्र मन होकर मेरे पास श्रवण करो।

जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिं चणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥५॥

पहले दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जिस प्रकार किसी बड़े तालाब के जलागम द्वार रोकने पर, सिंचाई और ताप के द्वारा क्रमशः सारा पानी सूख जाता है, भूमि निर्जल हो जाती है।

एवंतु संजयस्सावि, पावकम्म निरासवे।
भव कोडी सचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥६॥

तालाब की तरह संयमी आत्मा के भी पाप-कर्म का आस्रव रुक जाने पर करोड़ों जन्मों का संचित कर्म तपस्या से निर्जीण हो जाता है अर्थात् तपस्या के द्वारा जन्म-जन्मान्तर के भी संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं।

अब तप के प्रकार कहते हैं :—

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥७॥

पूर्वोक्त गुण विशिष्ट वह तप दो प्रकार का कहा गया है, यथा—बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्य तप छः प्रकार का है ऐसे आन्तर तप भी छः प्रकार का कहा गया है। भौतिक पदार्थों के त्याग से शरीर एवं इन्द्रिय पर असर करने वाला बाह्य तप और मन जिससे प्रभावित हो, उसे आन्तर तप समझना चाहिये। दोनों एक दूसरे के पूरक होने से आवश्यक हैं। प्रथम बाह्य तप का विचार करते हैं :—

अणसण-मूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥८॥

प्रथम अनशन-आहार त्याग, २. ऊनोदर-आहार आदि में आवश्यकता से कम लेना, ३. भिक्षाचरिका, ४. मधुरादि रस का त्याग, ५. कायक्लेश-आसन, लुंचन आदि ६. संलीनता-इन्द्रियादिक का गोपन इस प्रकार बाह्य तप छः प्रकार का होता है।

प्रत्येक का भेद पूर्वक विचार :—

इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिय सावकंखा, निरवकंखा उ बिइज्जिया ॥९॥

अनशन के इत्वर-अल्पकालिक और मरणकाल पर्यन्त ऐसे दो भेद होते हैं। इत्वर-तप सावकांक्ष होता है, नियतकाल के बाद उसमें आहार ग्रहण किया जाता है, पर दूसरा निरवकांक्ष होता है, उसमें जीवन पर्यन्त सम्पूर्ण आहार का त्याग होता है।

इत्वर तप के भेद :—

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण छव्बि हो।
सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य ॥१०॥

इत्वर तप संक्षेप से छः प्रकार का है, जैसे—१. श्रेणि तप (उपवास आदि क्रम से छः मास तक), २. प्रत्तर तप, ३. घन तप, ४. तथा वर्ग तप होता है।

तत्तो य वग्गवग्गो, पंचमी छट्ठओ पइण्णतवो।
मणइच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होय इत्तरिओ ॥११॥

फिर पाँचवाँ वर्ग तप और छठा प्रकीर्ण तप होता है, इस प्रकार इत्वर तप, साधक की इच्छा के अनुकूल और विचित्र अर्थ वाला समझना चाहिये। इससे लोक एवं लोकोत्तर के विविध लाभ होते हैं।

मरणकाल :—

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।
सवियार मवियारा, कायचिट्ठं पइ भवे ॥१२॥

मरणकाल में जो अनशन किया जाता है, वह दो प्रकार का कहा गया है—काय चेष्टा को लेकर एक सविचार और दूसरा अविचार-चेष्टा रहित होता है।

प्रकारान्तर से अनशन को समझाते हुए कहा है :—

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमनीहारी, आहारच्छेओ दोसु वि ॥१३॥

आजीवन अनशन प्रकारान्तर से दो प्रकार का—सपरिकर्म और अपरिकर्म रूप से कहा गया है। शरीर की उत्थान आदि क्रिया और जिसमें सम्भाल की

जाय वह सपरिकर्म और दूसरा काय चेष्टा रहित अपरिकर्म होता है । काष्ठ की तरह अपरिकर्म वाला शरीर से निश्चल रहता है । व्याघात एवं निर्व्याघात की दृष्टि से भी इनके भेद होते हैं । नीहारी और अनिहारी दोनों प्रकार के अनशन में आहार का त्याग होता ही है । अनशन करने का सामर्थ्य नहीं हो, उसके लिए दूसरा तप ऊनोदर बतलाते हैं :—

ओमोयरणं पंचहा, समासेण वियाहियं ।
दव्वओ खेत्तकालेणं, भावेण पज्जवेहिय ।।१४।।

दूसरा तप अवमोदर्य संक्षेप में पांच प्रकार का कहा गया है, यथा (१) द्रव्य अवमोदर्य (२) क्षेत्र अवमोदर्य (३) काल अवमोदर्य (४) भाव अवमोदर्य और (५) पर्यवअवमोदर्य ।

इनका विशेष स्पष्टीकरण कहते हैं :—

जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तू जो करे ।
जहन्नेणेगसित्थाई, एवं दव्वेण ऊ भवे ।।१५।।

जिसका जितना आहार हो, उसमें कुछ कम करना जघन्य एकसीत घटाना आदि—यह द्रव्य से अवमोदर्य है । अपनी खुराक में एक ग्रास भी कम किया जाय, तो वह तप है । कितना सरल मार्ग है ।

क्षेत्र आदि से अवमोदर्य का विचार करते हैं :—

गामे नगरे तंह रायहाणि, निगमे य आगरे पल्ली ।
खेडे कब्बड-दोणमुह, पट्टण-मडम्ब-संवाहे ।।१६।।

ग्राम, नगर तथा राजधानी में निगम—व्यवसायियों की मंडी, आकर और पल्ली में, खेड—जो धूलि के कोट से घिरा हो, कर्बट, द्रोणमुख, पत्तन और मंडव में क्षेत्र की मर्यादा करके भिक्षा जाना ।

आसमपए विहारे, सन्निवेसे समायघोसे य ।
थलिसेणाखन्धारे, सत्थे संवट्टकोट्टे य ।।१७।।

आश्रम पद—तापस आदि का आश्रम, विहार, सन्निवेश और घोष आदि स्थानों में नियत मर्यादा से भिक्षा लेना भी अवमोदर्य है, जैसे :—

वाडेसु व रत्थासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं ।
कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण उ भवे ।।१८।।

चारों ओर से भित्ति से घिरे हुए बाड़े में, गली या घरों में इतने क्षेत्र में भिक्षा मिले तो लेना, इत्यादि प्रकार से क्षेत्र अवमोदर्य होता है।

फिर प्रकारान्तर से बतलाते हैं :—

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्ति पयंग-वीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टागन्तु, पच्चागया छट्ठा ॥१९॥

पेटी के समान चतुष्कोण गृह समूह में भिक्षा करना इसकी पेटा, अर्ध चतुष्कोण में भ्रमण करना अर्ध पेटा, वाम से दक्षिण और दक्षिण से वाम इस प्रकार वक्रगति से भिक्षा करना गोमूत्रिका और पतंग की तरह कुछ घर छोड़ कर दूसरे घर में भिक्षा करना पतंग वीथिका, शंख के समान आवर्तवाली शंखावर्त भिक्षा, वृत्ताकार भ्रमण वाली भिक्षा, और लम्बे जाकर पीछे आते हुए लेना यह छठे प्रकार की भिक्षा है।

अब काल तथा भाव अवमोदर्य का विचार करते हैं :—

दिवसस्स पोरुसीणं, चउण्हंपि उ जत्तिओ भवे कालो।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वं ॥२०॥

दिन के चारों पौरुषी में जितने काल का अभिग्रह किया है, उसके अनुसार नियत समय में भिक्षा करना काल अवमोदर्य समझना चाहिये। फिर—

अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाइ घाससेसन्तो।
चऊ भागूणाए वा, एवं कालेण ऊ भवे ॥२१॥

प्रकारान्तर से कहते हैं:—तीसरे पौरुषी के कुछ कम रहते अथवा चतुर्थ भाग शेष रहने पर भिक्षा करना काल अवमोदर्य कहा गया है। अभिग्रही का नियम होता है कि नियत द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव के अनुसार भिक्षा मिले तो ही ग्रहण करना अन्यथा नहीं—अतः यह तप है।

भाव अवमोदर्य का स्वरूप कहते हैं:—

इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकिओ वा नलंकिओ वावि।
अन्नयरवयत्थो वा, अन्नयरेणं व वत्थेणं ॥२२॥

स्त्री हो अथवा पुरुष, अलंकृत हो या अलंकार रहित हो, बाल्य-तरुणादि किसी वय और श्वेत-पीतादि अन्यतर वस्त्रधारी हो।

अन्नेण विसेसेणं, वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ।
एवं चरमाणो खलु, भावोमाणं मुणेयव्वं ॥२३॥

इस प्रकार अन्य भी वर्णादि विशेषों में अमुक प्रकार से मिले तो ही लेना, इस रूप से भिक्षा करना भाव अवमोदर्य कहलाता है। भाव अवमोदर्य और पर्यव अवमोदर्य का भेद दिखाते हुए कहते हैं:—

दव्वे खेते काले, भावम्मि य आहिया उजे भावा।
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥२४॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो एक ग्रास आदि कहे गये हैं, उन द्रव्यादि सब पर्यायों से अवम चलने वाला साधक पर्यवचरक होता है।

अट्ठविहगोयरग्गं तु, तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥२५॥

आठ प्रकार की गोचरी तथा सात प्रकार की एषणाएँ, इस प्रकार अन्य जो अभिग्रह किये जाते हैं, उसको भिक्षाचरिका रूप तप कहते हैं। इसका दूसरा नाम वृत्ति संक्षेप भी है।

खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाण भोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥२६॥

दूध, दही, घृत आदि रसों को प्रणीत पान भोजन कहते हैं, इस प्रकार विभिन्न रस का त्याग रसवर्जन नाम का तप कहा गया है।

ठाणावीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति, कायकिलेसं तमाहियं ॥२७॥

वीरासन आदि जो साधक को सुखद हो वैसे आसन से स्थिर रहना और केश लुंचन आदि उग्र कष्टों को समभाव से धारण करना, इसको कायक्लेश तप कहा गया है।

अब प्रतिसलीनता का विचार करते हैं:—

एगन्त मणावाए, इत्थी-पसु-विवज्जिए।
सयणासण सेवणया, विवित्त सयणासणं ॥२८॥

स्त्री पशु आदि रहित एकान्त और स्त्री आदि का गमनागमन जहाँ नहीं हो, वैसे स्थान में शयनासन करना विविक्त शय्यासनरूप तप होता है। इन्द्रिय-कषाय और योग संलीनता के भेद से इसके अन्य प्रकार भी होते हैं।

एसो बाहिरगतवो, समासेण वियाहिओ ।
अब्भिन्तरं तव एत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो ।।२६।।

इस प्रकार पूर्वोक्त छः प्रकार का संक्षेप में बाह्य तप कहा गया है, अब आन्तर तप को कहूँगा, हे जम्बू ! अनुक्रम से श्रवण करना ।

प्रथम नाम बता रहे हैं:—

पायच्छितं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउसग्गो, एसो अब्भितरो तवो ।।३०।।

१. प्रायश्चित, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६. व्युत्सर्ग, ये आन्तर तप के ६ भेद हैं ।

आलोयणा रिहाईयं, पायच्छितं तु दसविहं ।
सं भिक्खू वहई सम्म, पायच्त्तिं तमाहियं ।।३१।।

प्रायश्चित दस प्रकार के हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण आदि । आत्म-शुद्धि के लिए जिस अनुष्ठान का भिक्षु सम्यक् वहन करे उसको प्रायश्चित कहते हैं ।

विनय तप का वर्णन करते हैं:—

अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं ।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ।।३२।।

गुरु आदि के आने पर अभ्युत्थान करना, अंजलि जोड़ना, आसन प्रदान करना तथा गुरु की भक्ति और भावपूर्वक सुश्रूषा यह विनय नाम का तप है ।

आयरिय माईए, वैयावच्चम्मि दसविहे ।
आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं ।।३३।।

आचार्य आदि दस प्रकार की वैयावच्च में शक्ति के अनुसार आहार-दान आदि संपादन करना, इसको वैयावच्च कहते हैं । विनय और वैयावृत्य की शुद्धि के लिये ज्ञान की आवश्यकता रहती है, इसलिये वैयावृत्य के पश्चात् स्वाध्याय कहते हैं । यह भाव सेवा भी है ।

स्वाव्याय के प्रकार:—

वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा ।
अणुप्पेहा धम्म कहा, सज्जाओ पंचहा भवे ।।३४।।

१. वाचना—शास्त्र आदि की वाचना देना अथवा लेना, २. पृच्छा—अज्ञात विषय में पूछना तथा पठित का आवर्तन करना, ३. अनुप्रेक्षा, ४. मनन और ५. धर्म कथा, इस प्रकार स्वाध्याय पांच प्रकार का होता है। स्वाध्याय शुभ ध्यान का आलम्बन है, अतः स्वाध्याय के बाद ध्यान कहा जाता है:—

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए ॥३५॥

आर्त एवं रौद्र ध्यान को छोड़कर उत्तम समाधि वाला साधक धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तन करे, ज्ञानियों ने इसको ध्यान तप कहा है।

अन्तिम आभ्यन्तर तप व्युत्सर्ग है, इसका स्वरूप निम्न प्रकार है:—

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥३६॥

बैठने, खड़े रहने या सोने में जो साधक किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करे, यह छठा काय का व्युत्सर्गरूप तप कहा गया है।

सामान्य रूप से द्रव्य और भाव, व्युत्सर्ग के दो प्रकार हैं। द्रव्य व्युत्सर्ग चार प्रकार का है—१. गण, २. देह, ३. उपधि और ४. भक्त पान। भाव में क्रोध-मान-माया-लोभ का त्याग करना भाव व्युत्सर्ग है। इस प्रकार बाह्य और आन्तर तप को मिला कर १२ भेद होते हैं।

तपस्या का वर्णन करके अब सुधर्मा स्वामी म० इसका उपसंहार कहते हैं:—

एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्व संसारा, विप्प मुच्चइ पण्डिओ ॥३७॥

इस प्रकार बाह्य और आन्तर रूप दो प्रकार के तप को जो मुनि सम्यग् प्रकार से आराधन करता है, वह पण्डित मुनि नरकादि चतुर्गति रूप संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। अर्थात् कर्म क्षय हो जाने से उसको फिर जन्म-मरण के चक्र में आना नहीं पड़ता है। हे जम्बू! मैं कहता हूँ कि यही कल्याणकारी शुद्ध तप का मार्ग है।

□□□

अपरिग्रह : मानव-जीवन का भूषण

हजारों धर्मोपदेशकों के उपदेश, प्रचारकों का प्रचार और राज्य के नवीन अपराध निरोधक नियमों के बावजूद भी जनता में पाप क्यों नहीं कम हो रहे, लोभ को सब कोई बुरा कहते हैं, फिर भी देखा जाता है—कहने वाले स्वयं अपने संग्रह को बढ़ाने की ओर ही दौड़ रहे हैं। ऐसा क्यों ? रोग को मिटाने के लिए उनके कारणों को जानना चाहिए।

पाप घटाने के लिये भी उसके कारणों को देखना आवश्यक है। शास्त्र में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि दस संज्ञाएँ बताई गई हैं। संसार के आबाल वृद्ध जीवमात्र इन संज्ञाओं से त्रस्त हैं। सामायिक के बाद, हम प्रति दिन आलोचना करते हैं कि चार संज्ञाओं में से कोई संज्ञा की हो "तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं" पर किसी संज्ञा में कमी नहीं आती। आहार, भय और मैथुन संज्ञा में अवस्था पाकर फिर भी कमी आ सकती है, पर लोभ-परिग्रह संज्ञा अवस्था जर्जरित होने पर भी कम नहीं होती। इसके लिये सूत्रकार ने ठीक ही कहा है—

"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।"

लाभ वृद्धि के साथ लोभ भी बढ़ता है, इसीलिए तो अनुभवियों ने कहा है—"तृष्णैका तरुणायते", समय आने पर सब में जीर्णताजन्य दुर्बलता आती है, पर करोड़ों-अरबों वर्ष बीतने पर भी तृष्णा बूढ़ी नहीं होती, वल्कि वह तरुण ही वनी रहती है।

लोभेच्छा की वृद्धि के, शास्त्र में अन्तरंग और वहिरंग दो कारण बताये हैं। लोभ, मोह या रतिराग का उदय एवं मूर्च्छा भाव आदि अन्तर के मूल कारण हैं। खान-पान, अच्छा रहन-सहन, यान-वाहन, भवन-भूषण आदि दूसरे के वड़े-चढ़े परिग्रह को देखने-सुनने से लोभ भावना बढ़ती है। परिग्रह का चिन्तन भी लोभ वृद्धि का प्रमुख कारण है। मेरे पास कौड़ी नहीं, स्वर्ण-रत्न के आभूषण नहीं और अमुक के पास हैं, इस प्रकार अपनी कमी और दूसरों की वढ़ती का चिन्तन करने से परिग्रह संज्ञा वढ़ती है।

परिग्रह घटाइये, सादगी बढ़ाइये

गांव में परिग्रह का प्रदर्शन कम है तो वहां वस्त्राभूषण आदि के संग्रह का नमूना भी अल्प दृष्टिगोचर होता है। शहर और महाजन जाति में

परिग्रह का प्रदर्शन अधिक है तो वहां पाप मानते हुए भी वस्त्राभूषण, धन-धान्य आदि का संग्रह अधिक दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि परिग्रह में उन साधनों से ही आदमी का मूल्यांकन होता है । कितना ही व्रती, सेवाभावी, गुणी एवं विद्वान् भी क्यों न हो, सादी भेष-भूषा में हो तो आदर प्राप्त नहीं करता, यदि बढ़िया वेश और उच्च स्तरीय आकर्षक रहन-सहन हो तो दर्शकजनों की दृष्टि में बड़ा माना जाता है । यही दृष्टि-भेद संग्रह-वृत्ति और लोभ-वृद्धि का प्रमुख कारण है ।

अपरिग्रह भाव को बढ़ाने के लिए सामाजिक व्यवस्था और बाह्य वातावरण सादा एवं प्रदर्शन रहित होना चाहिए ।

आंग्ल शासकों की अधीनता से मुक्त होने को गांधीजी ने सादा और बिना प्रदर्शन का अल्प परिग्रही जीवन अपनाया था । बड़े-बड़े धनी, उद्योगपति और अधिकारी भी उस समय सादा जीवन जीने लगे । फलस्वरूप उन दिनों सेवा और सेवावृत्ति को ऊँचा माना जाने लगा । लोगों में न्यायनीति, सेवा और सदाचार चमकने लगा । आज फिर सामाजिक स्तर से देश को सादगी का विस्तार करना होगा, प्रदर्शन घटाना होगा । जब तक ऐसा नहीं किया जाय, तब तक परिग्रह का बढ़ता रोग कम नहीं हो सकता ।

प्रदर्शन करने वाले के मन में ईर्ष्या, मोह और अहंकार उत्पन्न होता है और दूसरों के लिए उसका प्रदर्शन, ईर्ष्या, हरणबुद्धि, लालच एवं आर्त्त-उत्पत्ति में कारण होता है, अतः प्रदर्शन को पाप-बुद्धि का कारण समझ कर त्यागना परिग्रह संज्ञा घटाने का कारण है । आज संसार में परिग्रह की होड़ लगी हुई है । ऐसी परिस्थिति में परिग्रह भाव घटाने में निम्न भावनाएँ अत्यन्त उपयोगी हो सकती हैं—

१. परिग्रह भय, चिन्ता और चंचलता का कारण एवं क्षणभंगुर है ।

२. असंग्रही वृत्ति के पशु-पक्षी मनुष्य की अपेक्षा सुखी और प्रसन्न रहते हैं ।

३. परिग्रह मानव को पराधीन बनाता है, परिग्रही बाह्य पदार्थों के अभाव में चिन्तित रहता है ।

४. परिग्रह की उलझन में उलझे जीव को शान्ति नहीं मिलती ।

५. सन्तोष ही सुख है । कहा भी है—

> "गोधन, गजधन, रतन धन, कंचन खान सुखान ।
> जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूलि समान ।।"

६. जिसको चाह है, वह अरबों की सम्पदा पाकर भी दुःखी है। चाह मिटने पर ही चिन्ता मिटती है। सन्तों ने ठीक कहा है—

"सन्तोषी सदा सुखी, दुःखी तृष्णावान्।"

संसार के अगणित पशु-पक्षी और कीट पतंगादि जीव, जो संग्रह नहीं करते, वे मानव से अधिक निश्चिन्त एवं शोक रहित हैं। संग्रहवान आसक्त मानव से वह अधिक सुखी है, जो अल्प संग्रही और आसक्ति रहित है। संसार की सारी सम्पदा किसी एक असन्तोषी को मिल जाय, तब भी उस लोभी की इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि इच्छा मानव के समान अनन्त हैं। ज्ञानियों ने कहा है—मानव, इस नश्वर सम्पदा के पीछे भान भूलकर मत दौड़। यह तो पापी जीव को भी अनन्त बार मिल गई है। यदि सम्पदा ही मिलानी है, तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आत्मिक सम्पदा मिला, जो शाश्वत आनन्द को देने वाली है, अन्यथा एक लोकोक्ति में कहा गया है —

"सुत दारा, अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय।
सन्त समागम, प्रभु कथा, दुर्लभ जग में दोय॥"

पैसे वाले वड़े नहीं, बड़े हैं सद्गुणी, जिनकी इन्द्र भी सेवा करते हैं।

परिग्रह–मर्यादा का महत्त्व

परिग्रह-परिणाम पाँच अणुव्रतों में अन्तिम है और चार व्रतों का संरक्षण करना एवं बढ़ाना इसके आधीन है। परिग्रह को घटाने से हिंसा, असत्य, अस्तेय, कुशील, इन चारों पर रोक लगती है। अहिंसा आदि चार व्रत अपने आप पुष्ट होते रहते हैं। इस व्रत के परिणामस्वरूप जीवन में शान्ति और सन्तोष प्रकट होने से सुख की वृद्धि होती है, निश्चितता और निराकुलता आती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने से धर्म-क्रिया की ओर मनुष्य का चित्त अधिकाधिक आकर्षित होता है। इस व्रत के ये वैयक्तिक लाभ हैं, किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है। आज जो आर्थिक वैषम्य दृष्टिगोचर होता है, इस व्रत के पालन न करने का ही परिणाम है। आर्थिक वैषम्य इस युग की एक वहुत वड़ी समस्या है। पहले वड़े-वड़े भीमकाय यंत्रों का प्रचलन न होने कारण कुछ व्यक्ति आज की तरह अत्यधिक पूंजी एकत्र नहीं कर पाते थे; मगर आज यह वात नहीं रही। आज कुछ लोग यन्त्रों की सहायता से प्रचुर धन एकत्र कर लेते हैं, तो दूसरे लोग धनाभाव के कारण अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने से भी वंचित रहते हैं। उन्हें पेट भर रोटी, तन ढकने को वस्त्र और औषध जैसी चीजें भी उपलब्ध नहीं। इस स्थिति का सामना करने के लिए

अनेक वादों का जन्म हुआ है। समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदयवाद आदि इसी के फल हैं। प्राचीन काल में अपरिग्रहवाद के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जाता था। इस वाद की विशेषता यह है कि यह धार्मिक रूप में स्वीकृत है। अतएव मनुष्य इसे वलात् नहीं, स्वेच्छा पूर्वक स्वीकार करता है। साथ ही धर्मशास्त्र महारंभीं यंत्रों के उपयोग कर पावंदी लगा कर आर्थिक वैपम्य को उत्पन्न नहीं होने देने की भी व्यवस्था करता है। अतएव अगर अपरिग्रह व्रत का व्यापक रूप में प्रचार और अंगीकार हो, तो न अर्थ वैपम्य की समस्या विकराल रूप धारण करे और न वर्ग संघर्ष का अवसर उपस्थित हो। मगर आज की दुनिया धर्मशास्त्रों की वात सुनती कहाँ है। यही कारण है कि संसार अशान्ति और संघर्ष की क्रीड़ाभूमि वना हुआ है और जव तक धर्म का आशय नहीं लिया जायगा, तब तक इस विषम स्थिति का अन्त नहीं आएगा।

देशविरति धर्म के साधक (श्रावक) को अपनी की हुई मर्यादा से अधिक परिग्रह नहीं बढ़ाना चाहिए। उसे परिग्रह की मर्यादा भी ऐसी करनी चाहिए कि जिससे उसकी तृष्णा पर अंकुश लगे, लोभ में न्यूनता हो और दूसरे लोगों को कष्ट न पहुँचे।

सर्वविरत साधक (श्रमण) का जीवन तो और भी अधिक उच्चकोटि का होता है। वह आकर्षक शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श पर राग और अनिष्ट शब्द आदि पर द्वेष भी नहीं करेगा। इस प्रकार के आचरण से जीवन में निर्मलता वनी रहेगी। ऐसा साधनाशील व्यक्ति चाहे अकेला रहे या समूह में रहे, जंगल में रहे, या समाज में रहे, प्रत्येक स्थिति में अपना व्रत निर्मल बना सकेगा।

स्वाध्याय की भूमिका

परिग्रह वृत्ति को घटाने में स्वाध्याय की असरकारी भूमिका होती है। स्वाध्याय वस्तुतः अन्तर में अलौकिक प्रकाश प्रकट करने वाला है। स्वाध्याय आत्मा में ज्योति जगाने का एक माध्यम है, एक प्रशस्त साधन है, जिससे प्रसुप्त आत्मा जागृत होती है, उसे स्व तथा पर के भेद का ज्ञान होता है। स्वाध्याय से आत्मा में स्व-पर के भेद के ज्ञान के साथ वह स्थिति उत्पन्न होती है, निरन्तर वह भूमिका वनती है, जिसमें आत्मा स्व तथा पर के भेद को को समझने में प्रतिक्षण जागरूक रहती है। संक्षेप में कहा जाय तो स्वाध्याय के द्वारा स्व-पर के भेद का ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रवुद्ध आत्मा को स्व तथा पर के भेद का ज्ञान प्राप्त हो गया, उसकी पौद्गलिक माया से ममता स्वतः ही कम हो जायगी।

ममता घटने पर दान की प्रवृत्ति

स्व-पर के भेद का बोध हो जाने की स्थिति में ही अपने शरीर पर साधक की ममता कम होगी । शरीर एवं भोज्योपभोज्यादि पर ममता कम होने पर वह तप करने को उद्यत होगा । भौतिक सामग्री पर ममता घटेगी, तभी व्यक्ति के अन्तर्मन में दान देने की प्रवृत्ति बलवती होगी । ममता घटेगी, तभी सेवा की वृत्ति उत्पन्न होगी, क्योंकि ये सारी चीजें ममता से सम्बन्धित हैं । आलोचना का व्यक्ति के स्वयं के जीवन-निर्माण से सम्बन्ध है । आलोचना वस्तुत: व्यक्ति के स्वयं के जीवन निर्माण का प्रमुख साधन है, जबकि दान स्व और पर दोनों के जीवन निर्माण का साधन है । दान का सम्बन्ध दूसरे लोगों के साथ स्वधर्मी बन्धुओं के साथ आता है और इसमें स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण का दृष्टिकोण अधिक होता है । इसका मतलब यह नहीं है कि दान देते समय दानदाता द्वारा स्व-कल्याण को पूर्णत: ठुकरा दिया जाता है । क्योंकि पर-कल्याण के साथ स्व-कल्याण का अविनाभाव सम्बन्ध है । पर-कल्याण की भावना जितनी उत्कृष्ट होगी, उतना ही अधिक स्व-कल्याण स्वत: ही हो जायगा । जो स्व-कल्याण से विपरीत होगा, वह कार्य व्यवहारिक एवं धार्मिक, किसी पक्ष में स्थान पाने लायक नहीं है ।

तो दान की यह विशेषता है कि वह स्व और पर दोनों का कल्याण करता है । दान देने की प्रवृत्ति तभी जागृत होगी, जब कि मानव के मन में अपने स्वत्व की, अपने अधिकार की वस्तु पर से ममता हटेगी । ममत्व हटने पर जब उसके अन्तर में सामने वाले के प्रति प्रमोद बढ़ेगा, प्रीति बढ़ेगी और उसे विश्वास होगा कि इस कार्य में मेरी सम्पदा का उपयोग करना लाभकारी है, कल्याणकारी है, तभी वह अपनी सम्पदा का दान करेगा ।

किसान अपने घर में संचित अच्छे बीज के दानों को खेत की मिट्टी में क्यों फेंक देता हैं ? इसीलिये कि उसे यह विश्वास हैं कि यह बढ़ने-बढ़ाने का रास्ता है । अपने कण को बढ़ाने का यही माध्यम है कि उसे खेत में डाले । जब तक बीज को खेत में नहीं डालेगा, तब तक वह बढ़ेगा नहीं । पेट में डाला हुआ कण तो खत्म हो जायगा, जठराग्नि से जल जायगा, किन्तु खेत में, भूमि में डाला हुआ बीज फलेगा, बढ़ेगा । ठीक यही स्थिति दान की भी हैं । थोड़ा सा अन्तर अवश्य है ।

बीज को खेत में डालने की अवस्था में किसान की बीज पर से ममता छूटी नहीं है । बीज को खेत में फैंकने में अधिक लाभ मानता है, इसलिये फैंकता है । पर हमारे धर्म पक्ष में दान की इस तरह की स्थिति नहीं है । दान की प्रवृत्ति में जो अपने द्रव्य का दान करता है, वह केवल इस भावना से ही दान

नहीं करता कि उससे उसको अधिक लाभ होगा, बल्कि उसके साथ यह भावना भी है कि—यह परिग्रह दुःखदायी है, इससे जितना अधिक स्नेह रखूंगा, मोह रखूंगा, यह उतना ही अधिक क्लेशवर्द्धक तथा आर्त्त एवं रौद्र-ध्यान का कारण बनेगा।

'स्थानांग' सूत्र में श्रावक के जो तीन मनोरथ बताये गये हैं, उनमें पहले मनोरथ में परिग्रह-त्याग को महती निर्जरा का महान् कारण बताते हुए उल्लेख किया गया है—

"तिहिं ठाणेहिं समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ तं जहाकया णं अहं अप्पं वा बहुअं वा परिग्गहं परिचइस्सामि,.......एवं समणसा सवयसा सकायसा जागरमाणे समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।"

अर्थात्—तीन प्रकार के मनोरथों की मन, वचन और क्रिया से भावना भाता हुआ श्रावक पूर्वोपार्जित कर्मों को बहुत बड़ी मात्रा में नष्ट और भवाटबी के बहुत बड़े पथ को पार कर लेता हैं। परिग्रह घटाने सम्बन्धी मनोरथ इस प्रकार हैं—अरे! वह दिन कब होगा, जब मैं अल्प अथवा अधिकाधिक परिग्रह का परित्याग कर सकूंगा।

'स्थानांग' सूत्र में जिस प्रकार श्रावक के तीन मनोरथों का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार साधु के तीन मनोरथों का भी उल्लेख है। गृहस्थ का जीवन व्रत-प्रधान नहीं, शील-प्रधान और दान-प्रधान है। साधु का जीवन संयम-प्रधान एवं तप-प्रधान हैं। गृहस्थ के जीवन की शील और दान—ये विशेषताएँ हैं। गृहस्थ यदि शीलवान् नहीं है तो उसके जीवन की शोभा नहीं। जिस प्रकार शीलवान् होना गृहस्थ जीवन का एक आवश्यक अंग है, उसी तरह अपनी संचित सम्पदा में से उचित क्षेत्र में दान देना, अपनी सम्पदा का विनिमय करना और परिग्रह का सत्पात्र में व्यय करना, यह भी गृहस्थ-जीवन का एक प्रमुख भूषण और कतव्य हैं।

धर्मस्थान में अपरिग्रही बनकर आना चाहिए

धर्मस्थान में आने वाले भाई-बहिनों से यह कहना है कि सबसे पहले ध्यान यह रखा जाय कि अपरिग्रहियों के पास जाते हैं तो वे ज्यादा से ज्यादा अपरिग्रहियों का रूप धारण करके जायें। हम लोग क्या हैं? अपरिग्रही। हमारे पास सोने का कन्दोरा है क्या? नहीं, बढ़िया सूट है क्या? नहीं। हमारे पास पैसा होने की शंका है क्या? नहीं, हमारे पास सिंहासन भी रजत

का, सोने का, हीरा-मोती जटित है क्या ? नहीं। जैन साधु अपने पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं रख सकता, यहाँ तक कि चश्मे की डण्डी में किसी धातु की कील भी हो तो हमारे काम नहीं आयेगा। जब तक दूसरा नहीं मिले, तब तक भले ही रखें।

आपके सन्त इतने अपरिग्रही और आप धर्मस्थान में आवें तो सोचें कि बढ़िया सूट पहन कर चलें। बाई सोचती है कि सोने के गोखरू हाथों में पहन लें, सोने की लड़ गले में डाल लें, सोने की जंजीर कमर में बाँध लें, यहाँ तक कि माला के मनके भी लकड़ी चन्दन के क्यों हों, चांदी के दानों की माला बनवा लें।

इस प्रकार आप धर्मक्रिया में परिग्रह रूप धारण करेंगे, जरा-जरा सी लेने-देने की सामग्री में परिग्रह से मूल्यांकन होगा, तो चिन्ता पैदा होगी या नहीं ? चोरी होगी तो आप कितनों को लपेटे में लेंगे ? वेतन पर काम करने वाले कार्यकर्ता भी लपेटे में आयेंगे, कमेटी के व्यवस्थापक भी लपेटे में आयेंगे।

दूसरे लोग कहें न कहें लेकिन हम अपरिग्रही हैं, इसलिए कहता हूँ कि अपरिग्रह के स्थान पर तो ज्यादा से ज्यादा अपरिग्रह रखने की ही भावना आनी चाहिए।

अपरिग्रह : मानव-जीवन का भूषण

परिग्रह की ममता कब कम होगी ? जबकि स्व का अध्ययन करोगे। अपने आप को समझ लोगे तो जान लोगे कि सोने से आदमी की कीमत नहीं है, सोने के आभूषणों से कीमत नहीं, लेकिन आत्मा की कीमत है सदाचार से, प्रामाणिकता से, सद्‌गुणों से। सत्य और क्रियावादी होना भूषण है। दान चाहे देने के लिए पास में कुछ भी नहीं हो, जो भी आवे उसका योग्यता के कारण सम्मान करना चाहिए। तिरस्कार करके नही निकालना, यह हाथ का भूषण है। गुणवान को नमस्कार करना यह सिर का भूषण है। परिग्रह को घटाकर सत्संग में जाना, कहीं किसी की सहायता के लिए जाना यह पैरों का भूषण है। सत्संग में ज्ञान की प्राप्ति होगी।

मनुष्य का शरीर यदि सोने से लदा हुआ है, लेकिन वह सद्‌गुणी नहीं है, तो निन्दनीय है।

□ □ □

[११]

कर्मों की धूप-छाँह

दुःख का कारण कर्म-बंध :

बन्धुओ ! वीतराग जिनेश्वर ने, अपने स्वरूप को प्राप्त करके जो आनन्द की अनुभूति की, उससे उन्होंने अनुभव किया कि यदि संसार के अन्यान्य प्राणी भी, कर्मों के पाश से मुक्त होकर, हमारी तरह स्वाधीन स्वरूप में स्थित हो जायें, तो वे भी दुःख के पाश से बच जायेंगे यानी दुःख से उनका कभी पाला नहीं पड़ेगा । दुःख, अशान्ति, असमाधि या क्लेश का अनुभव तभी किया जाता, है, जबकि प्राणी के साथ कर्मों का बन्ध है ।

दुःख का मूल कर्म और कर्म का मूल राग-द्वेष है । संसार में जितने भी दुःख हैं, वेदनायें हैं, वे सब कर्ममूलक ही हैं । कोई भी व्यक्ति अपने कृत कर्मों का फल भोगे बिना नहीं रह पाता । कर्म जैसा भी होगा, फल भी उसी के अनुरूप होंगे । प्रश्न होता है कि यदि दुःख का मूल कर्म है तो कर्म का मूल क्या है ? दुःखमूलक कर्म क्या स्वयं सहज रूप में उत्पन्न होता है या उसका भी कोई कारण है ? सिद्धान्त तो यह है कि कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता । फिर भी उसके लिए कोई कर्ता भी चाहिये । कर्तापूर्वक ही क्रिया और क्रिया का फल कर्म होता है ।

कर्म और उसके कारण :

परम ज्ञानी जिनेश्वर देव ने कहा कि कर्म करना जीव का स्वभाव नहीं है । स्वभाव होता तो हर जीव कर्म का बंध करता और सिद्धों के साथ कर्म लगे होते । परन्तु ऐसा नहीं होता है । अयोगी केवली और सिद्धों को कर्म का बंध नहीं होता । इससे प्रमाणित होता है कि कर्म सहेतुक है, अहेतुक नहीं । कर्म का लक्षण बताते हुए आचार्य ने कहा—"कीरइ जिएण होउहिं ।" जो जीव के द्वारा किया जाय, उसे कर्म कहते हैं । व्याकरण वाले क्रिया के फल को कर्म कहते हैं । खाकर आने पर उससे प्राप्त फल-भोजन को ही कर्म कहा जाता है । खाने की क्रिया से ही भोजन मिला, इसलिए भोजन कर्म कहाता है । सत्संग में आकर सत्संग के संयोग से कुछ ज्ञान हासिल करे, धर्म की बात सुने तो यहाँ श्रवण सुनने को भी कर्म कहा—जैसे "श्रवण: कर्म" । पर यहाँ इस प्रकार के कर्मों से मतलब नहीं है । यहाँ आत्मा के साथ लगे हुए कर्म से प्रयोजन है । कहा है—"जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णइ कम्मं" यानी संसार की क्रिया का कर्म तो

स्वतः होता है। परन्तु यह विशिष्ट कर्म स्वतः नहीं होता। यहाँ तो जीव के द्वारा हेतुओं से जो किया जाय, उस पुद्गल वर्गणा के संग्रह का नाम कर्म है।

कर्म के भेद और व्यापकता :

कर्म के मुख्यतः दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। कार्मण वर्गणा का आना और कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्धित होना, द्रव्य कर्म है। द्रव्य कर्म के ग्रहण करने की जो राग-द्वेषादि की परिणति है, वह भाव कर्म है।

आपने ज्ञानियों से द्रव्य कर्म की बात सुनी होगी। द्रव्य कर्म कार्य और भाव कर्म कारण है। यदि आत्मा की परिणति, राग द्वेषादिमय नहीं होगी, तो द्रव्य कर्म का संग्रह नहीं होगा। आप और हम बैठे हुए भी निरन्तर प्रतिक्षण कर्मों का संग्रह कर रहे हैं। परन्तु इस जगह, इसी समय, हमारे और आपके बदले कोई वीतराग पुरुष बैठें तो वे सांपरायिक कर्म एकत्रित नहीं करेंगे। क्योंकि उनके कषाय नहीं होने से, ईर्यापथिक कर्मों का संग्रह है। सिद्धों लिए भी ऐसी ही स्थिति है।

लोक का कोई भी कोना खाली नहीं है, जहां कर्मवर्गणा के पुद्गल नहीं घूम रहे हों। और ऐसी कोई जगह नहीं, जहां शब्द लहरी नहीं घूम रही हो। इस हाल के भीतर कोई बच्चा रेडियो (ट्रांजिस्टर) लाकर बजाये अथवा उसे आलमारी के भीतर रखकर ही बजाये तो भी शब्द लहरी से भी अधिक बारीक, सूक्ष्म कर्म लहरी है। यह आपके और हमारे शरीर के चारों ओर घूम रही है। और सिद्धों के चारों तरफ भी घूम रही है। परन्तु सिद्धों के कर्म चिपकते नहीं और हमारे आपके चिपक जाते हैं। इसका अन्तर यही है कि सिद्धों में वह कारण नहीं है, राग-द्वेषादि की परिणति नहीं है।

कर्म का मूल—राग और द्वेष :

ऊपर कहा जा चुका है कि हेतु से प्रेरित होकर जीव के द्वारा जो किया जाय, वह कर्म है। और कर्म ही दुःखों का का कारण है—मूल है। कर्म का मूल बताते हुए कहा कि—"रागो य दोसो, बीय कम्म बीयं।" यानी राग और द्वेष दोनों कर्म के बीज हैं। जब दुःखों का मूल कर्म है, तो आपको, दुःख निवारण के लिए क्या मिटाना है? क्या काटनी है? दुःख की बेड़ी। यह कब हटेगी? जब कर्मों की बेड़ी हटेगी—दूर होगी। और कर्मों की बेड़ी कब कटेगी? जब राग-द्वेप दूर होंगे।

बहुधा एकान्त और शान्त स्थान में अनचाहे भी सहसा राग-द्वेप आ घेरते हैं। एक कर्म भोगते हुए, फल भोग के बाद आत्मा हल्की होनी चाहिये, परन्तु साधारणतया इसके विपरीत होता है। भोगते समय राग-द्वेप उभर आते

या चिन्ता-शोक घेर लेते तो नया बंध बढ़ता जाता है। इससे कर्म परम्परा चालू रहती है। उसका कभी अवसान-अन्त नहीं हो पाता। अतः ज्ञानी कहते हैं कि कर्म भोगने का भी तुमको ढंग-तरीका सीखना चाहिये। फल भोग की भी कला होती है और कला के द्वारा ही उसमें निखार आता है। यदि कर्म भोगने की कला सीख जाओगे तो तुम नये कर्मों का बन्ध नहीं कर पाओगे। इस प्रकार फल भोग में तुम्हारी आत्मा हल्की होगी।

कर्म फल भोग आवश्यक :

शास्त्रकारों का एक अनुभूत सिद्धान्त है कि—"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।" तथा "अश्वयमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्" यानी राजा हो या रंक, अमीर हो या गरीब, महात्मा हो या दुरात्मा, शुभाशुभ कर्म फल सब जीव को भोगना ही पड़ेगा। कभी कोई भूले-भटके सन्त प्रकृति का आदमी किसी गृहस्थ के घर ठंडाई कहकर दी गई थोड़ी मात्रा में भी ठंडाई के भरोसे भंग पी जाय तो पता चलने पर पछतावा होता है मगर वह भंग अपना असर दिखाए बिना नहीं रहेगी। बारम्बार पश्चात्ताप करने पर भी उस साधु प्रकृति को भी नशा आये बिना नहीं रहेगा। नशा यह नहीं समझेगा कि पीने वाला सन्त है और इसने अनजाने में इसे पी लिया है अतः इसे भ्रमित नहीं करना चाहिये। नहीं, हर्गिज नहीं। कारण, बुद्धि को भ्रमित करना उसका स्वभाव है। अतः वह नशा अपना रंग लाये बिना नहीं रहेगा। बस, यही हाल कर्मों का है।

भगवान् महावीर कहते हैं कि—"हे मानव? सामान्य साधु की बात क्या? हमारे जैसे सिद्धगति की ओर बढ़ने वाले जीव भी कर्म फल के भोग से बच नहीं सकते। मेरी आत्मा भी कर्म के वशीभूत होकर भव-भव में गोते खाती हुई कर्म फल भोगती रही है। मैंने भी अनन्तकाल तक भवप्रपंच में प्रमाद-वश कर्मों का बंध किया, जो आज तक भोगना पड़ रहा है। कर्म भोगते हुए थोड़ा सा प्रमाद कर गये, तो दूसरे कर्म आकर बंध गए, चिपक गए।"

मतलब यह है कि कर्मों का सम्बन्ध बहुत जबर्दस्त है। इस बात को अच्छी तरह समझ लिया जाये कि हमारे दैनिक व्यवहार में, नित्य की क्रिया में कोई भूल तो नहीं हो रही है? नये कर्म बांधने में कितना सावधान हूँ? कर्म भोगते समय कोई नये कर्म तो नहीं बंध रहे हैं! इस तरह विचारपूर्वक काम करने वाला कर्मबंध से बच सकता है।

कर्मों की धूप-छांह :

परन्तु संसार का नियम है कि सुख के साथ दुःख आता है और साता के साथ असाता का भी चक्र चलता रहता है। यह कभी नहीं हो सकता कि शुभाशुभ कर्म प्रकृतियों में मात्र एक ही प्रकृति उदय में रहे और दूसरी उसके

साथ नहीं आये। ज्ञानियों ने प्रतिक्षण शुभाशुभ कर्मों का बंध और उदय चलता रहना बतलाया है। दृष्टान्त रूप से देखिये, अभी उस जाली के पास जहां आप धूप देख रहे हैं, घंटेभर के बाद वहां छाया आ जावेगी और अभी जहां दरवाजे के पास आपको छाया दिख रही है, कुछ देर के बाद वहाँ धूप आ जायेगी। इसका मतलब यह है कि धूप और छाया बराबर एक के पीछे एक आते रहते हैं। धूप-छांह परिवर्तन का द्योतक है। एक आम प्रचलित शब्द है, जिसका मतलब प्रायः प्रत्येक समझ जाता है कि यहां कोई भी वस्तु एक रूप चिरकाल तक नहीं रह सकती।

जब मकान में धूप की जगह छाया और छाया की जगह धूप आ गई तो आपके तन, मन में साता की जगह असाता और असाता की जगह साता आ जाये, तो इसमें नई बात क्या है ? संयोग की जगह वियोग से आपका पाला पड़ा, तो कौनसी बड़ी बात हो जावेगी ? ज्ञानी कहते हैं कि इस संसार में आए तो समभाव से रहना सीखो। संयोग में जरूरत से अधिक फूलो मत और वियोग के आने पर आकुल-व्याकुल नही बनो, घबराओ नहीं। यह तो सृष्टि का नियम है—कायदा है। हर वस्तु समय पर अस्तित्व में आती और सत्ता के अभाव में अदृश्य हो जाती है। इस बात को ध्यान में रखकर सोचो कि जहां छाया है वहां कभी धूप भी आयेगी और जहां अभी धूप है, वहां छाया भी समय पर आये विना नहीं रहेगी।

अभी दिन है—सर्वत्र उजाला है। छः बजे के बाद सूर्योदय हुआ। परन्तु उसके पहले क्या था। सर्वत्र अंधेरा ही तो था। किसी को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। यह परिवर्तन कैसे हो गया ? अन्धकार की जगह प्रकाश कहां से आ गया ? तो जीवन में भी यही क्रम चलता रहता है। जिन्दगी एक धूप-छाँह ही तो है।

हर हालत में खुश और शान्त रहो :

संसार के शुभ-अशुभ के क्रम को, व्यवस्था, ज्ञानीजन सदा समभाव या उदासीन भाव से देखते रहते हैं। उन्हें जगत् की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ चंचल अथवा आन्दोलित नहीं कर पातीं। वे न तो अनुकूल परिस्थिति के आने पर हर्षोन्मत्त और न प्रतिकूलता में व्यथित एवं विपण्ण बनते हैं। सूरज की तरह उनका उदय और अस्त का रंग एक जैसा और एक भावों वाला होता है। वे परिस्थिति की मार को सहन कर लेते हैं, पर परिस्थिति के वश रंग बदलना नहीं जानते। जीवन का यही क्रम उनको सबसे ऊपर बनाये रखता है। अपनी मानसिक समता बनाये रखने के कारण ही वे आत्मा को भारी बनाने से बच पाते हैं। और जिनमें ऐसी क्षमता नहीं होती और जो इस तरह का व्यवहार नहीं बना पाते, वे अकारण ही अपनी आत्मा को भारी, बोझिल बना लेते हैं।

□ □ □

[१२]

जो क्रियावान् है, वही विद्वान् है

यह धर्म सभा है। इस सभा में दिये गये प्रवचन जहाँ व्यक्ति को आध्यात्मिक उन्नति में आगे बढ़ाने की प्रेरणा देते हैं, वहाँ उनमें समाज लौकिक उन्नति में नीति न्याय पूर्वक आगे बढ़े, इसका भी विवेचन होता है। गृहस्थ का सम्बन्ध धर्म से भी है, अर्थ से भी है और समाज से भी। इन सबसे सम्बन्ध होते हुए भी सद्गृहस्थ अर्थ को प्रधानता नहीं देता। वह समाज को उन्नति की ओर बढ़ाने का लक्ष्य रखता है और उसकी दृष्टि धर्म-केन्द्रित रहती है।

यहाँ इस धर्म सभा में जो भाई-बहिन उपस्थित हैं, मैं समझता हूँ वे सद्गृहस्थ की श्रेणी में आते हैं और धर्म के प्रति उनकी रुचि है। श्रावक के लिए शास्त्रों में कई विशेषणों का प्रयोग हुआ है। उनमें एक विशेषण 'धम्मिया' भी है। यों तो साधु और श्रावक दोनों का लक्ष्य एक अर्थात् वीतराग दशा प्राप्त करना है। इस दृष्टि से साधु और श्रावक के जानने और मानने में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है केवल चलने में, आचरण में। साधु पूर्ण त्यागी होता है और श्रावक अंशत: त्यागी। श्रावक को अपने गृहस्थ जीवन का दायित्व निभाना पड़ता है। सामान्य गृहस्थ की दृष्टि अर्थ प्रधान होती है पर जिसकी दृष्टि सम्यक् अर्थात् धर्म प्रधान बन जाती है, वह श्रावक धर्म निभाने का अधिकारी बन जाता है। गृहस्थ जीवन में रहते हुए धर्म का आचरण करना साधारण बात नहीं है, काजल की कोठरी में चलने के समान है। उसमें चलते हुए हिंसा, झूठ, चोरी आदि से बचने और किसी प्रकार का कोई काला धब्बा न लगे, इसमें बड़ी कुशलता और सावधानी की आवश्यकता है। यह कुशलता ज्ञान और आचरण से आती है।

श्रावक वह होता है, जो धर्मशास्त्र के वचनों को श्रद्धापूर्वक सुनकर विवेकपूर्वक उन पर आचरण करता है। मनुष्य परिवार और समाज में रहता है। उसके समक्ष कई समस्याएँ आती हैं। जो त्यागी होता है, वह उनके प्रति निर्लेप भाव रखने से उनमें उलझता नहीं। पर जो रागी होता है, यदि उसमें ज्ञान और विवेक नहीं है, तो वह उनमें उलझता चलता है। जिसने श्रावक धर्म के रास्ते पर चलना आरम्भ कर दिया है, वह आसानी से समस्याओं का समाधान पा लेता है।

आज समाज में जो स्थिति है, उसमें धन की प्रमुखता है। पर ऐसा नहीं है कि समाज में विद्वान् नहीं हैं या समाज में विद्वत्ता के प्रति स्नेह और सम्मान का भाव नहीं है। समाज में विद्वानों के होते हुए भी धनिकों और श्रमिकों की भाँति उनका अपना कोई एक मंच नहीं था। अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् की स्थापना से श्वेताम्बर जैन समाज की यह कमी पूरी हुई है। विद्वानों का यह कर्तव्य है कि वे अपनी बुद्धि का प्रयोग स्व-पर के कल्याण व आध्यात्मिक दिशा में करें तथा लोग यह समझें कि विद्वान् समाज के लिए उपयोगी हैं। समाज के साथ जैसे धनिकों का दायित्व है, वैसे ही विद्वानों का दायित्व है। धनिकों का यह कर्तव्य है कि वे विद्वानों को अपने ज्ञान और बुद्धि के सम्यक् उपयोग के लिए आवश्यक समुचित साधन उपलब्ध करायें और उनके सम्मान व स्वाभिमान की रक्षा करें।

अच्छा और सच्चा विद्वान् वह है, जो समाज से जितना लेता है उससे ज्यादा देता है। धनपति बनना जहाँ बंध का कारण है, वहाँ विद्यापति बनना बंध को काटने का कारण है। पर विद्या तभी फलीभूत होती है, जब वह आचरण में उतरे। इसीलिए कहा है 'यस्तु क्रियावान् तस्य पुरुष सः विद्वान्' अर्थात् जो क्रियावान है, वही पुरुष विद्वान् है। विद्वत्ता के लिए अच्छा बोलना, लिखना, पढ़ना, सम्पादन करना आदि पर्याप्त नहीं है। श्रद्धालु-अश्रद्धालु, सबमें ऐसी विद्वत्ता आ सकती है, पर विद्या वह है जो भव-बंधनों से मुक्त होने की कला सिखाये।

आज समाज में साक्षर विद्वान् तो बहुत मिल जायेंगे। सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर साक्षर शिक्षित बनाने के लिए हजारों की संख्या में स्कूल, कॉलेज आदि हैं, पर साक्षरता के साथ यदि सदाचरण नहीं है तो वह साक्षरता बजाय लाभ पहुँचाने के हानिकारक भी हो सकती है। संस्कृत के एक कवि ने ठीक ही कहा है—

"सरसो विपरीतश्चेत्, सरसत्वं न मुञ्चति ।
साक्षरा विपरीतश्चेत्, राक्षसा एव निश्चिताः ।।"

अर्थात् जिसने सही अर्थ में विद्या का साक्षात्कार किया है, वह विपरीत स्थितियों में भी अपनी सरसता को व समभाव को नहीं छोड़ता। सच्चा सरस्वती का उपासक विपरीत परिस्थितियों में भी 'सरस' ही बना रहता है। 'सरस' को उल्टा-सीधा किधर से भी पढ़ो 'सरस' ही पढ़ा जायेगा। पर जो ज्ञान को आचरण में नहीं ढालता और केवल साक्षर ही है, वह विपरीत परिस्थितियों में अपनी समता खो देता है। वह 'साक्षरा' से उलटकर 'राक्षसा' बन जाता है।

आज अधिकांशतः समाज में यही हो रहा है। बेपढ़े-लिखे लोग स्वार्थपूर्ति के लिए ऐसा भ्रष्ट आचरण नहीं करते, जो तथाकथित पढ़े-लिखे लोग करते पाये जाते हैं। विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में जिस ज्ञान का विकास हुआ, उसका उपयोग मानव-कल्याण और विश्व-शान्ति के बजाय मानवता के विनाश और भय, असुरक्षा अशान्ति की परिस्थितियाँ पैदा करने में ज्यादा हो रहा है।

आज जैन विद्वानों को आत्मनिरीक्षण करने की जरूरत है। वे यह सोचें कि उनके अपने ज्ञान का उपयोग स्व-पर कल्याण में, धार्मिक रुचि बढ़ाने में, समाज संगठन को मजबूत बनाने में कितना और कैसा हो रहा है? जैन दर्शन का मुख्य सिद्धान्त अहिंसा और समता है। सामायिक और स्वाध्याय के अभ्यास द्वारा ज्ञान को प्रेम और मैत्री में ढाला जा सकता है। आचार्य अमित गति ने चार भावनाओं का उल्लेख करते हुए कहा है—

"सत्वेषु मैत्रीं, गुणीषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विद्धातु देव ।।"

अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति मैत्री हो, गुणीजनों के प्रति प्रमोद हो, दुःखियों के प्रति करुणा हो और द्वेषभाव रखने वालों के साथ माध्यस्थ भाव—समभाव हो।

यह भावना-सूत्र व्यक्ति और समाज के लिए ही नहीं प्रत्येक राष्ट्र के लिए मार्गदर्शक सूत्र है। इस सूत्र के द्वारा विश्व-शन्ति और विश्व-एकता स्थापित की जा सकती है। संसार में जितने भी प्राणी हैं उनके प्रति मित्रता की भावना सभी धर्मों का सार है। जैन धर्म में तो सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी की रक्षा करने पर भी बल दिया गया है, फिर मानवों की सहायता और रक्षा करना तो प्रत्येक सद्-गृहस्थ का कर्तव्य है। आज समाज में आर्थिक विषमता बड़े पैमाने पर है। समाज के कई भाई-बहिनों को तो जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी नसीब नहीं है। समाज के सम्पन्न लोगों का दायित्व है कि वे अपना कर्तव्य समझकर उनके सर्वांगीण उत्थान में सहयोगी बनें।

समाज में धन की नहीं, गुण की प्रतिष्ठा होनी चाहिये। यह तभी सम्भव है जब हम गुणीजनों को देखकर उनके प्रति प्रमोद भाव व्यक्त करें। जिस भाई-बहिन में जो क्षमता और प्रतिभा है, उसे बढ़ाने में मदद दें। पड़ौसी को आगे बढ़ते देख यदि प्रमोद भाव जागृत न होकर ईर्ष्या और द्वेष भाव जाग्रत होता है, तो निश्चय ही हम पतन की ओर जाते हैं।

जो दुःखी और पीड़ित हैं, उनके प्रति अनुग्रह और करुणा का भाव जागृत

होना चाहिये। हमारी समाज व्यवस्था में कहीं न कहीं ऐसी कमी है जिसके कारण तरह-तरह की बाहरी विषमताएँ हैं। समाज एक शरीर की तरह है और व्यक्ति शरीर के विभिन्न अंगों के रूप में। शरीर के विभिन्न अंग आँख, नाक, कान, उदर आदि अलग-अलग स्थानों पर स्थित होकर भी अलगाव नहीं रखते, उनमें सामंजस्य है। पेट यद्यपि जो कुछ हम खाते हैं उसे पचाता है, रस रूप बनाता है, पर वह उसे अपने तक सीमित नहीं रखता। रक्त रूप में वह शरीर के सभी अंगों को शक्ति और ताजगी देता है। समाज में श्रीमंत शरीर में पेट की जगह हैं। वे अपनी सम्पत्ति जमा करके नहीं रखें, सभी के लिए उसका सदुपयोग करें। शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, वहीं स्थान समाज में विद्वानों का है। मस्तिष्क जैसे शरीर के सभी अंगों की चिन्ता करता है, उनकी सारसभाल करता है, वैसे ही विद्वानों को समाज के सभी अंगों की चिन्ता करनी चाहिये। समाज में दया, करुणा और सेवा की भावना जितनी-जितनी बढ़ेगी उतना-उतना मानवता का विकास होगा।

सुखी और शांत बने रहने के लिए आवश्यक है विपरीत स्थितियों में भी द्वेष रखने वाले लोगों के प्रति भी समभाव रखना, माध्यस्थ भाव बनाये रखना। समाज में कई तरह की वृत्तियों वाले लोग हैं—व्यसनी भी हैं, हिंसक भी हैं, भ्रष्ट आचरण वाले भी हैं। पर उनसे घृणा न करके उनको व्यसनों और पापों से दूर हटाने के प्रयत्न करना विद्वानों का कर्तव्य है। घृणा पापियों से न होकर पाप से होनी चाहिये। हम सबका यह प्रयत्न होना चाहिये कि जो कुमार्ग पर चलने वाले हैं, उनमें ऐसी बुद्धि जगे कि वे सुमार्ग पर चलने लगें। वह दिन शुभ होगा जब व्यक्ति, समाज और विश्व में इस प्रकार की सद्भावनाओं का व्यापक प्रचार-प्रसार होगा।

• • •

परम श्रद्धेय आचार्य श्री हीराचन्द्र जी म. सा. एवं उपाध्याय श्री मानचन्द्र जी म. सा. के आज्ञानुवर्ती संत-सतीगणों के स्वीकृत चातुर्मास

१. **बालोतरा**—आचार्य श्री हीराचन्द्र जी म. सा. आदि ठाणा ।

२. **भीलवाड़ा**—उपाध्याय श्री मानचन्द्र जी म. सा. आदि ठाणा ।

३. **गोटन**—रोचक व्याख्याता श्री ज्ञानमुनि जी म. सा. आदि ठाणा ।

४. **जोधपुर**—प्रवर्तिनी महासती श्री बदनकंवर जी म. सा. आदि ठाणा ।

५. **धुन्धाड़ा**—सरल हृदया महासती श्री सायरकंवर जी म. सा. आदि ठाणा ।

६. **हिण्डौन**—शासन प्रभाविका महासती श्री मैनासुन्दरी जी म. सा, आदि ठाणा ।

७. **बड़ू**—सेवाभावी महासती श्री संतोषकंवर जी म. सा. आदि ठाणा ।

८. **किशनगढ़**—महासती श्री शांतिकंवर जी म. सा. आदि ठाणा ।

९. **खोह**—व्याख्यात्री महासती श्री तेजकंवर जी म. सा. आदि ठाणा ।

१०. **खण्डप**—विदुषी महासती श्री सुशीलाकंवर जी म. सा. आदि ठाणा ।

'श्री जैन रत्न पुस्तक कोष' का शुभारम्भ

परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तीमल जी म. सा. के सदुपदेश से प्रेरित होकर युवक बन्धुओं में निर्व्यसनता, भ्रातृत्व एवं संघसेवा की भावना विकसित करने हेतु अ. भा. श्री जैन रत्न युवक संघ की स्थापना की गई थी । नवम्बर-९१ में जोधपुर में सम्पन्न संघ के प्रथम अधिवेशन में लिये गये निर्णय के अनुसार **'श्री जैन रत्न पुस्तक कोष'** की स्थापना कर नये सत्र से पुस्तकें उपलब्ध कराने हेतु निम्न व्यवस्था की गई है :—

१. छात्रगण सभी तरह के पाठ्यक्रमों हेतु पाठ्यपुस्तकें, अंकित मूल्य के ८५% के बराबर प्रतिभूति राशि जमा कराकर प्राप्त कर सकेंगे ।

२. परीक्षा पास करने के पश्चात् छात्र ये पुस्तकें लौटा सकेगा, उस समय पुस्तकों के अंकित मूल्य के ८०% के बराबर राशि आगे अध्ययन हेतु चाही गई पुस्तकों हेतु समायोजित की जा सकेगी अथवा पुनः लौटाई जा सकेगी ।

३. जरूरतमन्द होनहार छात्रों के लिये प्रतिभूति राशि की व्यवस्था अ. भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ—स्वधर्मी वात्सल्य कोष से की जा सकेगी ।

४. यह योजना सभी जैन भाई, बहिनों के लिये है ।

नियमावली व आवेदन-प्रपत्र के लिए निम्न पते पर सम्पर्क करें :—

श्री राजेन्द्र चौपड़ा, (टेलीफोन—नि. २२९५६) संयोजक—श्री जैन रत्न पुस्तक कोष, अ. भा. श्री जैन रत्न युवक संघ, घोड़ों का चौक, जोधपुर ।

निवेदक :

अमिताभ हीरावत	आनन्द चौपड़ा	गोपालराज अबानी
अध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	सचिव

यह शरीर नौका रूप है, जीवात्मा उसका नाविक है और संसार समुद्र है। महर्षि इस देह रूपी नौका के द्वारा संसार-सागर को तैर जाते हैं। उत्तराध्ययन २३/७३